मज़ाक करते हैं। वह खिसिया कर कहता है—मैं गन्दा हूँ? अच्छा गन्दा ही सही। और वह अपने हाथ में कीचड़ लेता है और दूसरे बच्चों पर उछालने के लिए उनके पीछे दौड़ता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं और वह उन पर कीचड़ नहीं उछाल पाता या उछाल भी देता है तो दूसरों पर कीचड़ उछली या न उछली, मगर उसका हाथ तो कीचड़ से भर ही गया! अगर कीचड़ उछालने वाला तेज दौड़ता है और दूसरों पर उछाल देता है तब भी उसका हाथ तो कीचड़ से भरेगा ही। अगर दूसरे बालक तेज हैं और वह कीचड़ उन पर नहीं उछाल पाता तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस प्रकार दूसरों पर कीचड़ चाहे उछले चाहे न उछले, पर उछालने वाला हर हालत में गन्दा हो ही जाता है।

शास्त्रकार यही बात बालजीवों के विषय में कहते हैं। अविवेकी जीव बच्चों के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन में दूसरों के प्रति बुरे भाव, बुरे संकल्प पैदा करता है और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्तःकरण को मलीन बना लेता है और आत्मा के गुणों की हत्या कर लेता है। क्रोध आया तो क्षमा की हत्या हो गई, अभिमान आया तो नम्रता का नाश हो गया, माया आई तो सरलता का संहार हो गया और लोभ आया तो सन्तोष का गला घुट गया। असत्य का संकल्प आया तो सत्य की जो महक आ रही थी वह समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी

बुराई आत्मा में पनपती है वह अपने विरोधी सद्गुण को कुचल देती है।

रात को आना हो तो कैसे आए? दिन को जब तक कुचल न दे, दिन जब तक समाप्त न हो जाय और सूर्य की एक भी किरण को समाप्त न कर दे तब तक रात कैसे आए? रात हो गई है तो समझ लो कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

हमारे जीवन में भी जब अमावस्या की रात आती है, अर्थात् हिंसा, असत्य आदि की काली घटाएँ घुमड़-घुमड़ कर आती हैं तो अहिंसा, सत्य और करुणा की जो ज्योति जगमगा रही थी, समझ लो, वह नष्ट हो जाती है। वहाँ दिन छिप जाता है।

तो भावहिंसा आत्मा के गुणों की हिंसा कर ही डालती है। रह गई दूसरों की हिंसा, सो वह देश, काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है कोई दूसरों की हिंसा कर सके, किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है।*

दियासलाई को देखिए। वह रगड़ खाती है और जल उठती है। स्वयं जल उठने के बाद वह घास-पात आदि को जलाने जाती

---

* स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ॥

पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ।

—राजवार्तिक ७, १३ ।

है। वह खुद तो जल गई है, अब दूसरों को जलाये या न भी जलाये। वह जलाने चली और हवा का झोंका आ गया तो बुझ जाने के कारण दूसरे को नहीं जला सकेगी; मगर अपने आप तो बिना जली नहीं रही।

इस प्रकार भावहिंसा अन्तरंग में तो जलन पैदा करती ही है। उसके बाद दूसरे प्राणियों की हिंसा हो तो वह द्रव्यहिंसा भी होगी। द्रव्यहिंसा कदाचित् हो या न हो, पर हिंसामय संकल्प के साथ भावहिंसा तो पैदा हो ही जाती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि इस जीवन में मूलभूत और सब से बड़ी बुराई भावहिंसा है और इसी से तुम्हें सबसे बड़ी लड़ाई लड़नी है। तुम्हें अपने सबसे बड़े अन्दर के शत्रु का संहार करना है और मित्र को पैदा करना है। राजर्षि नमि ने कहा है:—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ ?

—उत्तराध्ययन सूत्र, ९, ३५

राजर्षि ने कहा—जीवन में कितनी ही बाहर की लड़ाइयाँ लड़ीं और कितना ही खून बहा और बहाया किन्तु उनसे जीवन का सही फैसला नहीं हुआ है। अब तो अपने विकारों और वासनाओं से लड़ना है। अगर इस लड़ाई में कामयाबी हो जाती है तो बाहर के शत्रु आप ही आप शान्त हो जाएँगे। उनको शान्त करने

वाले सद्गुण अन्दर बैठे हैं इसलिए तू अपने से लड़। अपने से लड़ने का अर्थ है, अपने विकारों से, अपनी हिंसा-वृत्ति से लड़ना। द्रव्यहिंसा की जननी, यह अन्दर की हिंसावृत्ति ही तो है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किये गये हैं।* आगम की परम्परा में उसे चौभंगी कहते हैं। वह इस प्रकार है:—

(१) भावहिंसा हो, द्रव्यहिंसा न हो।
(२) द्रव्यहिंसा हो, भावहिंसा न हो।
(३) द्रव्यहिंसा भी हो और भावहिंसा भी हो।
(४) द्रव्यहिंसा न हो और भावहिंसा भी न हो।

कहीं ऐसा प्रसंग आ जाता है और अकसर आता ही रहता है कि भावहिंसा हो, मगर द्रव्यहिंसा न हो। जैसा कि अभी कहा गया था, अन्दर हिंसा की भावना जागी, हिंसा का विचार पैदा हो गया और अपने जीवन के दुर्गुणों और वासनाओं के द्वारा अपने सद्गुणों को बर्बाद कर दिया तो भावहिंसा हो गई किन्तु दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं कर सका तो द्रव्यहिंसा नहीं होने पाई।

तन्दुलमच्छ का वर्णन आपने सुना है? कहते हैं, बड़े-बड़े समुद्रों में हजार-हजार योजन के विशालकाय मच्छ पड़े रहते हैं और

* देखिए, दशवैकालिक चूर्णि-प्रथम अध्ययन।

जब पड़े रहते हैं तो मुँह खोले पड़े रहते हैं। जब वह सांस खींचते हैं तो हजारों मछलियाँ उनके पेट में श्वास के साथ खिंची चली आती हैं और जब सांस छोड़ते हैं तो बाहर निकल जाती हैं। इस तरह प्रत्येक श्वास के साथ हजारों मछलियाँ अन्दर आती और बाहर जाती हैं। ऐसे किसी मच्छ की भौंह के ऊपर, कुछ आचार्य कहते हैं कान के ऊपर, वह तंदुल मच्छ रहता है। वह कहीं भी रहता हो, उसकी अवगाहना चावल के बराबर होती है। उसके सिर है, आंखें हैं, कान हैं, नाक है और सभी इन्द्रियाँ हैं। शरीर भी है और मन भी है। वह उस विशालकाय महामत्स्य की भौंह या कान पर—कहीं भी बैठा रहता है। वह बैठा-बैठा क्या देखता है कि इस महामत्स्य की श्वास के साथ हजारों मछलियाँ भीतर जाती हैं और फिर बाहर निकल आती हैं। और वह सोचता है—'ओह ! इतना बड़ा शरीर पाया है, इतना भीमकाय यह मच्छ है, किन्तु कितना मूर्ख और आलसी है ! होश नहीं है इसे जीवन का कि—हजारों मछलियाँ आईं और यों ही निकल गईं ! क्या करूँ, मुझे ऐसा शरीर नहीं मिला ! मिला होता तो क्या मैं एक को भी वापिस निकल जाने देता ?' किन्तु जब मछलियों का प्रवाह आता है तो वह सिमक जाता है, डर जाता है कि कहीं मैं झपट्टे में न आ जाऊँ, मर न जाऊँ ! वह कर कुछ भी नहीं पाता, किन्तु इस व्यर्थ की दुर्भावना से ही उसकी हजारों जिन्दगियाँ बर्बाद हो जाती हैं।

अरे ! जब कुछ सत्त्व पाया नहीं है जिन्दगी मे तो तू क्यों बेकार जल रहा है ?

तन्दुल-मत्स्य मछलियों को निकलती देख हताश हो जाता है कि हाय, एक भी नहीं मरी ! वह इन्हीं दुःसंकल्पों में उलझा रहता है, किन्तु रक्त का एक बूंद भी नहीं पाता है । वह किसी को एक चुटकी भी तो नहीं भर पाता। अन्तमुहूर्त्त भर की उसकी नन्हीं-सी जिन्दगी है और उस छोटी-सी जिन्दगी में ही वह सातवें नरक की तैयारी कर लेता है ।

भावहिंसा को समझने के लिए एक उदाहरण और लीजिए । कल्पना कीजिए, किसी डाक्टर के पास एक बीमार आया । वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए जगह-जगह भटक चुका है और अपने जीवन की आशा लगभग छोड़ चुका है । डाक्टर के साथ उसका पूर्व-परिचय नहीं है । उसने डाक्टर से कहा-"मैं बीमार रहता हूँ । कृपा कर मेरा इलाज कीजिए । मेरा होश-हवास ठीक नहीं रहता, इसलिए मेरी यह चार-पाँच हजार की पूंजी आप अपने पास रहने दीजिए । जिन्दा रह गया तो मैं इसे ले लूंगा ।" यह बात किसी को डा(लूम) नहीं है ।

हो, । डाक्टर ने इलाज शुरू किया । एक दिन अचानक डाक्टर के गया है लोभ जाग उठा । वह सोचने लगा—यह रोगी भयानक रोग

से ग्रस्त है, मरणासन्न है। मेरे इलाज से यह स्वस्थ हो जायगा तो अपनी पूंजी लेकर चलता बनेगा।

जब मन में दुर्विचारों का शैतान जाग उठता है तो कभी-कभी उसे शान्त करना कठिन हो जाता है। यह वह भूत-प्रेत है कि इसे जगा दिया तो फिर उसे सुलाने का मंत्र मिलना जरा मुश्किल हो जाता है।

डाक्टर के मन में पाप जागा और उसने रोगी से कहा—'लो, यह बड़ी बढ़िया और कारगार दवा है। आशा है इसके सेवन से तुम्हारी सारी बीमारी सदा के लिए दूर हो जायगी।' और उसने ज़हर का गिलास रोगी के सामने कर दिया। रोगी को ज़हर दे दिया।

मगर संयोग की बात! रोगी का रोग ज़हर से ही ठीक होने वाला था। हमारे आयुर्वेदाचार्य कहते हैं—'विषस्य विषमौषधम्' अर्थात् ज़हर की दवा ज़हर है। रोगी के शरीर में जो ज़हर फैल गया था, वह ज़हर से ही दूर हो सकता था। डाक्टर ने जो ज़हर दिया, उससे शरीर का ज़हर नष्ट हो गया और रोगी तनदुरुस्त हो गया।

भी

जेन्द-

वह रोगी अब डाक्टर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट क
है। कहता है—'डाक्टर साहब! आप तो खुदा या ईश्वर हैं'

जैसा दयालु और बुद्धिमान् और कौन होगा ? मैं भटकते-भटकते परेशान हो गया था; जीवन से निराश हो गया था। आपने मुझे नया जीवन दे दिया ! आपके उपकार के बदले में मेरी वह पूंजी नगण्य है। उसे अपने ही पास रहने दीजिए।' इस प्रकार वह रोगी अपनी चार हजार की पूंजी डाक्टर को अर्पित कर देता है और जहाँ कहीं जाता है, डाक्टर का विज्ञापन करता है, उसका गुणगान करता है।

कहानी समाप्त हो चुकी, मगर हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ ? डाक्टर ने बीमार को मार डालने के विचार से ज़हर दिया मगर उसे उलटा आराम हो गया। डाक्टर को चार-पाँच हजार रुपये मिल गये, रोगी के द्वारा बड़ाई मिल गई, जनता में उसने प्रसिद्धि भी प्राप्त कर ली और लोगों ने कहा कि—डाक्टर ने बीमार को जीवन दिया। मगर शास्त्र क्या कहते हैं ? शास्त्रों के अनुसार डाक्टर ने जीवन दिया है या मृत्यु दी है ? वह जीवन देने के पुण्य का भागी है या मौत देने के पाप का भागी है ? उसने मनुष्य की हिंसा की है या दया की है ?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। मनुष्य में यदि सामान्य विवेक हो तो भी वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि भले ही डाक्टर, रोगी के प्राण न ले सका हो और रोगी नीरोग हो गया हो, फिर भी डाक्टर तो मनुष्य की हत्या के पाप का भागी हो ही गया है ! यद्यपि वहाँ द्रव्यहिंसा नहीं हुई है, फिर भी भावहिंसा

जागी है, हिंसा की भावना उत्पन्न हुई है और उस हिंसा की भावना के कारण डाक्टर हिंसा के पाप का भागी हुआ है। इस प्रकार डाक्टर ने रोगी को ज़हर क्या पिलाया, अपने आपको ज़हर पिलाया है। उसने अपने आपको मार डाला है। अपनी सद्भावना का, सद्गुणों का, उँचाइयों का और कर्त्तव्य (Duty) का घात करना भी एक प्रकार का आत्मघात ही है।

यह जैनागमों की विचारधारा है। भावहिंसा को समझने के लिए उल्लिखित दोनों रूपक बहुत उपयोगी हैं। यहाँ द्रव्यहिंसा कुछ नहीं, भावहिंसा ही 'महतो महीयान्' है। वह तंदुल मत्स्य को सातवें नरक में ढकेल देती है।

अहिंसा के साधकों को इस भावहिंसा से बचना चाहिए। तन्दुलमत्स्य जैसे दुर्विकल्पों से तो अवश्य ही बचना चाहिए। अखिल विश्व की आत्माओं से संतों का यह कहना है कि 'तुम अकेले ही दुनिया भर की सारी जिंदगियों के ठेकेदार नहीं बन गये हो। किसी का जन्म-मरण तुम्हारे हाथ में नहीं है। फिर क्यों व्यर्थ ही किसी को मारने की दुर्भावना रखते हो ?'

दूसरा भंग या विकल्प वह है, जिसमें द्रव्यहिंसा तो हो किन्तु भावहिंसा न हो। मान लीजिए एक साधक है, और वह अपने जीवन की यात्रा तय कर रहा है। उसके मन में हिंसा नहीं है—हिंसा की

वृत्ति नहीं है। वह सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है। आखिरकार यह शरीर है तब तक हिंसा रुकती नहीं है। तेरहवें गुणस्थान तक अंशतः हिंसा होती रहती है। जब तक आत्मा सयोगी है तब तक यह ढंग चलता ही रहेगा। आप बैठे हैं और हवा का झोंका लग रहा है तो उसमें भी असंख्य जीव मर रहे हैं।

'पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषां स्याद्विपर्ययः।'

एक पलक का झपना यद्यपि अपने आप में एक सूक्ष्म हरकत है, किन्तु उसमें भी असंख्य जीव मर जाते हैं। इस प्रकार जब तक शरीर है तब तक हिंसा चल रही है और वह भी तेरहवें गुणस्थान तक। यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूँ किन्तु आगमों में ऐसा उल्लेख है। भगवतीसूत्र के अनुसार केवलज्ञानियों से भी काय-योग की चंचलता के कारण कभी-कभी पंचेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा हो जाती है। *

---

* अणगारस्स भंते ! भावियप्पणो पुरओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जिज्जा; तस्स णं भंते ! इरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइआ कज्जइ।

—श्री भगवतीसूत्र, श० १८, उ० ८

केवलज्ञानी कहीं विहार कर रहे हैं और बीच में नदी आ जाय तो क्या करेंगे ? वे नाव में बैठेंगे और यदि नदी में पानी थोड़ा है तो विधि के अनुसार पैदल भी जल में से निकलेंगे। तो जीवन के क्षेत्र में नाव में बैठ कर चले या पानी में पैर रक्खा तो हिंसा से सर्वथा बचाव कैसे हो सकता है ? नाव की और पानी की बात छोड़ भी दीजिए, एक कदम रखने में भी जो हरकत होती है, उसमें भी हिंसा होती है।

अब जरा बँध की बात भी सोचिए। तेरहवें गुणस्थान वालों को-केवलियों को कौन-सी प्रकृति का बंध होता है ? उक्त कार्य करते हुए भी वे सातावेदनीय का ही बंध करते हैं। यह क्या बात हुई ? जीवन के द्वारा होती तो है हिंसा किन्तु बंध होता है सातावेदनीय का ! जिन जीवों की हिंसा हुई है वे साता में मरे हैं या असाता में ? वे कुचले गये हैं, चोट पहुँचने पर मरे हैं या आप ही मर गये हैं ? किन्तु आगम कहते हैं कि इस स्थिति में बंध होता है सिर्फ पुण्य-प्रकृति का ही, पापप्रकृति का नहीं। इस जटिल समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है।

वास्तव में हिंसा कषायभाव में है। कहा भी है:—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' तत्त्वार्थसूत्र ७, १३

'मणवयणकायेहिं जोगेहिं दुप्पेउत्तेहिं जं पाणववरोवणं कज्जइ सा हिंसा'

—दशवैकालिक चूर्णि प्रथम अध्ययन

अर्थात्—किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना अपने आप में हिंसा नहीं है, किन्तु क्रोधभाव से, मानभाव, से, मायाभाव से या लोभभाव से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, द्वेष यदि मन में हों और मारने की दुर्वृत्ति हो और उस दुर्वृत्ति के साथ जीवों को मारा या सताया जाता हो तो हिंसा होती है। उक्त कथन का भावार्थ यह है कि हिंसा का मूलाधार कषायभाव है। अतः जो साधक कषायभाव में न हो फिर भी उसके शरीर से यदि हिंसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्यहिंसा है, भावहिंसा नहीं। द्रव्यहिंसा प्राण व्यपरोपण रूप होते हुए भी वह हिंसा नहीं मानी जाती।* केवल ज्ञानी की यही स्थिति है। वे राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग हैं। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नहीं है, अपितु सद्भाव है। अतः उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है। केवली हिंसा करते नहीं, अपितु हो जाती है। इसीलिए उन्हें बाहर में हिंसा होते हुए भी द्रव्य का ही बंध होता है, साता का ही बंध होता है।

जरा शब्दों पर ध्यान दीजिए। यहाँ दो प्रकार के शब्दों का

---

* 'यदा प्रमतयोगो नास्ति केवलं प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा। उक्तं च-वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, १३

प्रयोग किया गया है—हिंसा करते नहीं, हो जाती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जीवों को मारते नहीं, वे मर जाते हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है ?

कल्पना कीजिए, एक साधु विवेकपूर्वक गोचरी के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमन-क्रिया करता है। उस समय उसमें किसी भी जीव को मारने की वृत्ति नहीं है, फिर भी यदि जीव मर जाते हैं, तो कहा जायगा कि वह जीवों को मारता नहीं है किन्तु जीव मर जाते हैं। मर जाने में पाप बंध नहीं है किन्तु मारने में पाप बंध है। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं:—

उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिअस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥७४८॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
अणवज्जो उवयोगेणं, सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥

—ओघनिर्युक्ति।

अर्थात्—ईर्यासमिति से युक्त कोई साधक चलने के लिए पाँव ऊपर उठाए और अचानक कोई जीव पाँव के नीचे आकर, दब कर, मर जाय, तो उस साधक को उसकी मृत्यु के निमित्त से जरा भी बंध होना शास्त्र में नहीं बतलाया है। क्योंकि वह साधक पूर्ण रूप से उपयोग रखने के कारण निष्पाप है।

यही बात दिगम्बर परम्परा के आचार्य वट्टकेर ने कही है। वे कहते हैं:—

पउमिणिपत्तं व जहा, उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं।
तह वदसमिदीहिं ण लिप्पदि, साहू काएसु इरियंतो ॥
—मूलाचार, पंचाचाराधिकार

कमलिनी का पत्ता जल में ही उत्पन्न होता है और जल में बढ़ता है, फिर भी वह जल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह स्नेह-गुण से युक्त है। इसी प्रकार समितियुक्त साधु जीवों के मध्य में विचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके अन्तः-करण से करुणा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित होता रहता है।

आचार्य सुन्दर उपमा के साथ फिर इसी बात को स्पष्ट करते हैं:—

सरवासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियंतो ॥

घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। पानी के बूंदों की तरह योद्धागण आपस में बाणों की वर्षा कर रहे हैं। मगर जिसने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढँक रक्खा है, उसे क्या छू सकते हैं वे बाण! इसी प्रकार जो मुनि ईर्यासमिति के दृढ़ कवच से युक्त है, जीवों के समुदाय में विचरते हुए भी उसे पाप नहीं छू सकता।

प्रवचनकार—

उपाध्याय कवि मुनि श्री अमरचन्दजी

[अनेक ग्रन्थों के विद्वान् रचयिता]

संपादक—

प० शोभाचन्दजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

[प्रधान अध्यापक, श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर]

प्रकाशक—
रतनलाल जैन
मन्त्री, श्री सन्मति ज्ञान-पीठ
लोहामंडी, आगरा

वीर-संवत— २४७८ (चैत्र)
विक्रम-संवत— २००६ (चैत्र)
ईसवी-संवत— १९५२ (अप्रेल)

मूल्य—सवा चार रुपये
४।)

समर्पण

ब्यावर श्री संघ के जिस पुनीत यज्ञ ने मुनि

श्री अमरचन्दजी उपाध्याय के जिन

अमृतोपम प्रवचनों को जन-

सुलभ बनाया है, उसके

महायज्ञ का यह

सुफल उसीको

समर्पित

मन्त्री

श्री सन्मति ज्ञान पीठ आगरा

प्रास्ताविक

विश्व के समस्त धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिन धर्मों में हम हिंसा को अवकाश देखते हैं, वह हिंसा दूसरों की दृष्टि से ही हिंसा है। वह धर्म तो उस हिंसा को भी अहिंसा मान कर ही प्रश्रय देता है। इस प्रकार किसी भी धर्म के शास्त्र में हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म के रूप में नहीं स्वीकार किया गया, वरन् सभी धर्म, अहिंसा को ही परमधर्म स्वीकार करते हैं। अहिंसा को धर्मों में जो महत्त्व मिला है, वह यों ही नहीं मिल गया है। वास्तव में अहिंसा मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट नीति है और कहना चाहिए कि वह अनिवार्य नीति भी है। अहिंसा के सहारे ही मानव-जाति का अस्तित्व टिका हुआ है।

अहिंसा कोरी सिद्धान्त की वस्तु नहीं, वरन् व्यवहार की वस्तु है। चिरकाल से बड़े-बड़े साधक पुरुष अपने जीवन-व्यवहार में अहिंसा की आराधना करते आये हैं। कइयों ने अहिंसा के लिए अपने मूल्यवान् जीवन का उत्सर्ग करके उसको महिमा प्रदान की है। जैन-ग्रन्थों में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हमें मिलते हैं। केवल संसार-त्यागी सन्तों के लिए ही अहिंसा आचरणीय नहीं, किन्तु गार्हस्थ्य जीवन में भी वह आचरणीय मानी गई है।

किस युग में अहिंसा की कल्पना की गई, यह कहना कठिन है। इतिहास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देता और सम्भवतः उसके पास कोई उत्तर हो भी नहीं सकता। जब से इस धरातल पर मनुष्य नामक प्राणी है और जब से उसे हृदय और मस्तिष्क प्राप्त है, तभी से अहिंसा का पुनीत सिद्धान्त भी प्रचलित है; ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति दिखलाई नहीं देती।

उसी समय से अहिंसा के सम्बन्ध में विचार किया जाता रहा है। उस अज्ञात प्राचीनकाल से लेकर आज तक हिंसा-अहिंसा की मीमांसा चल

रही है। उत्तरोत्तर अहिंसा को विशाल और विराट् स्वरूप प्रदान कि
जाता रहा है। आचार जगत् की अहिंसा भगवान् महावीर के युग
विचार जगत् में भी शान के साथ प्रवेश करती जान पड़ती है, और गां
युग में राजनीति के क्षेत्र में आकर वरदान देती प्रतीत होती है। जी
के जिस क्षेत्र में हिंसा की बीमारी बढ़ने लगती है, उसे दूर करने के लि
अहिंसा को उसी क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ता है।

हिंसा और अहिंसा की मर्यादा स्थिर करने में जो जटिलता प्रती
होती है, उसका कारण उनकी विराटता ही है। तथापि मन में किसी प्रका
का दुरभिनिवेश न हो और शुद्ध जिज्ञासा विद्यमान हो तो हिंसा औ
अहिंसा की मर्यादा स्थिर करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। मनु
का हृदय स्वयं ही इस विषय में सही साक्षी देने लगता है।

उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज बहुश्रुत विद्वान् और निष्प
भाव से तत्त्व का चिन्तन करने वाले सन्त हैं। सौभाग्य से उन्हें विद्या औ
बुद्धि के साथ वक्तृत्व कला भी उच्च कोटि की प्राप्त है। उन्होंने अहिंस
पर जो प्रवचन किये हैं, इस पुस्तक में उन्हीं का संकलन है। यह प्रवच
अनेक दृष्टियों से मौलिक और महत्त्वपूर्ण हैं। इनके पढ़ने से पाठकों क
अहिंसा के निखरे हुए विराट् स्वरूप का दर्शन होगा, इसमें तनिक भ
सन्देह नहीं है। जैन दृष्टि से अहिंसा का ऐसा स्पष्ट, विशद और सर्वाङ्गीण
चिन्तन और प्रतिपादन अन्यत्र नहीं मिलेगा। कविजी के भावों में गांभी
है और भाषा में ओज है। उनकी भाषा बड़ी सुहावनी है। नदी के प्रवाह
की तरह प्रतिपाद्य विषय की ओर अग्रसर होती हुई, लहराती हुई, धरातल
से उठकर गगनतल को स्पर्श करती हुई-सी जान पड़ती है। न कहीं रुकती

कविश्री के प्रवचन सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध होते हैं। अतएव उनका सम्पादन करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मगर जहाँ कहीं शीघ्रलिपि-लेखक भाषण के प्रवाह एवं वेग का मुकाबला न कर सका, वहाँ स्खलनाएँ हो गई और उन स्खलनाओं को सँवारना ही मेरा काम रहा है। ऐसा करते समय भाषा में कहीं विरूपता आ गई हो तो उसके लिए विवशता है।
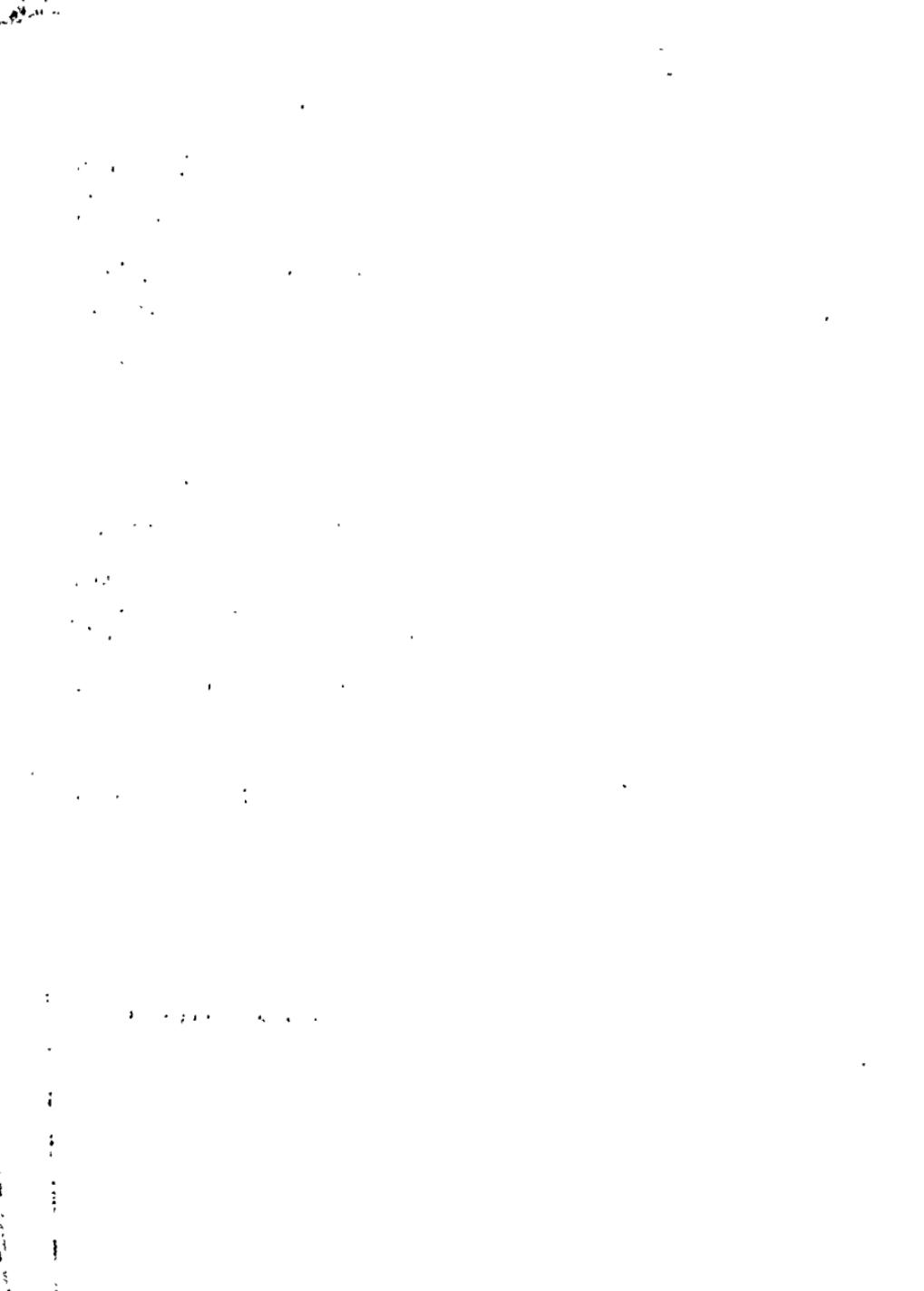
कविश्री के प्रवचन युग की भाषा बोलते हुए भी आगम के 'हृदय' की ही बात कहते हैं। आपकी विचारावली दिवंगत पूज्य श्री जवाहारलाल जी महाराज का हठात् स्मरण करा देती है। हो सकता है कि परम्परागत धारणाओं के कारण किसी का उनसे मतभेद हो, तथापि ऐसे सज्जनों ने यदि निष्पक्ष भाव से विचार किया तो उनका समाधान होना कठिन नहीं है।

आशा है पाठकों के विचारों को मांजने में यह प्रवचन खूब सहायक सिद्ध होंगे।

जैन गुरुकुल, ब्यावर
२—४—५२

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

ब्यावर-श्रीसंघ की ओर से

पौष वदि ८ संवत् २००५ की बात है। श्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कांन्फरन्स बम्बई के अध्यक्ष व अन्य सदस्य संघ-ऐक्य योजना के प्रति स्थानकवासी सन्त-मुनिराज और बड़े-बड़े नगरों के श्रावकों का कायिक सहयोग प्राप्त करते हुए ब्यावर पधारे। विभिन्न सम्प्रदायों के नाम से बिखरे हुए ब्यावर के स्थानकवासी समाज ने भी इस संघ-ऐक्य के महायज्ञ में अपनी आहुति प्रदान की। सभी स्थानकवासियों ने एक संघ का निर्माण किया और वे उन प्रगतियों को मूर्त रूप देने को कटिबद्ध हुए जो संघ-ऐक्य-योजना में पूर्ण सहायक हों।

इसी दिशा में ब्यावर-श्रीसंघ ने उपाध्याय मुनि श्री प्रेमचन्दजी महाराज, पूज्य आनंद ऋषिजी महाराज और मुनि श्री कवि अमरचन्दजी महाराज के चातुर्मास करने का निर्णय किया। प्रथम चातुर्मास संवत् २००६ में पूज्य श्री का हुआ और द्वितीय चातुर्मास संवत् २००७ में कवि श्री का हुआ।

कवि श्री के सारभूत व्याख्यानों से प्रेरित होकर श्रीसंघ के कुछ भाई श्री पन्नालालजी पूनमचन्दजी काँकरिया, श्री देवराजजी सुराणा, और पुखराज जी शिशोदिया ने उन व्याख्यानों को लिपिबद्ध कराने का निर्णय किया। श्री पन्नालालजी पूनमचन्द कांकरिया ने इसके अतिरिक्त सम्पादन और प्रकाशन को बल देने के वास्ते ५००) रु० और भी प्रदान किये तथा श्रीसंघ ने भी ११५०) रु० प्रदान कर इस कार्य में योग दिया।

पं० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल द्वारा सम्पादन किया जाकर उन व्याख्यानों का कुछ भाग "अहिंसा दर्शन" के रूप में जनसाधारण के सामने आ रहा है।

कवि श्री ने उपासक दशांग सूत्र का अवलम्बन करके ...
फरमाये थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वि

सिलसिलेवार व्याख्यान हैं। उनमें से प्रस्तुत पुस्तक में सिर्फ अहिंसा संबंधी व्याख्यानों का ही संकलन किया गया है। सत्य आदि विषयों के व्याख्यान भी शीघ्र ही सम्पादित होकर प्रकाश में आवेंगे, ऐसी आशा है।

श्री संघ के पास प्रकाशन और विज्ञापन के साधन न होने के कारण प्रकाशन का कार्य 'श्री सन्मति ज्ञानपीठ आगरा' ने स्वीकार किया है, जिसके लिए यह संघ ज्ञानपीठ को धन्यवाद प्रदान करता है।

यह, और आगे प्रकाशित होने वाला उपाध्यायजी महाराज का व्याख्यान-साहित्य उनके ब्यावर-चातुर्मास की अमर स्मृति है। इसके तैयार होने में उपाध्याय श्री का कितना भाग है और किन शब्दों में उनका आभार माना जा सकता है यह निर्णय करना कठिन है। हमें कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहे हैं।

आशा है इस साहित्य के अध्ययन और मनन से पाठकों के विचारों का स्तर कुछ ऊँचा उठेगा और तत्वशोधन में जनसाधारण की रुचि बढ़ेगी।

जालमसिंह मेड़तवाल
मन्त्री
श्री श्रमणोपासक जैन-श्रीसंघ,
ब्यावर

चैत शुक्ला १
२००६ वि०

प्रकाशक की ओर से

'अहिंसादर्शन' पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। कविवर उपाध्याय श्री अमरचन्द जी महाराज की अनेक रचनाएँ प्रकाशित करने का सौभाग्य ज्ञानपीठ को ही प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक उनमें एक और महत्त्वपूर्ण रचना की वृद्धि कर रही है।

'अहिंसादर्शन' उपाध्याय श्री के ब्यावर-चातुर्मास में किये गये अहिंसा सम्बन्धी प्रवचनों का संकलन है। इसमें अनेक पहलुओं से अहिंसा की जो विवेचना की गई है, उसमें कितनी मौलिकता, गंभीरता और विशदता है, यह बात इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ने वाले विवेकशील पाठक स्वयं समझ सकते हैं। जैन शास्त्रों में अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत विवेचना की गई है, किन्तु आज बहुत थोड़े ही विद्वान् मिलेंगे जो शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। फिर उस विवेचना के अन्तस्तत्त्व को सही रूप में समझने और प्रतिपादन करने वालों की संख्या तो और भी कम है। उपाध्याय श्री ने शास्त्रों की शब्दावली के सहारे शास्त्रों की आत्मा को स्पर्श किया है और यही कारण है कि उनके द्वारा की हुई विवेचना अपूर्व और मौलिक बन पड़ी है। हमारे इस विचार में कितना तथ्य है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक स्वयं करें।

'अहिंसादर्शन' ब्यावर-श्री-संघ की दीर्घदर्शिता का फल है। उपाध्याय श्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध कराने की सूझ ब्यावर-संघ की ही है। अतएव इसका सारा श्रेय ब्यावर-संघ के हिस्से में जाता है। ब्यावर के साहित्य-प्रेमी श्रावकों ने इन प्रवचनों को लिपिबद्ध ही नहीं करवाया, अपनी ओर से इनका सम्पादन भी करवाया है और प्रकाशन के निमित्त ज्ञानपीठ को आर्थिक सहायता भी प्रदान की है। इस सब के लिए हम ब्यावर-श्रीसंघ के अत्यन्त ही आभारी हैं। उसकी सामयिक सूझ-बूझ की बदौलत ही पाठकों को यह सुन्दर साहित्य उपलब्ध हो रहा है।

ब्यावर-चातुर्मास में करीब एक सौ प्रवचन लिपिबद्ध किये गये हैं। उनमें से सिर्फ अहिंसा सम्बन्धी प्रवचन ही इस पुस्तक में दिये जा सके हैं। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अन्य प्रासंगिक एवं प्रकीर्णक विषयों सम्बन्धी प्रवचनों का सम्पादन होना अभी शेष है। आशा है वे भी यथा सम्भव शीघ्र पाठकों के कर-कमलों तक पहुँचेंगे।

रतनलाल जैन
मंत्री, सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा।

विषय-क्रम पृष्ठ-संख्या

सामाजिक हिंसा

अहिंसा और कृषि-उद्योग

अहिंसा-दर्शन

उपाध्याय कवि मुनि श्री अमरचन्दजी

अहिंसा: त्रिपथगामिनी गंगा

आज आपके सामने अहिंसा और उसके महत्त्व की चर्चा चल रही है। अहिंसा मानवजाति के ऊर्ध्वमुखी विराट चिन्तन का सर्वोत्तम विकास है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर—दोनों ही प्रकार के मंगल—जीवन का मूलाधार अहिंसा है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। मानव-सभ्यता के उच्चादर्शों का सही-सही मूल्यांकन अहिंसा के रूप में ही किया जा सकता है। हिंसा और विनाशकता, अधिकारलिप्सा और असहिष्णुता, सत्तालोलुपता और स्वार्थान्धता से उत्पीड़ित विपाक्त संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ अमृत-मय विश्रामभूमि है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य आराम की सांस लेता है। अपने को और दूसरों को समान धरातल पर देखने के लिए अहिंसा की आँख का होना नितान्त आवश्यक है। अहिंसा न हो तो, न

मनुष्य अपने को पहचाने और न दूसरों को ही। पशुत्व से ऊपर उठने के लिए अहिंसा का आलंबन अनिवार्य है।

यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों ने, घूम फिर कर ही सही, अन्ततो गत्वा अहिंसा का ही आश्रय लिया है। मनुष्य के चारों ओर पार्थिव जीवन का मजबूत घेरा पड़ा हुआ है, उसे तोड़ कर उच्चतम आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए अहिंसा के बिना गुजारा नहीं है। कौन ऐसा धर्म है जो अपने प्रभु से मिलने के लिए और सब कुछ लेकर चले, किन्तु अहिंसा को छोड़ कर चले? इसी-लिए ईसा को भी यह कहना पड़ा कि—'यदि तू प्रार्थना के लिए धर्म-मन्दिर में जा रहा है और उस समय तुझे याद आ जाय कि मेरी अमुक व्यक्ति से अनबन या खटपट है तो तुझे चाहिए कि तू लौट जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमा-याचना कर। अपने अपराधों की क्षमा-याचना किये बिना, प्रार्थना करने का तुझे अधि-कार नहीं है।' इतना ही नहीं, वह यह भी कहता है कि—'यदि कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे तो तू दूसरा गाल भी उसके सामने कर दे।' यह है वह अहिंसा का स्वर, जो आपकी मान्यता के अनुसार अनार्य देश में पैदा हुए एक साधक के मुख से भी गूंज उठा है।

अहिंसा जैनधर्म का तो प्राण ही है। उसकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी प्रत्येक साधना में अहिंसा का जीवन-संगीत चलता

रहता है। जैनधर्म का नाम लेते ही जो अहिंसा की स्मृति सर्वसाधारण को हुआ करती है, वह भूमण्डल पर जैनधर्म के अहिंसा संबंधी महान् प्रतिनिधित्व का परिचायक है। जैनधर्म में आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए किये जाने वाले व्रतविधान में पहला स्थान अहिंसा का है। जैन गृहस्थ भी सबसे पहले अहिंसा की ही प्रतिज्ञा लेता है और जैन साधु भी। अल्पता और महत्ता को लेकर दोनों की अहिंसा में कुछ अन्तर है, किन्तु अहिंसा की प्राथमिकता में कोई अन्तर नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं कि जैनधर्म अहिंसा को ही महत्त्व देता है, दूसरे सत्य आदि व्रतों को नहीं। अपने यहाँ सभी व्रत महान् हैं, उपादेय हैं। किन्तु कहना यह है कि अन्य सब व्रतों की जड़ अहिंसा है।

अहिंसा है तो सत्य भी टिकेगा, अचौर्य भी टिकेगा और ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना भी टिक सकेगी। जीवन के जितने भी ऊँचे-ऊँचे नियम हैं, उन सब के मूल में अहिंसा है।* जमीन है तभी तो यह विशाल महल खड़ा हुआ है और छत है तभी तो

---

* "अहिंसागहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। संजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ, संपुण्णाय अहिंसाय संजमो वि तस्स वट्टइ।"

—दशवैकालिकचूर्णि, प्रथम अध्ययन

आप इस पर बैठे हैं। आधार के अभाव में आधेय कहाँ टिकेगा? यह सारे संसार का वैभव खड़ा है सो भूमि के सहारे ही तो खड़ा है! इस रूप में अहिंसा हमारी भूमि है। जहाँ अहिंसा है वहीं सत्य, करुणा, क्षमा, दया आदि सब कुछ टिक सकेंगे। अहिंसा न हो तो कुछ भी टिकने वाला नहीं है। एक आचार्य कहते हैं:—

दया-नदीमहातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः ।
तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ?॥

गंगा जैसी महानदी जब बहती है, जब उसकी विराट धाराएँ दहाड़ें मारती चलती हैं तो उसके किनारों पर घास खड़ी हो जाती है, हरियाली लहलहाने लगती है, अनेकानेक बड़े-बड़े वृक्ष भी उग आते हैं और यदि निरन्तर पोषण मिले तो ऊँचे-ऊँचे वृक्ष तो क्या वन के वन खड़े हो जाते हैं। पर ऐसा कब होता है? जब पानी की धारा वहाँ तक पहुँचती है। नदी के पानी की धारा प्रत्यक्ष में उन्हें सींचती नजर नहीं आती, किन्तु उसके जलकण अन्दर के अन्दर ही सब को तरी पहुँचाते हैं, वृक्षों को हराभरा करते हैं और पोषण देते हैं और वे वृक्ष विस्तार पाते हैं। नदी सूख जाएगी तो हरियाली कब तक ठहरेगी? वह भी सूख जाएगी और खत्म हो जाएगी। निसर्ग का वह सुन्दर और मनोरम विशाल-वैभव नष्ट हो जाएगा, रह नहीं सकता।

इसी प्रकार दया की महानदी भी यदि हमारे अन्तःकरण में वहती रहेगी, वचन में और काय में भी वहती रहेगी तो दूसरे व्रत भी आप ही आप पनप उठेंगे। अहिंसा एवं दया के साधक का मन शुद्ध भावना से, प्रत्येक प्राणी के लिए करुणा की भावना से, भरा रहता है। अपनी ओर से किसी को कष्ट देना तो दर किनार, दूसरे की ओर से किसी पर कष्ट होता हुआ देखता है तब भी उसका हृदय करुणा से छलछलाने लगता है। मुँह से कुछ भी बोलता है तो अमृत छिड़क देता है। क्या मजाल कि कभी मुँह से गाली निकल जाय ? कड़वी बात तो उसकी जीभ पर कभी आ ही नहीं सकती। जहाँ अहिंसा और करुणा की धारा जीवन के कण-कण में वह रही है, वहाँ ज़हर आएगा कहाँ से ? वहाँ से तो अमृत ही झरेगा। और यदि कहीं ज़हर निकल रहा है तो समझ लो कि वहाँ मूल में अमृत की कमी है। हाँ, तो साधक की वाणी के ऊपर अहिंसा और दया का झरना वह रहा है। जब वह बोलता है तो ऐसा कि दुखिया के मन को वाणी द्वारा ढाढ़स मिलता है। दुखिया उसकी वाणी सुनने के वाद अपना दुख भूल जाता है। उसकी वाणी लगी हुई चोट में मरहम का काम करती है। वह अमृतरस से छलकती हुई वाणी संसार का कल्याण करने के लिए सदैव तैयार रहती है। वह साधक बच्चों से, नौजवानों से, वहनों से, घर में और घर से वाहर भी सब से बड़े आदर और प्रेम के साथ बोलता है। अमीर मिला है तो

तो उसी भाव से और झाड़ू देने वाला भंगी खड़ा है तो उसके साथ भी उसी भाव से उसकी वाणी बहेगी। उस वाणी में दया और प्रेम का सोता बहता है, उससे मानों फूल झड़ते हैं। इस प्रकार अहिंसा की वह धारा शरीर से भी बहती है, वाणी से भी बहती है और मन से भी बहती है। भगवान् महावीर ने कहा है:—

'हत्थसंजए पायसंजए वायसंजए संजइंदिए।'

—दशवैकालिक, १०, १५

अपने हाथों को संयम में रक्खो, उन्हें गलती के लिए छूट मत दो। इन हाथों पर तुम्हारा नियंत्रण हो, अधिकार हो। जब ये हाथ बेकाबू हो जाते हैं तो असंयत हो जाते हैं, स्व-पर के विनाश में निमित्त बनने लगते हैं। इसलिए इन्हें सदा काबू में ही रक्खो। इन्हें असंयत होने दिया तो शूल चुभेंगे इनमें और व्यथा होगी सारे शरीर में। इससे आत्महिंसा तो होगी ही, साथ ही दूसरे मूक जीवों को कीड़ों-मकोड़ों को भी ये कुचल डालेंगे। वाणी को भी संयम में रक्खो। इसे बेलगाम होने दिया तो यह दूसरों के कानों में शूल हूल देगी और न जाने क्या-क्या अनर्थ पैदा करेगी! इन्द्रियों को भी संयम में रक्खो। इन्हें निरंकुश हो जाने दिया तो समझ लो कि सारी जिन्दगी हार गये।

यह मन, वचन और काय की अहिंसा है। जो साधक

अहिंसा का व्रत लेगा वह मन से भी लेगा, वचन से भी लेगा और शरीर से भी लेगा। यह नहीं होगा कि अन्दर मन में सोच रहा है अहिंसा और बाहर वाणी से संसार में आग लगा दे। यह कैसी अहिंसा जो वाणी से तथा काया से तो बाहर में हिंसा करे और ढिंढोरा जग में यह पीटे कि मेरे तो मन में अहिंसा है? अतएव अहिंसा-व्रती साधक के लिए यह आवश्यक है कि उसकी अहिंसा मन, वचन और शरीर के रूप में त्रिपथगामिनी होनी चाहिए।

कहते हैं, गंगा त्रिपथगा है—त्रिपथगामिनी है, अर्थात् वह तीन राह से होकर बहती है। वेदों और पुराणों में इसे त्रिपथगामिनी कहा है। पुराने टीकाकारों ने इसकी बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या की है। परन्तु मुझे लगता है, तीर जिस जगह लगना चाहिए था, वहाँ नहीं लगा है। वे त्रिपथगामिनी का अर्थ करते हैं कि गंगा की एक धारा पाताल लोक में, एक धारा मर्त्यलोक में और एक धारा स्वर्गलोक में बहती है। यह विश्व तीन लोकों में विभाजित है— पाताल, ऊर्ध्व और मध्य। अस्तु, गंगा तीनों लोकों के कल्याण के लिए बहती है। बेचारे पाताल लोक के आदमी यहाँ कैसे आ सकते हैं? तो गंगा की एक धारा टीकाकारों ने उनके लिए वहीं भेज दी। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक वालों पर दया करके गंगा की एक धारा ऊर्ध्व-लोक में भी पहुँचा दी गई है। मध्यलोक में तो वह है ही, मगर है

उसकी तीन धाराओं में से एक ही धारा ! इसीलिए उसे त्रिपथ-गामिनी कहा है।

'त्रिपथगामिनी' विशेषण की यह कितनी छीछालेदर है ! हमारे पण्डित स्थूल गंगा से चिपट गये और बस अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ा दिये। खैर, जो भी कुछ हो किन्तु यह अहिंसा की त्रिपथ-गामिनी गंगा तो वस्तुतः तीनों लोकों में बहती है। यह हमारा मानव जीवन या इन्सानी जिन्दगी एक विराट दुनिया है—एक विशाल लोक है। उसके विषय में कहा जाता है:—

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

अर्थात् जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है और जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। जो पिण्ड में मालूम कर लिया, वह ब्रह्माण्ड में मिल जायगा। कृष्ण के चरित में एक अलंकार आता है:—

कृष्णचरित्र के लेखक कहते हैं,—"कृष्ण जब बच्चे थे, तो उन्हें मिट्टी खाने की आदत थी। साधारण बच्चे मिट्टी खा लिया करते हैं, पर शुक या सूरदास ने कृष्ण में भी इस आदत की घोषणा कर दी। हाँ तो कृष्ण मिट्टी खाते थे और माता उन्हें रोकती थी। एक बार कृष्ण ने देखा, घर में मुझे कोई नहीं देख रहा है और झट मिट्टी की डली उठा कर मुँह में डाल ली। अचानक उसी समय यशोदा आ पहुँची और मुँह पकड़ लिया कि क्या कर रहे हो ?

कृष्ण ने शरारत के साथ कहा—कुछ नहीं।

यशोदा ने मुँह खोलने को कहा। कृष्ण ने मुँह खोला तो माता को मुँह में सारा विश्व दिखाई दिया। वहाँ चाँद, सूरज और चमकते हुए तारे दिखाई दिये, वन, पर्वत, सागर और बड़े-बड़े नगर नज़र आये। तब यशोदा ने सोचा—यह पुत्र नहीं, भगवान् है।

यह तो अलंकार की बात है। रूपक अलंकार है। इसका असली मतलब यह है कि नन्हें से बालक के अंदर भी विश्व की विराट चेतना छिपी पड़ी है। उसकी आत्मा के अंदर भी अनन्त शक्ति का अनन्त स्रोत बह रहा है। इसी प्रकार बूढ़ा, जो मौत की शय्या पर पड़ा है उसकी आत्मा में भी अनन्त शक्तियाँ हैं। यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है, तथापि इस पर से भागवतकार बताना चाहता है कि ब्रह्माण्ड में देखने चलोगे तो वहाँ क्या मिलेगा? जो देखना है, आत्मब्रह्माण्ड में देखो। गंगा देखना हो तो अन्दर देखो, चाँद सूरज देखने हों तो अन्दर देखो, अधिक क्या, जो भी महान् विभूतियाँ देखनी हों, वे सब आत्मा के अन्दर देख लो।

हाँ, तो गंगा की धारा, अहिंसा-गंगा की धारा है। पुराने टीकाकार भटक गए। वे तीनों लोकों में पानी की धार को तलाश करने लगे। लेकिन अहिंसा-गंगा की धारा तीन राहों पर बहती है। स्थूल गंगा में नहा भी आए तो भले शरीर के ऊपर का मैल साफ हो

जाय, किन्तु पाप नहीं धुल सकते उसमें। पापों को धोना है तो, आत्मा में जो अहिंसा की अमृतगंगा वह रही है, उसी में स्नान करना होगा। तभी तुम्हारा कल्याण होने वाला है।

अहिंसा की वह धारा तीन रूप में वह रही है। भगवान् महावीर ने कहा है कि यह मनुष्य का विराट जीवन, मन का लोक, वचन का लोक और शरीर का लोक—इस प्रकार तीन लोकों में विभक्त है। यह त्रिलोकी है। इसी के अन्दर वसने वाले राक्षस बन रहे हैं, पशु बन रहे हैं और बनने वाले देवता भी बन रहे हैं, और कोई-कोई भगवान् भी बन रहे हैं। जो व्यक्ति इस त्रिलोकी के अन्दर अहिंसा की गंगा नहीं वहा रहा है, जिसने अहिंसा की गंगा में स्नान नहीं किया है और गहरी डुबकियाँ नहीं लगाई हैं तथा जिसकी आत्मा अहिंसा की धारा में नहीं वही है, वह बाहर से इन्सानी चोला भले ही पहने हो किन्तु अपनी अन्दर की दुनिया में हैवान बन रहा है। उसे न अपने आपका पता है, न अपनी दुरुस्त जिन्दगी का पता है। वह वासनाओं में भटक रहा है, फलतः कभी कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। इस तरह उसकी जिन्दगी ठोकरें खा रही है, वह जंगली और खूंख्वार जानवरों की तरह बन रही है। वह एक प्रकार से राक्षस की जिन्दगी है।

मानव जाति के इस विराट जीवन में न मालूम कितने राम और कितने रावण छिपे पड़े हैं! वे कहीं बाहर से नहीं आते,

अन्दर ही पैदा होते हैं। भारतवर्ष के सन्तों ने इस सम्बन्ध में कहा कि इस आत्मा को, जो अनादि काल से रावण के रूप में राक्षस और पशु रहा है, यदि इन्सान बनाना है, देवता बनाना है और भगवान् बनाना है, तो अहिंसा की जो पतित-पावनी गंगा बह रही है उसमें स्नान कराओ। सब मैल-पाप दूर हो जाएगा। अहिंसा की गंगा में कूदो, अभिमान आता होगा तो नष्ट हो जाएगा। मोह, लोभ, माया आदि जो भी तुम्हें तंग कर रहे हैं, इनका मैल जो चढ़ गया है, सो सब का सफाया हो जाएगा। अन्तर्जीवन में अमृत की धारा बह रही है, इसमें डुबकी लगाओगे, स्नान करोगे तो आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बन जाओगे।

मनुष्य के भीतर प्रायः एक ऐसी दुर्वृत्ति काम करती रहती है कि वह समस्या का समाधान अन्दर तलाश नहीं करता बल्कि बाहर खोजता फिरता है। जहाँ जख्म है वहाँ मरहम नहीं लगाता, बाहर लगाता है! हाथ में चोट लगी और पैर में दवाई लगाई तो क्या होगा? सिर दुख रहा है और हाथों में चन्दन लगाया तो क्या दर्द मिट जाएगा? रोग जहाँ हो वहीं दवा लगानी चाहिए। यदि दाहिने हाथ में कीचड़ लगा है तो बायें हाथ पर पानी डालने से वह कैसे साफ होगा?

हाँ, तो हमें देखना चाहिए कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि का मैल कहाँ लगा है? यदि वह मैल कहीं शरीर पर लगा है तब तो

किसी तीर्थ में जाकर धो लिया जाय। पर वहाँ तक भी जाने की क्या जरूरत है? डुबकी लगा लोगे कहीं इधर उधर किसी तालाब या नदी में तो भी वह दूर हो जाएगा। जैनधर्म कहता है, वह मैल आत्मा पर लगा है। अतः दुनिया भर के तीर्थों में क्यों भटकते हो? सब से बड़ा तीर्थ तो तुम्हारी अपनी आत्मा ही है। क्योंकि उसी मे तो बहती हैं अहिंसा और प्रेम की निर्मल धाराएँ, उसी में डुबकी लगाओ तो शुद्ध हो जाओगे। जहाँ अशुद्धि है वहाँ की ही तो शुद्धि करनी है। जैनदर्शन बड़ा आध्यात्मिक दर्शन है और इतना ऊँचा है कि मनुष्य को मनुष्य के अन्दर बंद करता है। मनुष्य की दृष्टि मनुष्य में डालता है। अपनी महानता अपने अन्दर तलाश करने को कहता है। क्या तुम अपना कल्याण करना चाहते हो? तुम पूछते हो कि कल्याण तो करना चाहते हैं पर कहाँ करें? तो जैनधर्म का उत्तर साफ है कि जहाँ तुम हो वहीं पर, बाहर किसी गंगा में, या और किसी नदी या पहाड़ में नहीं। आत्म—कल्याण के लिए, जीवन शुद्धि के लिए या अपने अंदर में सोए हुए भगवान् को जगाने के लिए एक इंच भी इधर-उधर जाने की जरूरत नहीं है। तू जहाँ है वहीं जाग जा और आत्मा का कल्याण कर ले।

एक विद्वान् ने कहा—आपके यहाँ ४५ लाख योजन का मोक्ष माना गया है और एक योजन चार हजार कोस का है! आप

बड़े-बड़े दार्शनिकों से चर्चाएँ करते हैं और मोक्ष इतना लम्बा-चौड़ा मानते हैं कि जिसकी कोई हद ही नहीं है।

मैंने कहा—इतना तो मानना ही है। इतने बड़े की जरूरत भी तो है ही। हमने मोक्ष इन्सान के लिए माना है और जहाँ इन्सान हैं वहाँ मोक्ष भी है। इन्सान का कदम ४५ लाख योजन तक है तो ऊपर मोक्ष भी ४५ लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। मोक्ष इन्सान को मिलता है। इन्सान जब आत्मशुद्धि करेगा तो सीधा मोक्ष में पहुँच जायगा। उसे एक इंच भी इधर-उधर नहीं होना पड़ेगा। अतएव जहाँ हो वहीं बैठ जाओ। जहाँ हो वहीं आत्मा में डुबकी लगा दो। वहाँ अमृत की गंगा बह रही है। संयम की साधना की ओर जितने लगोगे उतने ही मोक्ष के निकट होते जाओगे, मैल धोकर निर्मल होते जाओगे। और मैल घुलते-घुलते, जब उसका आखिरी कण भी घुल जाएगा तो वहीं के वहीं मोक्ष पा लोगे।

यह सुनकर वह विद्वान् हँसे और बोले—बड़ा गजब का रूपक बना रक्खा है!

मैंने कहा—बनाया नहीं है, सत्य ऐसा ही है।

आप ही कहिए, मोक्ष किसको मिलेगा? क्या ऊँट, घोड़े या राक्षस को मिलेगा? नहीं। वह तो मनुष्य को ही मिलेगा। अतः जहाँ मनुष्य है वहीं मोक्ष होना चाहिए। हाँ, तो जैनधर्म

अपने आप में इतना विराट है कि वह गंगा को अपने ही अन्दर देखता है। कहीं अन्यत्र जाने को नहीं कहता। सब से बड़ी गंगा उसके भीतर बह रही है और वह तीन राहों पर बहती है। वह मन के लोक में से, वचन के लोक में से और काम के लोक में से बह रही है। मगर डुबकी लगेगी तभी, जब आप लगाएँगे। हजारों तीर्थों में स्नान कर आये किन्तु अन्दर की गंगा में स्नान नहीं किया तो सब बेकार !

हमारे पड़ौसी वैदिक साहित्य में, पुराणों में एक रूपक आया है। जब महाभारत युद्ध खत्म हुआ, अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हुआ, इन्सान का खुलकर कत्लेआम हुआ और भाई ने भाई की गर्दन पर तलवार चलाई, तब उस भीषण युद्ध के बाद युधिष्ठिर के मन में आया कि हमने बहुत गुनाह किये हैं। इतने पाप कैसे धुलेंगे ? उनकी आत्मा में व्यथा होने लगी। सोचने लगे—क्या करूँ, क्या न करूँ ? युधिष्ठिर सात्विक मन वाले थे। काम तो कर गुजरे, पर पश्चात्ताप उन्हें परेशान करने लगा। तब उन्होंने कृष्ण से कहा—हमने बहुत पाप किये हैं। उन्हें धो डालने के लिए ६८ तीर्थों में स्नान करना आवश्यक है। मैं अपने पापों को धोने के लिए तीर्थों में जाना चाहता हूँ। आपकी क्या राय है ?

कृष्ण ने सोचा—युधिष्ठिर स्थूल बन रहे हैं। मरहम कहाँ लगाना है और लगाना कहाँ चाहते हैं ? मैल कहाँ है और धोने

कहाँ जा रहे हैं ? अभी सूक्ष्म दर्शन की बात कहूँगा तो इनके मन की समस्या हल नहीं होगी। और इनका मन कभी नहीं बदलेगा। और मन न बदला तो किसी बोलते को बन्द कर देने का फल क्या ? किसी को चुप कर देना और बात है और मन को बदल देना और बात है।

तो कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—धोना ही चाहिए पापों को। तुम्हारे जैसे नहीं धोएँगे, तो कौन धोएगा ?

युधिष्ठिर—अच्छा, महाराज ! आज्ञा हो। जाता हूँ।

कृष्ण बोले—ठीक है। तुम तो जा ही रहे हो, मगर हम तो दलदल में फँसे हैं। हम कैसे जाएँ ? किन्तु हमारी यह प्यारी तुँबी है। इसे ही लेते जाओ। इसे भी स्नान कराते लाना।

युधिष्ठिर को कृष्ण का उपहार मिला स्नान कराने के लिए तो मानो कृष्ण ही मिल गए। बोले—महाराज, इसे जरूर स्नान कराएँगे और सबसे पहले कराएँगे।

कृष्ण ने कहा—देखो, भूल मत जाना।

युधिष्ठिर बोले—महाराज, यह तूंबी तूंबी नहीं है। यह तो आप ही हैं। अतः इसे सब से पहले और सभी तीर्थों में जरूर स्नान करायेंगे।

बेचारे युधिष्ठिर सब तीर्थ करने गए और भटक-भटक कर स्नान करके आ गए। कृष्ण का दरबार लगा था। कृष्ण सिंहासन पर विराजमान थे। तब सारी सभा के बीच युधिष्ठिर आदि आकर बैठ गये।

कृष्ण—स्नान कर आए?

युधिष्ठिर—हाँ, महाराज, सब गंगा यमुना आदि तीर्थों में स्नान कर आए।

कृष्ण—पाप धो आये? कहीं लगा तो नहीं रहा?

युधि०—आपकी कृपा से सब धो डाले। और गए तो इसलिए ही थे, फिर बचा कर क्यों लाते?

कृष्ण—ठीक। हमारी तुँबी को भी स्नान कराया या नहीं?

युधि०—महाराज, तुँबी को कैसे न कराते? सब तीर्थों में उसे पहले स्नान कराया और बादमें हमने किया।

अब कृष्ण ने अपनी तुँबी को हाथ में लेकर कहा-हमारी तुँबी ६८ तीर्थों में स्नान करके आई है। अब यह पवित्र हो गई है। तुम सभी सभासद् तीर्थस्नान करने नहीं गए हो तो इसे पीस कर चूर्ण बनालो। थोड़ा-थोड़ा चूर्ण सभी लोग खा लो। तुम सब भी पवित्र हो जाओगे।

चूर्ण तैयार हो गया और सब को थोड़ा-थोड़ा दे दिया गया। कृष्ण महाराज की आज्ञा थी सो सभी ने थोड़ा-थोड़ा अपने मुँह में डाला। पर वह तो कड़वा जहर था। सब के रंग रूप बदल गए। मुख विषण्ण, नाक-भौंह बुरी तरह तन कर रह गए। बहुतों को तो उलटी भी हो गई। कोई बाहर जाकर थू-थू करके थूक आए।

सभा की यह रंगत बदली देखकर कृष्ण ने कहा—यह क्या कर रहे हो? तूंबी इतनी पवित्र होकर आई और तुम इसका अपमान कर रहे हो? इसे तो बड़े प्रेम से, गहरी श्रद्धा से ग्रहण करना चाहिए था!

सब ने कहा—महाराज, बात तो ठीक है मगर कड़वी बहुत है। निगली ही नहीं जाती।

कृष्ण बोले—तुम झूठ बोलते हो। इसका कड़वापन तो गंगा मैया में ही निकल गया। फिर भी यह कड़वी कैसे रह गई? क्यों युधिष्ठिर, तुमने कहा न कि इसे तीर्थों में स्नान करा दिया है? फिर यह कड़वी कैसे रह गई?

युधिष्ठिर सोच-विचार में पड़ गए। मन ही मन कहने लगे—यह तो इतने बड़े दार्शनिक और विचारक हैं, फिर भी कहते क्या हैं कि इसका कड़वापन निकल गया होगा! फिर वह बोले—'महाराज, इसको कई बार डुबकियाँ लगवाई हैं। कड़वापन के लिए तो

यह है कि वह इसके बाहर नहीं लगा है। वह तो भीतर है। रग-रग में समाया है। वह कैसे दूर हो सकता है ?

कृष्ण—अच्छा यह बात है ! कड़वापन बाहर नहीं था, इसके भीतर था ?

युधि०—जी हाँ महाराज, वह इसके भीतर था और पानी भीतर नहीं जा सकता था। वह बाहर ही रहा।

कृष्ण—युधिष्ठिर, यह तो बताओ कि तुम्हें पाप भीतर लगा था या बाहर ही बाहर लगा था ? पाप शरीर के बाहर लगता है या आत्मा में लगता है ? और तुमने गंगा में किसको स्नान कराया—शरीर को या आत्मा को ? तूंबी का कड़वापन बाहर से स्नान कराने पर नहीं गया, क्योंकि वह अन्दर था, तो तुम्हारी वासनाओं का, बुराइयों का मैल आत्मा में लगा था। जब आत्मा में लगा था तो क्या तुमने आत्मा को बाहर निकाल कर तीर्थ जल में धोया है ?

युधिष्ठिर—आत्मा को कैसे धोते ? हम तो शरीर को धो आए हैं।

कृष्ण—युधिष्ठिर, देखो, जहाँ तुम्हें स्नान करना था, वहाँ नहीं किया। शरीर के स्नान के लिए क्यों भटकते फिरे ? वह तो यहाँ भी कर सकते थे। कहा है:—

आत्मा-नदी संयम-तोयपूर्णा, सत्यावहा शील-तटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

यह आत्मा नदी है। इसमें संयम का जल भरा है। दया की तरंगें उठ रही हैं। सत्य का प्रवाह वह रहा है। इसके ब्रह्मचर्य रूपी तट बड़े मजबूत हैं। इसमें तुम्हें स्नान करना चाहिए। अहिंसा और सत्य की गंगा में स्नान करने से ही आत्मा की शुद्धि होती है। शरीर पर पानी ढार लेने से शरीर की सफाई हो सकती है, पर आत्मा स्वच्छ नहीं हो सकती।

जो वात वहाँ पाण्डुपुत्र के लिए कही गई है, वह सभी साधकों के लिए समान है। इसे हल करना चाहिए। पर हल कहाँ करना चाहते हो ? क्या गली के नुक्कड़ पर बैठ कर हल करना है ? या जंगलों में भटक कर ? नहीं, वह हल तो जीवन के अन्दर ही मिल सकता है। शुद्धि की साधना भी अन्दर ही है और शुद्धि भी अन्दर ही होती है। सव से वड़ा देवता अन्दर बैठा है। दुनिया भर के देवता कहीं पर हों, किन्तु सबसे वड़ा आत्म-देवता अन्दर ही है। इसी देवता की उपासना में तल्लीन होकर, इसके चरणों में लोट कर जब तक पाप नहीं धोओगे, तब तक बाहर के देवताओं से कुछ भी नहीं होना है।

हाँ, तो सबसे बड़ी गंगा हमारे ही अन्दर वह रही है। अहिंसा और सत्य की गंगा हमारी नस-नस में प्रवाहित हो रही है।

यदि उसकी उपासना नहीं कर सके, सेवा नहीं कर सके तो भगवान् की उपासना या सेवा करने के लिए जो तुम चले हो सो अविवेक हो सकता है, भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु सच्ची उपासना एवं सेवा नहीं हो सकती ।

अहिंसा को जब भगवान् कहा है तो वह अपने आप में स्वतः अनन्त हो गई । क्यों कि जो भगवान् होता है वह अनन्त होता है, जिसका अन्त आगया वह भगवान् कैसा ? जिसकी सीमा बँध गई, वह और कुछ भले ही हो, किन्तु भगवान् नहीं हो सकता । आत्मा में अनन्त गुण हैं । भगवान् होने के लिए उनमें से प्रत्येक गुण को भी अपने असली रूप में अनन्त होना चाहिए । आत्मा में एक गुण ज्ञान है । जब यह ज्ञान गुण अनन्त-असीम बन जाता है तभी भगवान् बना जा सकता है । इसी प्रकार चारित्र में जब अनन्तता आ जाती है, दर्शन गुण, वीर्य और दूसरे प्रत्येक गुण जब अनन्त बन जाते हैं, तब साधक को भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है । अहिंसा जब भगवान् है, परम ब्रह्म है तो अनन्त है और जब अनन्त है तो उसकी पूरी व्याख्या हम जैसे साधारण जीव न जान पाते हैं और न कह पाते हैं । केवलज्ञानी भी अहिंसा के पूर्ण रूप को जानते तो हैं किन्तु वाणी के द्वारा पूर्णतः व्यक्त वे भी नहीं कर सकते । इस भूमण्डल पर अनन्त-अनन्त तीर्थंकर अवतरित हो चुके हैं किन्तु अहिंसा का परिपूर्ण रूप जानते हुए भी किसी के द्वारा नहीं कहा जा सका, तो मुझ

जैसे को तो कहना आ ही कहाँ सकता है ? हम तो अहिंसा को अच्छी तरह जान भी कहाँ पाए हैं, उसके अनन्त रूप की झांकी देख भी कहाँ पाए हैं ?

फिर भी अहिंसा की विराट झांकी हमारे सामने आई है और इतनी बड़ी वह झांकी है कि संभव है दूसरों के सामने न आई हो। वह इतनी विशाल और विस्तृत झांकी है, जो हमारे लिए तो बड़ी से बड़ी है। हम जब पढ़ते हैं और शास्त्रों की बातें करते हैं, जान पड़ता है बड़ीबारीकी में घूम कर चले गए। मगर जिन्होंने उसे जाना है और कहा है, वे बतलाते हैं कि यह तो अनन्तवाँ भाग ही कहा गया है ? महा समुद्र में से एक ही बूंद बाहर फेंका गया है ? यह अनन्तवाँ भाग ही कहा गया है ! यह अनन्तवाँ भाग और एक बूंद भी जो शास्त्रों में आया है, बड़े विस्तार में है। वह पूरा पढ़ा भी नहीं गया, समझा भी नहीं गया, किन्तु जो भी कुछ थोड़ा-सा पढ़ा और समझा गया है, वह भी आपको समझाया नहीं जा सकता। फिर भी जो कुछ समझाया जा रहा है वह भी बहुत बड़ी बात है और उसे आपको धैर्य के साथ समझना है।

उस विराट अहिंसा के स्वरूप को आपको समझना है और तय करना है कि आपको मानव बनना है या दानव बनना है ? जब मनुष्य के सामने मानवता और दानवता में से किसी एक को चुन लेने का सवाल खड़ा होता है तो अहिंसा सामने आकर खड़ी हो जाती है।

अनन्त अनन्त काल से यह संकल्प ही मन में उत्पन्न नहीं हुआ। अनादि काल से प्राणी दानवता के कुपथ पर भटक रहा है और कहीं-कहीं तो दानवता के आवेश में इतनी हिंसा की कि ज़मीन को निरीह प्राणियों के खून से तर कर दिया। फिर भी उसे यह संकल्प नहीं आया कि मैं मानव बनूं या दानव बनूं? यह जीव एक दिन उस अवस्था में भी पड़ गया कि बाहर से जरा भी हिंसा नहीं की, उस एकेन्द्रिय और निगोद दशा में कि जहाँ अपना रक्षण करना भी अपने लिए मुश्किल हो गया। वहाँ तो यह संकल्प आता ही क्या कि मुझे मानव बनना है या दानव? राक्षस बनना है या इन्सान? संसार चक्र में भटकता हुआ यह प्राणी किस-किस गतियाँ, एवं स्थिति में नहीं रहा है? इस असीम संसार में जितनी भी गति स्थितियाँ, योनियाँ हैं, उन सब में एक-एक बार नहीं, अनन्त-अनन्त बार यह गया, रहा,* मगर किसी भी स्थिति में यह संकल्प नहीं जागा कि मुझे बनना क्या है—मानव या दानव? जिस दिन आत्मा के सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि मुझे क्या बनना है, उसी समय अहिंसा सामने आती है और कहती है—तुझे इन्सान बनना है तो मुझे स्वीकार कर, मेरा अनुसरण कर, मेरे चरणों की पूजा कर, मेरे चरणों पर अपना जीवन उत्सर्ग कर।

---

* देखिये, भगवती सूत्र १२, ७, ४५७।

अपनी जिन्दगी को यदि इन्सानियत के महान् साँचे में ढालना है और मानवता के महान् स्वरूप को प्राप्त करना है तो समझ ले कि अहिंसा के बिना मानव, मानव नहीं बन सकता। इस मिट्टी के ढेर को अनन्त-अनन्त बार लिया और छोड़ दिया। इसके लेने और छोड़ देने से मानवता नहीं आती। जब अहिंसा के भाव जागेंगे, प्रेम के भाव जागेंगे, अपने ही समान दूसरों की जिन्दगी को समझने की विश्व-चेतना जागेगी, अखिल विश्व में इन्सानियत की पवित्र भावना भरेगा तभी सच्चे अर्थों में इंसानियत आयगी। और जितना-जितना अहिंसा का विराट रूप जानता जायगा, जीवन में उतारता जायगा, उतनी ही तेरे भीतर भगवत् चेतना तथा ईश्वरीय ज्योति जागती जायगी। जब भी कभी भगवत्-चेतना जागेगी, तभी यह दुष्कर्म और पाप जो तुझे सब ओर से घेरे खड़े हैं, झटपट भाग खड़े होंगे। मानव, जब भी कभी तुझे कठिनाई हो कि मैं क्या करूँ, तब भगवान् महावीर की अहिंसा की यह व्याख्या तुझे रास्ता दिखलाएगी:—

सव्वभूयप्पभूअस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक सूत्र ४, ९

संसार भर के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो, यही अहिंसा की व्याख्या है, यही अहिंसा का भाष्य और महाभाष्य

है और यही अहिंसा की महान् कसौटी है। जिस दिन, जिस घड़ी, तू अपने आप में जो जीने का अधिकार लेकर बैठा है वही जीने का अधिकार सहज भाव से दूसरों के लिए भी देगा, तेरे अन्दर दूसरों के जीवन की परवाह करने की मानवता जागेगी, दूसरों की जिन्दगियों को अपनी जिन्दगी के समान देखेगा और संसार के सब प्राणी तेरी भावना में तेरी अपनी आत्मा के समान बनने लगेंगे और सारे संसार को समान दृष्टि से देखने लगेगा—ज्ञान और विवेक से देखेगा कि यह सब प्राणी मेरे ही समान हैं, मुझ में और इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है, जो चीज तुझे प्यारी है वह दूसरों को भी प्यारी और पसन्द है तभी समझना कि मेरे अन्दर अहिंसा है। जब तक तेरा यह हाल है कि 'मेरे लगी सो दिल में और दूसरों को लगी सो दीवार में' यानी चोट लगने पर दर्द मुझे ही होता है दूसरों को नहीं होता, तब तक अहिंसा नहीं आ सकती। पक्का समझ ले कि जब तेरे मन को, तेरी भावना को चोट लगती है और दर्द से घबराने लगता है तो दूसरों को भी दर्द से पीड़ा होती है। इस प्रकार दूसरों के दर्द की अनुभूति जब तेरे दिल में अपने दर्द की तरह होने लगे तो समझ लेना कि अहिंसा भगवती तेरे भीतर आ विराजी है। भगवान् ने कहा है:—

> सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥
>
> —दशवैकालिक ६, ११

भगवान् से गौतम ने पूछा या किसी और शिष्य ने पूछा 'प्रभो ! आपने हिंसा क्यों छोड़ी ? अहिंसा के पथ पर क्यों आए ? भंते ! अनेक कष्ट और पीड़ाएँ सहन करते हुए भी इस दुर्गम मार्ग पर ही क्यों चल रहे हैं ?

तब भगवान् ने सीधा-सादा, सहज ही समझ में आ जाने वाला किन्तु प्रभावशाली उत्तर दिया—"आयुष्मत् ! सब जीव जीना चाहते हैं ! कोई मरना नहीं चाहता। सभी को अपने जीवन के प्रति आदर और आकांक्षाएँ हैं। सभी के लिए सतत प्रयत्नशील हैं, अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं, सत्ता के लिए जूझ रहे हैं। सो जैसा तू है वैसे ही सब हैं। इसलिए मैंने प्राणवध अर्थात् हिंसा का त्याग किया है और दूसरों को सताना छोड़ा है। स्वयं को सताया जाना पसंद होता तो दूसरों को सताना न छोड़ते। मारा जाना पसंद होता तो मारना न छोड़ते। मगर सभी प्राणियों के जीवन की एक ही धारा है।"

श्रीआचारांगसूत्र यही कहता है:—

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा। सव्वेसिं जीवियं पियं।

१, २, ६२-६३।

अर्थात्—सब जीव सुख के लिए तरसते हैं और दुःख से घबराते हैं।

इस प्रकार अहिंसा की कसौटी अपनी ही आत्मा है। एक सज्जन कल बात कर रहे थे। वह कह रहे थे कि धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप निश्चित नहीं हैं। आप जिसे धर्म समझते हैं, दूसरा उसे अधर्म समझता है। एक जिसे पुण्य कहता है, दूसरा उसे पाप मानता है। क्या परीक्षा है? किस कसौटी पर इन्हें कसें?

मैंने उनसे कहा- यह कसौटी वेदों में, पुराणों या आगमों में नहीं मिलेगी। यह कसौटी तो भगवान् ने तुम्हारी आत्मा को ही पकड़ा दी है। उसी कसौटी पर जाँचो। यदि तुम्हें कोई मारे, गाली दे या तुम्हारा धन छीने तो तुम्हारी क्या हालत होगी? और यदि कोई गुंडा तुम्हारी बहिन, बेटी या माता की इज्जत बर्बाद करे तो उस समय तुम्हारी क्या भावनाएँ होंगी? उस समय पूछो अपनी आत्मा से कि यह धर्म हो रहा है या अधर्म हो रहा है? यह पुण्य है या पाप है?

हजारों पोथे सिर पर लादे-लादे फिरो तो भी कुछ नहीं होगा। अहिंसा की परीक्षा और कसौटी पोथियों को रगड़ने से या उनके पन्ने पलटने से नहीं तैयार होगी। आत्मा को रगड़ोगे और विचार करोगे तो पता चलेगा। जब तक तुम्हारे ऊपर नहीं बीती तभी तक यह बातें हो रही हैं और जब तक आपत्तियाँ नहीं आईं तभी तक यह बहसें हो रही हैं।

मैंने उनसे पूछा—एक गुंडा है और वह हिन्दू स्त्री के अपहरण में ही धर्म समझता है। एक हिन्दू मुस्लिम स्त्री का अपहरण करने में ही धर्म मानता है। तो इन दोनों के लिए वैसा करना धर्म हो गया ! अगर तुम्हारे ऊपर यही बात गुजरे तो तुम्हारी आत्मा उसे धर्म कहेगी या अधर्म ? तुम उस कृत्य को पुण्य समझोगे या पाप समझोगे ?

एक वेदान्ती कहता है—सारा संसार मिथ्या है, स्वप्न है, असत्य है। किन्तु जब वही वेदान्ती चार-पाँच दिन का भूखा हो और उसके सामने मिठाइयों का भरा थाल आ जाय और आरोगने (खाने) का इशारा किया जाय तो क्या वह उस वक्त भी कह सकेगा कि यह तो मिथ्या है, असत्य है, भ्रम है ? ऐसा कह दे तो उसी वक्त खबर पड़ जाए। तो जब जीवन को परखने का प्रश्न आता है और सामने सचाइयाँ आती हैं, तभी वास्तविकता का पता चलता है। एक हिन्दी साहित्यकार ने कहा है:—

जाके पैर न फटी बिवाई,
सो का जानैं पीर पराई ?

जिसने कष्ट न पाया हो, जिसने पीड़ाएँ न देखी हों, फलतः जो मारना ही जानते हों, सताना ही जानते हों और दूसरों के हृदय भाले घुसेड़ना जानते हों और जो भोगविलास की गहरी नींद में सो रहे हों—आत्मस्वरूप को नहीं देख पा रहे हों, उन्हें कैसे मालूम

होगा कि अहिंसा क्या होती है ? जब मनुष्य दुःख की आग में पड़ता है तब जानता है कि यहाँ धर्म है, अधर्म है, पुण्य है, पाप है ! जीवन का देवता किसी विशेष प्रसंग पर जब बोलता है तो पूरी तरह पुकार कर कहता है कि यह धर्म है, यह अधर्म है !

कल्पना करो—तुम जंगल में जा रहे हो और लाखों के हीरे-जवाहिर लिये जा रहे हो। उस समय खून से भरी लपलपाती हुई तलवार लेकर कोई तुम्हारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। कहता है—'रख दे यहाँ जो हो तेरे पास और मौत के घाट उतरने के लिए तैयार हो जा।' तो तुम क्या कहोगे ? यही कि ये सब चीजें ले लें किन्तु प्राण रहने दे। लेकिन जब वह कहता है—'नहीं, मैं तो धन और तन दोनों लूंगा। यह तो मेरा धर्म है। तू जीता कैसे निकल जायगा।' और वह मारने के लिए तैयार होता है। तब तुम गिड़-गिड़ाते हो उसके सामने और पैरों पड़ते हो और हजार-हजार मन्नतें करते हो और फिर कहते हो—जो लेना हो ले लो, पर मेरे ऊपर करुणा करो। वह मृत्यु की घड़ी आपसे कहलाती है कि मुझे छोड़ दो। परन्तु वह कहता है, छोड़ूं कैसे ? मारना तो मेरा धर्म है, कर्त्तव्य है। यही तो मेरे धर्म, गुरु और देवता ने मुझे सिखाया है।

उक्त विकट प्रसंग पर प्रकट रूप में कहने का साहस, संभव है आपको न हो, तो भी मन ही मन कहोगे—"धूल पड़े ऐसे धर्म, गुरु और देवता पर कि जिसने ऐसा सिखलाया है ! सच्चे धर्म, गुरु

और देवता तो दुर्बल की रक्षा करना बताते हैं। जो किसी निरपराध दीन-हीन की हत्या करने की शिक्षा देता है, वह धर्म नहीं, अधर्म है, गुरु नहीं, कुगुरु है, देवता नहीं, राक्षस है। भला किसी राह चलते आदमी का गला काट लेना भी कोई धर्म है ?"

कल्पना करो, इतने में ही दूसरा आदमी आ पहुँचता है और कहता है—"क्या कर रहे हो ? तुम इसे नहीं मार सकते।" जब कि वह पहला कहता है कि मारना मेरा धर्म है तो यह दूसरा कहता है—"बचाना मेरा धर्म है। मेरे देवता, गुरु और धर्म ने सिखलाया है कि मरते जीव को अपना जीवन देकर भी बचाओ।" और वह कहता है—'मैं हर्गिज नहीं मारने दूँगा। तेरा मारने का धर्म झूठा है और मेरा बचाने का धर्म सच्चा है।'

मारने और बचाने के इस संघर्ष में धर्म की कसौटी ढूंढ़ने कहाँ जाएँ ? मारा जाने वाला बीच में खड़ा है। उसी से पूछ लो कि मारना धर्म है या बचाना धर्म है ? हिंसा में धर्म है या अहिंसा में ? तलवार चलाने वाला कहता है कि हिंसा में धर्म है और तलवार पकड़ने वाला कहता है कि अहिंसा में धर्म है। तो जिस पर तलवार पड़ रही है, उसी से पूछ लो। जिस पर गुजर रही है उसी से पूछो। जिस पर तलवार का झटका पड़ने वाला है उसी से पूछ देखो कि हिंसा में धर्म है या अहिंसा में ? यही सबसे बढ़ कर आत्मा की कसौटी है। एक सन्त ने कहा है:—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवाधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।

धर्म के रहस्य को सुनो और जितने भी मत-मतान्तर हैं, सब की बातें सुनो। कहीं इधर उधर जाने-आने से, सुनने से धर्म भागता नहीं है। दूसरे के धर्म को भी मालूम करो। पर सब धर्मों का निचोड़ एक ही है कि अपनी आत्मा के प्रतिकूल जो बातें मालूम होती हों, जिन बातों से तुम्हारे मन में पीड़ा उत्पन्न होती हों, वह बोले—गाली देना, अपमान करना, नुकसान पहुँचाना, कष्ट पहुंचाना आदि—तुम दूसरों के लिए भी न करो। यही सब से बड़ा धर्म है, अहिंसा है। जो व्यक्ति के 'अहम्' भाव को व्यक्ति के अन्दर से निकल कर प्राणी-मात्र में बिखेर देता है, व्यक्ति के भीतर सीमित स्नेह की संकीर्ण वृत्ति को विशालता और विराटता प्रदान करता हुआ चलता है और अन्त में जगत् के कोने-कोने में उसे फैला देता है, वही सच्चा धर्म है।

आज की सब से बड़ी समस्या क्या है? संसार क्यों चक्कर में पड़ा है? नित्य नये-नये संघर्षों का जन्म क्यों हो रहा है? वर्ग-गत संघर्ष क्यों दैत्य की तरह भयानक होकर परेशान और भयभीत कर रहे हैं? इन सब के मूल में एक ही चीज है और वह यह कि हमारे अन्दर वह धर्म आज सजीव नहीं रह गया है। मनुष्य अपनी वासना के लिए, खाने-पीने के लिए, भोग-विलास के लिए दूसरों को बर्बाद कर रहा है, नेस्तनाबूद कर रहा है। उसके लिए कुचली जा

रही हैं दूसरों की जिंदगियाँ तो भले कुचलें, किन्तु मेरा घर भर जाना चाहिए। मेरी जिंदगी को आराम मिल जाना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपने अन्दर बंद हो गया है, फलतः उसे नहीं मालूम कि दूसरों पर कैसी गुजर रही है ! तो ऐसा प्रेम, अपने अन्दर जागता हुआ भी प्रेम नहीं स्वार्थ है, मोह है और अज्ञान की छाया में पड़ा है। वह धर्म नहीं है। इसी की बदौलत आज संसार की यह दुर्दशा है। वही प्रेम जब दूसरों के लिए संकट में काम लगेगा, करुणा की धारा में बहेगा और समष्टि के रूप में फैलाता जायगा तो वही अहिंसा के सांचे में ढलता जाएगा।

जो आदमी अपने अन्दर बंद हो गया है, स्वार्थों से घिर गया है और जिसे अपनी ही जरूरतें और चीजें महत्वपूर्ण मालूम होती हैं और उनकी पूर्ति के लिए दूसरों की जिंदगी की लापरवाही करता है और ऐसी लापरवाई करता है जैसी एक नशेबाज ड्राइवर। मान लीजीए एक ड्राइवर है। उसने नशा कर लिया है। वह मोटर में बैठ जाता है और पूरी रफ्तार में मोटर छोड़ देता है। अब मोटर दौड़ रही है, और ड्राइवर को भान नहीं है कि इस रास्ते पर दूसरे भी चलने वाले हैं। दूसरों के जीवन भी इस सड़क पर घूम रहे हैं, वे मेरी बेहोशी से कुचले जा सकते हैं। वह तो नशे की मस्ती में झूम रहा है और मोटर उसकी तीव्रतम वेग के साथ दौड़ी जा रही है। क्या यह ड्राइवर सच्चा और ईमानदार ड्राइवर है ? नहीं, कभी नहीं। इसी

प्रकार जो मनुष्य अपने लिए स्वार्थ या वासना का प्याला चढ़ा लेता है और अपनी जीवन-गाड़ी को उन्मुक्त एवं तीव्र गति से कि दूसरे जीवन कुचले जा रहे हैं, मर रहे हैं, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं है। वह मनुष्य भी सच्चा मनुष्य नहीं है।

गाड़ी को तेज रफ़्तार में छोड़ने पर कोई दुर्घटना या खतरा हो सकता है अतः उसे ब्रेक लगा कर चलाना चाहिए। जिस मोटर गाड़ी में ब्रेक न लगा हो, क्या गाड़ी को चलाने का अधिकार मिल सकता है ? ब्रेक हीन गाड़ी चलाना दण्डनीय है। जीवन की गाड़ी को भी संयम का ब्रेक लगाओ। संयम का ब्रेक लगने पर जीवन गाड़ी स्वयं भी सुरक्षित रहती है और दूसरों को भी सुरक्षित रखती है। हाँ, तो कोई ड्राइवर सोच-समझकर मोटर चला रहा है, नशा उसने नहीं ले रक्खा है और दिमाग को तरोताजा रख कर चला रहा है, और मोटर को जैसे तैसे मरते-मारते ठिकाने पहुंचा देना मात्र ही उसका लक्ष्य नहीं है, किन्तु सड़क पर किसी को किसी प्रकार का नुकसान भी नहीं होने देता और सकुशल ठिकाने पहुंच जाता है तो वही सच्चा और होशियार ड्राइवर है। अतएव जब वह चलाता है तो दाएँ-बाएँ बचाकर चलाता है। फिर भी मनुष्य, मनुष्य है, कभी भूल हो जाती है, अस्तु उसके बचाने का पूरा प्रयत्न करने पर भी कोई फेंट में आ ही गया या जब सामने कोई आया और उसने ब्रेक लगाया मगर ब्रेक फेल हो गया और गाड़ी नहीं रुकी,

तो ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि वह उस हिंसा के पाप का भागी नहीं हुआ।

हाँ, तो आप भी जीवन की गाड़ी लेकर चल रहे हैं। गाड़ी को घर से बाहर न निकाल कर केवल घर के गैरेज में बन्द कर देना ही मोटर गाड़ी का उपयोग नहीं है। मोटर का उपयोग तो मैदान में चलाना है। किन्तु चलाने का उचित विवेक रहना चाहिए। इसी प्रकार जीवन में भी मन को बन्द करके सुला दो, जीवन की सारी हरकतें बन्द कर दो और शरीर को एक माँस-पिण्ड बना कर किसी एक कोने में रख छोड़ो तो इससे क्या होने वाला है? जीवन को गति शील रहने दो। गति हीन जीवन, जीवन नहीं, जीवन की जिन्दा लाश है। मुर्दे की तरह निष्क्रिय पड़े रहना, कोई धर्म नहीं है।

महावीर कहते हैं—जीवन को चलाने की मनाई नहीं है। गृहस्थ हो तो उस रूप में गाड़ी को चलाने का हक़ है और साधु हो तो भी चलाने का हक़ है किन्तु चलाते वक्त नशा मत करो। बेभान न बनो। मस्तिष्क को साफ़ और तरोताज़ा रक्खो। ख़याल रक्खो कि जीवन की यह गाड़ी किसी से टकरा न जाय। व्यर्थ या अनुचित ढंग से किसी को कुछ नुकसान न पहुंच जाय।

तो इन सब बातों को ध्यान में रख कर ही जीवन की गाड़ी चलानी चाहिए। फिर भी कदाचित् भूल हो जाय और हिंसा हो

जाय तो लम्य हो सकते हो। किन्तु अन्धे बन कर चलाओगे तो लम्य नहीं हो सकते हो।

एक बार गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया। उन्होंने अपने ही लिए नहीं किन्तु समस्त विश्व के लिए पूछा—भगवन्! जीवन में कहीं पाप न लगे, ऐसी राह बताइए, क्योंकि जीवन पापमय है। चलते हुए भी पाप लगता है।

—तो खड़े रहो।

—खड़े-खड़े भी पाप लगता है।

—अच्छा, बैठ जाओ।

—पाप तो बैठने पर भी लगता है।

—अच्छा, पड़ जाओ। सारे शरीर को मुर्दे की तरह पड़ा रक्खो।

—पड़े-पड़े भी पाप लगता है।

—तो मौन धारण करलो। चुप रहो। बोलो मत। खाओ-पीओ मत।

क्या यही जीवन का अर्थ है? किन्तु जैन-धर्म के समाधान करने की यह पद्धति नहीं है। भगवान् यह नहीं कहते कि चलने से पाप लगता है तो खड़े हो जाओ। इस पर भी पाप लगे तो बैठ जाओ और फिर पसर जाओ और इस तरह जीवन को समाप्त कर

दो। भगवान् के धर्म में सच्चा साधक वह नहीं है, जो इधर 'वोसिरे' कहे और उधर एक ज़हर की पुड़िया खा ले। बस, राम नाम सत्य ! न जीवन रहे और न जीवन की हरकत रहे। जैनधर्म तो यह कहता है कि मनुष्य ! तेरी जिन्दगी अगर ५० वर्ष के लिए है तो ५० वर्ष और १०० वर्ष के लिए हैं तो १०० वर्ष और हजार वर्ष के लिए है तो हजार वर्ष पूरे कर; किन्तु एक बात का ध्यान रख कि:-

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ दशवैकालिकसूत्र ४,८

उपर्युक्त गाथा के द्वारा भगवान् महावीर का संसार के समस्त साधकों को जीवन-सन्देश है कि प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो। चलना है तो चलने में यतना रक्खो, विवेक रक्खो। खड़े हो तो बैठने की बात नहीं है। खड़े रह सकते हो पर विवेक के साथ। बैठना हो तो भी विवेक के साथ। सोना है तो सोओ विवेक के साथ। खाना है या बोलना है तो भी यही शर्त है। विवेक के साथ खाओ, विवेक के साथ बोलो। फिर पाप-कर्म नहीं बँधेंगे। पाप-कर्म अविवेक में है।

बस, विवेक ही अहिंसा की कसौटी है। जहाँ विवेक है वहाँ अहिंसा है और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ अहिंसा भी नहीं है। विवेक या यतनापूर्वक काम करते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाय तो वह हिंसा, हिंसा नहीं होगी। अनुबन्ध हिंसा नहीं होगी।

१-९-५०

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

अहिंसा के संबंध में कुछ बातें कही जा चुकी हैं और कुछ बातें कहनी हैं। अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए, उसके वास्तविक रूप को जानने के लिए सर्वप्रथम हिंसा को समझ लेना जरूरी है, क्योंकि हिंसा का विरोधी भाव अहिंसा है। अहिंसा का साधारणतया अर्थ है, हिंसा न होना। हिंसा का विरोधी भाव वही हो सकता है जिसके रहते हिंसा न हो सके। इस प्रकार अहिंसा की जो मूल व्याख्या है वह प्रथमतः 'न' के ऊपर टिकेगी। अतएव अहिंसा को पूरी तरह समझने से पहले हिंसा को समझ लिया जाय तो ठीक होगा और उस स्थिति में अहिंसा का ठीक-ठीक पता लग सकेगा। *

---

* हिंसाए पडिवियाए अहिंसा पडिविया चेव।'

—दशवैकालिक चूर्णि, प्रथम अध्ययन।

महान् तीर्थंकरों ने और जैनाचार्यों ने मूल में हिंसा के दो भेद किये हैं—(१) भावहिंसा और (२) द्रव्यहिंसा। जब मैंने इन भेदों का अध्ययन किया, चिन्तन किया और इन पर गहरा विचार किया तो मालूम पड़ा कि हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण के लिए उन्होंने संसार के सामने एक महत्त्वपूर्ण बात रख दी है।

भावहिंसा क्या है? जब आपकी आत्मा के अन्दर किसी के प्रति द्वेष जागा तो हिंसा हो गई, किसी के प्रति असत्य का संकल्प, चोरी का संकल्प और व्यभिचार करने का भाव आया; क्रोध, मान, माया और लोभ की भावनाएँ जागीं, जो जीवन को अपवित्र बनाती हैं, तो हिंसा हो गई। इसे हम भावहिंसा कहते हैं। भावहिंसा से, सब से पहले हिंसक का ही नाश होता है। आपको क्रोध आया और ज्यों ही क्रोध आया कि मन में आग लग गई और किसी का सर्व-नाश करने का विचार किया। बस, यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या उसको पीड़ा पहुँचाना आपके लिए हर-समय शक्य नहीं है। कोई आप से दुर्बल होगा तो उसके सामने आप अपनी ताकत का उपयोग कर सकते हैं। अगर वह आप से ज्यादा शक्तिशाली हुआ तो आप स्वयं जल कर रह जाएँगे। उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाएँगे। इस तरह बाहर की हिंसा की या नहीं की, मगर खुद तो जले और अन्दर ही अन्दर जलते रहे।

कुछ बच्चे एक बच्चे को चिढ़ाते हैं और गन्दा कह कर उसका

मज़ाक करते हैं। वह खिसिया कर कहता है—मैं गन्दा हूँ? अच्छा गन्दा ही सही। और वह अपने हाथ में कीचड़ लेता है और दूसरे बच्चों पर उछालने के लिए उनके पीछे दौड़ता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं और वह उन पर कीचड़ नहीं उछाल पाता या उछाल भी देता है तो दूसरों पर कीचड़ उछली या न उछली, मगर उसका हाथ तो कीचड़ से भर ही गया! अगर कीचड़ उछालने वाला तेज दौड़ता है और दूसरों पर उछाल देता है तब भी उसका हाथ तो कीचड़ से भरेगा ही। अगर दूसरे बालक तेज हैं और वह कीचड़ उन पर नहीं उछाल पाता तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस प्रकार दूसरों पर कीचड़ चाहे उछले चाहे न उछले, पर उछालने वाला हर हालत में गन्दा हो ही जाता है।

शास्त्रकार यही बात बालजीवों के विषय में कहते हैं। अविवेकी जीव बच्चों के जैसे खेल खेला करता है। वह अपने मन में दूसरों के प्रति बुरे भाव, बुरे संकल्प पैदा करता है और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अन्तःकरण को मलीन बना लेता है और आत्मा के गुणों की हत्या कर लेता है। क्रोध आया तो क्षमा की हत्या हो गई, अभिमान आया तो नम्रता का नाश हो गया, माया आई तो सरलता का संहार हो गया और लोभ आया तो सन्तोष का गला घुट गया। असत्य का संकल्प आया तो सत्य की जो महक आ रही थी वह समाप्त हो गई। इस प्रकार जो भी

बुराई आत्मा में पनपती है वह अपने विरोधी सद्गुण को कुचल देती है।

रात को आना हो तो कैसे आए? दिन को जब तक कुचल न दे, दिन जब तक समाप्त न हो जाय और सूर्य की एक भी किरण को समाप्त न कर दे तब तक रात कैसे आए? रात हो गई है तो समझ लो कि दिन नष्ट हो गया है और सूरज छिप गया है।

हमारे जीवन में भी जब अमावस्या की रात आती है, अर्थात् हिंसा, असत्य आदि की काली घटाएँ घुमड़-घुमड़ कर आती हैं तो अहिंसा, सत्य और करुणा की जो ज्योति जगमगा रही थी, समझ लो, वह नष्ट हो जाती है। वहाँ दिन छिप जाता है।

तो भावहिंसा आत्मा के गुणों की हिंसा कर ही डालती है। रह गई दूसरों की हिंसा, सो वह देश, काल आदि पर निर्भर है। सम्भव है कोई दूसरों की हिंसा कर सके, किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है।*

दियासलाई को देखिए। वह रगड़ खाती है और जल उठती है। स्वयं जल उठने के बाद वह घास-पात आदि को जलाने जाती

---

* स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्॥
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः।

—राजवार्तिक ७, १३।

है। वह खुद तो जल गई है, अब दूसरों को जलाये या न भी जलाये। वह जलाने चली और हवा का झोंका आ गया तो बुझ जाने के कारण दूसरे को नहीं जला सकेगी; मगर अपने आप तो बिना जली नहीं रही।

इस प्रकार भावहिंसा अन्तरंग में तो जलन पैदा करती ही है। उसके बाद दूसरे प्राणियों की हिंसा हो तो वह द्रव्यहिंसा भी होगी। द्रव्यहिंसा कदाचित् हो या न हो, पर हिंसामय संकल्प के साथ भावहिंसा तो पैदा हो ही जाती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि इस जीवन में मूलभूत और सब से बड़ी बुराई भावहिंसा है और इसी से तुम्हें सबसे बड़ी लड़ाई लड़नी है। तुम्हें अपने सबसे बड़े अन्दर के शत्रु का संहार करना है और मित्र को पैदा करना है। राजर्षि नमि ने कहा है:—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ ?

—उत्तराध्ययन सूत्र, ६, ३५

राजर्षि ने कहा—जीवन में कितनी ही बाहर की लड़ाइयाँ लड़ीं और कितना ही खून बहा और बहाया किन्तु उनसे जीवन का सही फैसला नहीं हुआ है। अब तो अपने विकारों और वासनाओं से लड़ना है। अगर इस लड़ाई में कामयाबी हो जाती है तो बाहर के शत्रु आप ही आप शान्त हो जाएँगे। उनको शान्त करने

वाले सद्गुण अन्दर बैठे हैं इसलिए तू अपने से लड़। अपने से लड़ने का अर्थ है, अपने विकारों से, अपनी हिंसा-वृत्ति से लड़ना। द्रव्यहिंसा की जननी, यह अन्दर की हिंसावृत्ति ही तो है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किये गये हैं।* आगम की परम्परा में उसे चौभंगी कहते हैं। वह इस प्रकार है:—

(१) भावहिंसा हो, द्रव्यहिंसा न हो।
(२) द्रव्यहिंसा हो, भावहिंसा न हो।
(३) द्रव्यहिंसा भी हो और भावहिंसा भी हो।
(४) द्रव्यहिंसा न हो और भावहिंसा भी न हो।

कहीं ऐसा प्रसंग आ जाता है और अकसर आता ही रहता है कि भावहिंसा हो, मगर द्रव्यहिंसा न हो। जैसा कि अभी कहा गया था, अन्दर हिंसा की भावना जागी, हिंसा का विचार पैदा हो गया और अपने जीवन के दुर्गुणों और वासनाओं के द्वारा अपने सद्गुणों को बर्बाद कर दिया तो भावहिंसा हो गई किन्तु दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं कर सका तो द्रव्यहिंसा नहीं होने पाई।

तन्दुलमच्छ का वर्णन आपने सुना है? कहते हैं, बड़े-बड़े समुद्रों में हजार-हजार योजन के विशालकाय मच्छ पड़े रहते हैं और

* देखिए, दशवैकालिक चूर्णि-प्रथम अध्ययन।

जब पड़े रहते हैं तो मुँह खोले पड़े रहते हैं। जब वह सांस खींचते हैं तो हजारों मछलियाँ उनके पेट में श्वास के साथ खिंची चली आती हैं और जब सांस छोड़ते हैं तो बाहर निकल जाती हैं। इस तरह प्रत्येक श्वास के साथ हजारों मछलियाँ अन्दर आती और बाहर जाती हैं। ऐसे किसी मच्छ की भौंह के ऊपर, कुछ आचार्य कहते हैं कान के ऊपर, वह तंदुल मच्छ रहता है। वह कहीं भी रहता हो, उसकी अवगाहना चावल के बराबर होती है। उसके सिर है, आंखें हैं, कान हैं, नाक है और सभी इन्द्रियाँ हैं। शरीर भी है और मन भी है। वह उस विशालकाय महामत्स्य की भौंह या कान पर—कहीं भी बैठा रहता है। वह बैठा-बैठा क्या देखता है कि इस महामत्स्य की श्वास के साथ हजारों मछलियाँ भीतर जाती हैं और फिर बाहर निकल आती हैं। और वह सोचता है—'ओह! इतना बड़ा शरीर पाया है, इतना भीमकाय यह मच्छ है, किन्तु कितना मूर्ख और आलसी है! होश नहीं है इसे जीवन का कि—हजारों मछलियाँ आईं और यों ही निकल गईं! क्या करूँ, मुझे ऐसा शरीर नहीं मिला! मिला होता तो क्या मैं एक को भी वापिस निकल जाने देता?' किन्तु जब मछलियों का प्रवाह आता है तो वह सिमक जाता है, डर जाता है कि कहीं मैं झपट्टे में न आ जाऊँ, मर न जाऊँ! वह कर कुछ भी नहीं पाता, किन्तु इस व्यर्थ की दुर्भावना से ही उसकी हजारों जिन्दगियाँ बर्बाद हो जाती हैं।

अरे ! जब कुछ सत्त्व पाया नहीं है जिन्दगी में तो तू क्यों बेकार जल रहा है ?

तन्दुल-मत्स्य मछलियों को निकलती देख हताश हो जाता है कि हाय, एक भी नहीं मरी ! वह इन्हीं दुःसंकल्पों में उलझा रहता है, किन्तु रक्त का एक बूंद भी नहीं पाता है । वह किसी को एक चुटकी भी तो नहीं भर पाता। अन्तमुहूर्त्त भर की उसकी नन्हीं-सी जिन्दगी है और उस छोटी-सी जिन्दगी में ही वह सातवें नरक की तैयारी कर लेता है ।

भावहिंसा को समझने के लिए एक उदाहरण और लीजिए । कल्पना कीजिए, किसी डाक्टर के पास एक बीमार आया । वह अपनी चिकित्सा कराने के लिए जगह-जगह भटक चुका है और अपने जीवन की आशा लगभग छोड़ चुका है । डाक्टर के साथ उसका पूर्व-परिचय नहीं है । उसने डाक्टर से कहा-"मैं बीमार रहता हूँ । कृपा कर मेरा इलाज कीजिए । मेरा होश-हवास ठीक नहीं रहता, इस-लिए मेरी यह चार-पाँच हजार की पूंजी आप अपने पास रहने दीजिए । जिन्दा रह गया तो मैं इसे ले लूंगा ।" यह बात किसी को मालूम नहीं है ।

डाक्टर ने इलाज शुरू किया । एक दिन अचानक डाक्टर के मन में लोभ जाग उठा । वह सोचने लगा—यह रोगी भयानक

से ग्रस्त है, मरणासन्न है। मेरे इलाज से यह स्वस्थ हो जायगा तो अपनी पूंजी लेकर चलता बनेगा।

जब मन में दुर्विचारों का शैतान जाग उठता है तो कभी-कभी उसे शान्त करना कठिन हो जाता है। यह वह भूत-प्रेत है कि इसे जगा दिया तो फिर उसे सुलाने का मंत्र मिलना जरा मुश्किल हो जाता है।

डाक्टर के मन में पाप जागा और उसने रोगी से कहा—'लो, यह बड़ी बढ़िया और कारगार दवा है। आशा है इसके सेवन से तुम्हारी सारी बीमारी सदा के लिए दूर हो जायगी।' और उसने जहर का गिलास रोगी के सामने कर दिया। रोगी को जहर दे दिया।

मगर संयोग की बात! रोगी का रोग जहर से ही ठीक होने वाला था। हमारे आयुर्वेदाचार्य कहते हैं—'विषस्य विषमौषधम्' अर्थात् जहर की दवा जहर है। रोगी के शरीर में जो जहर फैल गया था, वह जहर से ही दूर हो सकता था। डाक्टर ने जो जहर दिया, उससे शरीर का जहर नष्ट हो गया और रोगी तनदुरुस्त भी हो गया।

वह रोगी अब डाक्टर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट [illegible] जन्द-है। कहता है—'डाक्टर साहब! आप तो खुदा या ईश्वर हैं'

जैसा दयालु और बुद्धिमान् और कौन होगा ? मै भटकते-भटकते परेशान हो गया था; जीवन से निराश हो गया था। आपने मुझे नया जीवन दे दिया ! आपके उपकार के बदले में मेरी वह पूंजी नगण्य है। उसे अपने ही पास रहने दीजिए।' इस प्रकार वह रोगी अपनी चार हजार की पूंजी डाक्टर को अर्पित कर देता है और जहाँ कहीं जाता है, डाक्टर का विज्ञापन करता है, उसका गुणगान करता है।

कहानी समाप्त हो चुकी, मगर हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि डाक्टर को क्या हुआ ? डाक्टर ने बीमार को मार डालने के विचार से ज़हर दिया मगर उसे उलटा आराम हो गया। डाक्टर को चार-पाँच हजार रुपये मिल गये, रोगी के द्वारा बड़ाई मिल गई, जनता में उसने प्रसिद्धि भी प्राप्त कर ली और लोगों ने कहा कि—डाक्टर ने बीमार को जीवन दिया। मगर शास्त्र क्या कहते हैं ? शास्त्रों के अनुसार डाक्टर ने जीवन दिया है या मृत्यु दी है ? वह जीवन देने के पुण्य का भागी है या मौत देने के पाप का भागी है ? उसने मनुष्य की हिंसा की है या दया की है ?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। मनुष्य में यदि सामान्य विवेक हो तो भी वह इसी परिणाम पर पहुँचेगा कि भले ही डाक्टर, रोगी के प्राण न ले सका हो और रोगी नीरोग हो गया हो, फिर भी डाक्टर तो मनुष्य की हत्या के पाप का भागी हो ही गया है ! यद्यपि वहाँ द्रव्यहिंसा नहीं हुई है, फिर भी भावहिंसा

जागी है, हिंसा की भावना उत्पन्न हुई है और उस हिंसा की भावना के कारण डाक्टर हिंसा के पाप का भागी हुआ है। इस प्रकार डाक्टर ने रोगी को ज़हर क्या पिलाया, अपने आपको ज़हर पिलाया है। उसने अपने आपको मार डाला है। अपनी सद्भावना का, सद्गुणों का, उँचाइयों का और कर्त्तव्य (Duty) का घात करना भी एक प्रकार का आत्मघात ही है।

यह जैनागमों की विचारधारा है। भावहिंसा को समझने के लिए उल्लिखित दोनों रूपक बहुत उपयोगी हैं। यहाँ द्रव्यहिंसा कुछ नहीं, भावहिंसा ही 'महतो महीयान्' है। वह तंदुल मत्स्य को सातवें नरक में ढकेल देती है।

अहिंसा के साधकों को इस भावहिंसा से बचना चाहिए। तन्दुलमत्स्य जैसे दुर्विकल्पों से तो अवश्य ही बचना चाहिए। अखिल विश्व की आत्माओं से संतों का यह कहना है कि 'तुम अकेले ही दुनिया भर की सारी जिंदगियों के ठेकेदार नहीं बन गये हो। किसी का जन्म-मरण तुम्हारे हाथ में नहीं है। फिर क्यों व्यर्थ ही किसी को मारने की दुर्भावना रखते हो?'

दूसरा भंग या विकल्प वह है, जिसमें द्रव्यहिंसा तो हो किन्तु भावहिंसा न हो। मान लीजिए एक साधक है, और वह अपने जीवन की यात्रा तय कर रहा है। उसके मन में हिंसा नहीं है—हिंसा की

वृत्ति नहीं है। वह सावधानी के साथ प्रवृत्ति करता है किन्तु फिर भी हिंसा हो जाती है। आखिरकार यह शरीर है तब तक हिंसा रुकती नहीं है। तेरहवें गुणस्थान तक अंशतः हिंसा होती रहती है। जब तक आत्मा सयोगी है तब तक यह ढंग चलता ही रहेगा। आप बैठे हैं और हवा का झोंका लग रहा है तो उसमें भी असंख्य जीव मर रहे हैं।

'पक्ष्मणोऽपि निपातेन तेषां स्याद्विपर्ययः।'

एक पलक का झपना यद्यपि अपने आप में एक सूक्ष्म हरकत है, किन्तु उसमें भी असंख्य जीव मर जाते हैं। इस प्रकार जब तक शरीर है तब तक हिंसा चल रही है और वह भी तेरहवें गुणस्थान तक। यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूँ किन्तु आगमों में ऐसा उल्लेख है। भगवतीसूत्र के अनुसार केवलज्ञानियों से भी काय-योग की चंचलता के कारण कभी-कभी पंचेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा हो जाती है। *

---

* अणगारस्स भंते ! भावियप्पणो पुरओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोए वा कुलिगच्छाए वा परियावज्जिज्जा; तस्स णं भंते ! इरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइआ कज्जइ।

—श्री भगवतीसूत्र, श० १८, उ० ८

केवलज्ञानी कहीं विहार कर रहे हैं और बीच में नदी आ जाय तो क्या करेंगे ? वे नाव में बैठेंगे और यदि नदी में पानी थोड़ा है तो विधि के अनुसार पैदल भी जल में से निकलेंगे। तो जीवन के क्षेत्र में नाव में बैठ कर चले या पानी में पैर रक्खा तो हिंसा से सर्वथा बचाव कैसे हो सकता है ? नाव की और पानी की बात छोड़ भी दीजिए, एक कदम रखने में भी जो हरकत होती है, उसमें भी हिंसा होती है।

अब जरा बँध की बात भी सोचिए। तेरहवें गुणस्थान वालों को-केवलियों को कौन-सी प्रकृति का बंध होता है ? उक्त कार्य करते हुए भी वे सातावेदनीय का ही बंध करते हैं। यह क्या बात हुई ? जीवन के द्वारा होती तो है हिंसा किन्तु बंध होता है सातावेदनीय का ! जिन जीवों की हिंसा हुई है वे साता में मरे हैं या असाता में ? वे कुचले गये हैं, चोट पहुँचने पर मरे हैं या आप ही मर गये हैं ? किन्तु आगम कहते हैं कि इस स्थिति में बंध होता है सिर्फ पुण्य-प्रकृति का ही, पापप्रकृति का नहीं। इस जटिल समस्या पर विचार करने की आवश्यकता है।

वास्तव में हिंसा कषायभाव में है। कहा भी है:—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' तत्त्वार्थसूत्र ७, १३

'मणवयणकायेहिं जोगेहिं दुप्पेउत्तेहिं जं पाणववरोवणं कज्जइ सा हिंसा'

—दशवैकालिक चूर्णि प्रथम अध्ययन

अर्थात्—किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना अपने आप में हिंसा नहीं है, किन्तु क्रोधभाव से, मानभाव, से, मायाभाव से या लोभभाव से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, द्वेष यदि मन में हों और मारने की दुर्वृत्ति हो और उस दुर्वृत्ति के साथ जीवों को मारा या सताया जाता हो तो हिंसा होती है। उक्त कथन का भावार्थ यह है कि हिंसा का मूलाधार कषायभाव है। अतः जो साधक कषायभाव में न हो फिर भी उसके शरीर से यदि हिंसा हो जाती है तो वह केवल द्रव्यहिंसा है, भावहिंसा नहीं। द्रव्यहिंसा प्राण व्यपरोपण रूप होते हुए भी वह हिंसा नहीं मानी जाती।* केवल ज्ञानी की यही स्थिति है। वे राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग हैं। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नहीं हैं, अपितु सद्भाव है। अतः उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है। केवली हिंसा करते नहीं, अपितु हो जाती है। इसीलिए उन्हें बाहर में हिंसा होते हुए भी द्रव्य का ही बंध होता है, साता का ही बंध होता है।

जरा शब्दों पर ध्यान दीजिए। यहाँ दो प्रकार के शब्दों का

---

* 'यदा प्रमतयोगो नास्ति केवलं प्राणव्यपरोपणमेव न तदा हिंसा। उक्तं च-वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ७, १३

प्रयोग किया गया है—हिंसा करते नहीं, हो जाती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जीवों को मारते नहीं, वे मर जाते हैं। इन दोनों में क्या अन्तर है ?

कल्पना कीजिए, एक साधु विवेकपूर्वक गोचरी के लिए जाता है या कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक गमन-क्रिया करता है। उस समय उसमें किसी भी जीव को मारने की वृत्ति नहीं है, फिर भी यदि जीव मर जाते हैं, तो कहा जायगा कि वह जीवों को मारता नहीं है किन्तु जीव मर जाते हैं। मर जाने में पाप बंध नहीं है किन्तु मारने में पाप बंध है। इस सम्बन्ध में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं:—

> उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिअस्स संकमट्ठाए।
> वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥७४८॥
> न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
> अणवज्जो उवयोगेणं, सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥
>
> —ओघनिर्युक्ति।

अर्थात्—ईर्यासमिति से युक्त कोई साधक चलने के लिए पाँव ऊपर उठाए और अचानक कोई जीव पाँव के नीचे आकर, दब कर, मर जाय, तो उस साधक को उसकी मृत्यु के निमित्त से जरा भी बंध होना शास्त्र में नहीं बतलाया है। क्योंकि वह साधक पूर्ण रूप से उपयोग रखने के कारण निष्पाप है।

यही बात दिगम्बर परम्परा के आचार्य वट्टकेर ने कही है। वे कहते हैं:—

पउमिणिपत्तं व जहा, उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणंजुत्तं।
तह वदसमिदीहिं ण लिप्पदि, साहू काएसु इरियंतो ॥

—मूलाचार, पंचाचाराधिकार

कमलिनी का पत्ता जल में ही उत्पन्न होता है और जल में बढ़ता है, फिर भी वह जल से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह स्नेह-गुण से युक्त है। इसी प्रकार समितियुक्त साधु जीवों के मध्य में विचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके अन्तःकरण से करुणा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित होता रहता है।

आचार्य सुन्दर उपमा के साथ फिर इसी बात को स्पष्ट करते हैं:—

सरवासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ, साहू काएसु इरियंतो ॥

घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। पानी के बूंदों की तरह योद्धागण आपस में बाणों की वर्षा कर रहे हैं। मगर जिसने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढँक रक्खा है, उसे क्या छू सकते हैं वे बाण ! इसी प्रकार जो मुनि ईर्यासमिति के दृढ़ कवच से युक्त है, जीवों के समुदाय में विचरते हुए भी उसे पाप नहीं छू सकता।

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से पाप का स्पर्श नहीं होता, इतना ही नहीं, पहले बाँधे हुए कर्मों का क्षय भी होता है। वही आचार्य कहते हैं:—

तम्हा चेट्ठिदुकामो जइया तइया भवाहि तं समिदो।
समिदो हु अरण्ण ण दियदि, खवेदि, पोराणयं कम्मं ।।

—पंचाचाराधिकार

और:—

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो ।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ।।

—समयसाराधिकार

अर्थ स्पष्ट है कि जो मुनि यतना के साथ चल रहा है, जिसके चित्त में प्राणी मात्र के प्रति दया की भावना विद्यमान है, वह चलता हुआ भी नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। इतना ही नहीं, वह पहले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करता है।

आचार्यशिरोमणि श्री भद्रबाहु भी ओघनिर्युक्ति में ऐसा ही उल्लेख करते हैं:—

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स,
सा होइ निज्जर-फला अज्झत्थ-विसोहि-जुत्तस्स ।।७५६।।

गीतार्थ साधक के द्वारा यतमान रहते हुए भी यदि कभी हिंसा हो जाती है तो वह पाप-कर्म के वन्ध का कारण न होकर

निर्जरा का कारण होती है। क्योंकि बाहर में हिंसा होते हुए भी यतनाशील को अन्दर भावविशुद्धि रहती है, फलतः वह कर्म निर्जरा का फल अर्पण करती है।

हाँ, तो मन में, अन्तर्जगत् में अहिंसा का सागर लहरें मार रहा है, कषाययुक्त दुर्भाव नहीं है, असावधानी नहीं है और जागरुकता है। फिर भी शरीर से हिंसा हो रही है, मार नहीं रहा है सिर्फ मर रहे हैं तो शास्त्रकार कहते हैं कि वहाँ द्रव्यहिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। यह दूसरा भंग बन गया। जहाँ ऐसी स्थिति हो वहाँ द्रव्यहिंसा होती है, भावहिंसा नहीं होती। द्रव्यहिंसा को स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक रूपक लीजिए:—

किसी डाक्टर के पास एक बीमार आता है। उसकी आँत-ड़ियों में फोड़ा है। डाक्टर पहले बीमारी का गम्भीरतापूर्वक अध्य-यन करता है और निश्चय करता है कि फोड़े का आपरेशन करना अनिवार्य है। वह बीमार को सूचना दे देता है कि आपरेशन किये बिना काम नहीं चल सकता और आपरेशन भी खतरनाक है। बीमार वह खतरा उठाने को तैयार हो जाता है। तब डाक्टर, कम्पा-उण्डरों के भरोसे न छोड़कर स्वयं अपने हाथों से, अत्यन्त सावधानी और ईमानदारी के साथ आपरेशन करता है। उसकी प्रत्येक सांस से मानो यही ध्वनि निकलती है कि बीमार किसी प्रकार अच्छा हो जाय। बेचारा वेदना का मारा, भरोसा करके मेरे पास आया है।

गृहस्थ है, बाल-बच्चों वाला है। इसकी जिन्दगी बच गई तो कितनों की ही जिन्दगी बच जायगी। अगर यह मर गया तो कितने ही तबाह और बर्बाद हो जाएँगे। इस प्रकार डाक्टर के मन में दया का प्रवाह उठता है और करुणा का झरना बहता है। इस स्थिति में डाक्टर आपरेशन करता है, मगर करते-करते कहीं भूल हो जाती है। नाड़ी कट जाती है। खून की धारा बह उठती है। डाक्टर की करुणाभावना और भी अधिक जागृत होती है और वह खून का बहाव रोकने के सभी सम्भव प्रयत्न करता है। मगर उसके प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं और रोगी की मृत्यु हो जाती है!

यहाँ भी वही प्रश्न आ खड़ा होता है कि डाक्टर को क्या हुआ? कहने को तो कहा जा सकता है कि डाक्टर के हाथ से रोगी की मृत्यु हुई है। न डाक्टर आपरेशन करता, न रोगी को प्राणों से हाथ धोने पड़ते। कोई-कोई कहते हैं—डाक्टर मूर्ख है, लापरवाह है! अनाड़ी है! रोगी के घर वाले भी उत्तेजित हो जाते हैं और डाक्टर को कोसते हैं। उसकी प्रेक्टिस को भी धक्का पहुँचता है और गली-गली में उसकी बदनामी होती है। मगर दुनिया की बात जाने दीजिए। वह कुछ भी कहे, हमें तो यह देखना है कि शास्त्र क्या कहते हैं?

शास्त्रकार कहते हैं कि डाक्टर मनुष्य की हिंसा के पाप का भागी नहीं हुआ। उसने सद्भावना से, बीमार को साता पहुँचाने

के संकल्प से, सावधानी के साथ कार्य किया है। बीमार मर गया है मगर डाक्टर ने उसे मारा नहीं है।

इस प्रकार द्रव्यहिंसा हुई है मगर भावहिंसा नहीं है। इस स्थिति में डाक्टर को पुण्य ही हुआ है, पाप नहीं। पुण्य-पाप का सम्बन्ध कर्त्ता के अन्तर्जगत् से है, बाह्य जगत् से नहीं।

इन दोनों दशाओं की तुलना करके देखते हैं तो विस्मय-सा होता है। पहले भंग में एक प्रकार की हिंसा होती है और दूसरे प्रकार की नहीं है और दूसरे भंग में भी यही बात है। एक जगह भावहिंसा है द्रव्यहिंसा नहीं और दूसरे भंग में द्रव्यहिंसा है, भाव-हिंसा नहीं। फिर भी दोनों के परिणाम में, नतीजे में, कितना अन्तर है?

जो लोग अहिंसा को अव्यवहार्य कहते हैं, उन्हें इस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए। जीवन में अगर हिंसा का संकल्प त्याग दिया जाय, निष्कषायत्व का भाव अपना लिया जाय, तो हिंसा का त्याग हो जाता है। जैनधर्म मुख्यतः हिंसा की वृत्ति को छोड़ने के लिए कहता है। वह कहता है कि जितनी-जितनी हिंसा की वृत्ति कम होगी, कषाय की दुर्भावना कम होगी, अविवेक कम होगा, विवेक जागेगा, उतनी ही जीवन में पवित्रता की ज्योति जगमगाती जायगी।

आचार्य भद्रबाहु ने उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए ओघनिर्युक्ति में कहा है:—

आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसो;

जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥७५४॥

अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध में यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा। जो आत्मा विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है, वह अहिंसक है। और जो अविवेकी है, जागृत एवं सावधान नहीं है, प्रमाद भाव में पड़ा है, वह हिंसक है।

तीसरा भंग है—भावहिंसा भी हो और द्रव्यहिंसा भी हो। अर्थात् हृदय में मारने की वृत्ति भी आ गई और मार भी दिया। किसी को सताने की भावना भी उत्पन्न हुई और सताया भी। इस प्रकार की दोहरी हिंसा का फल भी भावहिंसा के समान ही जीवन को वर्बाद करने वाला होता है।

चौथा भंग है—न भावहिंसा हो और न द्रव्यहिंसा हो। यह हिंसा की दृष्टि से शून्य भंग है। यहाँ हिंसा को किसी भी रूप में स्थान नहीं है। ऐसी परिपूर्ण अहिंसा मुक्त अवस्था में होती है। न मारने की वृत्ति और न मारना, यह सर्वोच्च आदर्श स्थिति है।

इस प्रकार हिंसा की वारीकियों को जब आप समझ जाएँगे तो अहिंसा भी आपकी समझ में आ जाएगी।

———o———

में रहती है ? जब यह बात ध्यान में आ जाती है तो अहिंसा का शुद्ध रूप भी हमारे ध्यान में आ जाता है।

एक तरफ शरीर है और दूसरी ओर आत्मा है। यह जो बंधन होते हैं हमारे जीवन के ऊपर, सो ये बंधन शरीर के द्वारा होते हैं या आत्मा के द्वारा? जीवन में एक प्रकार की जो चंचलता, जो हलचल-सी रहती है, जिसे शास्त्र की परिभाषा में योग कहते हैं, उसी के द्वारा कर्म ढलते रहते हैं। यह हलचल न अकेले शरीर में होती है और न अकेली आत्मा में, बल्कि एक दूसरे के प्रगाढ़ सम्बंध के कारण दोनों में होती है। आप गहराई से विचार करेंगे तो मालूम हो जायगा कि न केवल शरीर द्वारा और न केवल आत्मा के द्वारा बंधन हो सकता है। केवल शरीर द्वारा बंधन होता तो जब आत्मा नहीं रहती और शरीर मुर्दा हो जाता है, तब भी कर्म बंधन होना चाहिए। मगर ऐसा नहीं होता। तो समझ लीजिए कि यह शरीर तो जड़ है। यह अपने आप में कुछ नहीं है यह तो मिट्टी का ढेला है जो अपने आप कुछ करने वाला नहीं है। जब तक आत्मा की किरण नहीं पड़ती, आत्मा का स्पन्दन नहीं होता, तब तक शरीर को क्या करना है ? यदि उसके द्वारा अपने आप से कुछ करना-धरना होता तो आत्मा के निकल जाने पर भी कर्म-बंधन होता।

प्रश्न होता है, शरीर कर्म नहीं बाँधता तो क्या आत्मा बाँधती है ? और यह जो शुभ या अशुभ जीवन-धाराएँ बह रही हैं,

सो शरीर में से नहीं वह रही है तो क्या आत्मा में से वह रही है? यदि आत्मा ही शुभ और अशुभ कर्मों का संचय कर रहा है, ऐसा मान लिया जाय तो जैनधर्म की मर्यादा साफ नहीं होती। आत्मा स्वयं, विना शरीर के यदि कर्म-बन्धन कर सकती है तो सिद्धदशा में भी कर्म-बन्धन होना चाहिए। मोक्ष में क्या है? वहाँ सिद्धत्व रूप है, ईश्वरीय रूप है और परम विशुद्ध परमात्मदशा है। वहाँ शरीर नहीं रहता, केवल आत्मा रहती है। यदि आत्मा ही कर्म-बन्धन का कारण है तो सिद्धों को भी कर्मबन्धन होना चाहिए। वहाँ भी शुभ और अशुभ कर्म होने चाहिए। मगर ऐसा होता नहीं है। वहाँ आत्मा कर्मबन्धन से अतीत, विशुद्ध ही रहती है। अत-एव स्पष्ट है कि अकेली आत्मा से भी कर्मों का वन्धन नहीं होता।

अव यह स्पष्ट है कि कर्मवन्धन होता है आत्मा और शरीर के संयोग से। जब तक दोनों मिले होते हैं, तव तक संसारी दशा में कर्मवन्धन चला करता है। जव दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, न केवल स्थूल-शरीर वल्कि सूक्ष्म शरीर भी आत्मा से अलग हट जाता है, तव कर्मवन्धन का अन्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग से यह वन्धन की गाँठ आई है।

कल्पना कीजिए, भंग है और वह अधिक से अधिक तेज घोट कर रक्खी गई है। अव प्रश्न है कि यह जो नशा है, उन्माद है और नशे का पागलपन है सो भंग में है या पीने वाले में है? यदि

पीने वाले में है तो भंग पीने से पहले भी उसमें उन्माद होना चाहिए, दीवानापन होना चाहिए, किन्त ऐसा तो हम देखते नहीं हैं। भंग पीने से पहले पीने वाले में पागलपन नहीं होता।

विचार होता है, जो पीने वाला है, आत्मा है, उसमें नशा नहीं है, उन्माद नहीं है, तो क्या भंग में है ? अगर भंग में ही है तो भंग जब घोट कर गिलास में रक्खी गई हो तब उसमें भी दीवानापन आना चाहिए। मगर देखते हैं, वहाँ भी कुछ नहीं है। वह वहाँ शान्त रूप में, लोटे या गिलास में पड़ी रहती है। किन्तु जब पीने वाले का संग होता है तब जाकर नशा खिलता है, उन्माद और पागलपन आता है। तात्पर्य यह हुआ कि अकेली भंग और अकेली आत्मा में नशा नहीं है, बल्कि जब दोनों का संग होता है तब उन्माद पैदा होता है।

तो अकेले शरीर पर दोष मत रखिए और न अकेली आत्मा को अपराधी समझिए। जब आत्मा निस्संग हो जाती है, नारायण बन जाती है तब उसमें कोई हरकत या स्पन्दन नहीं रह जाता है। इसी को योगनिरोध कहते हैं। जब तक आत्मा और शरीर का ऐहिक संसर्ग है, तब तक योग है, और जब तक योग है तभी तक कर्मबन्धन है।

इस प्रकार जैनधर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट हो रहा है कि हिंसा की धारा किन-किन नालियों द्वारा बह रही है ? आत्मा के द्वारा

हिंसा होती है, किन्तु वह शरीर के द्वारा होती है। शरीर में मन की और वचन की धारा भी वहती है। यह तीनों 'योग' कहलाते हैं। अब प्रश्न यह है कि हम हिंसा पर प्रतिबन्ध डालें तो किधर से? हम स्थूल शरीर को भी पाप करने से रोक देते हैं, वचन को भी ग़लत काम करने से रोक देते हैं और मन को भी अशुभ संकल्प करने से रोक देते हैं। शरीर पर नियंत्रण किया तो शरीर के द्वारा होने वाले पाप रुक जाते हैं, वचन पर काबू रखने से वचन द्वारा होने वाले पाप रुक जाते हैं और मन पर अंकुश लगा देने से मानसिक पाप रुक जाते हैं। इस प्रकार मन, वचन, काय, यह तीन आधारभूमिकाएँ हैं और इन तीनों के भी तीन-तीन भेद हैं। मन से स्वयं हिंसा करना, दूसरे से कराना और अपनी ओर से करना-कराना नहीं किन्तु सिर्फ हिंसा करने वाले के काम का अनुमोदन-समर्थन करना। इसी प्रकार वचन और काय के साथ भी यह तीनों विकल्प चलते हैं। इन विकल्पों का अन्त इतने में ही नहीं हो जाता है। यह और भी आगे चलते हैं। किन्तु मैं प्रस्तुत शास्त्रीय चर्चा को उन विकल्पों तथा भंगों में लम्बी नहीं ले जाना चाहता। हमें हिंसा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए फिलहाल यहीं तक सीमित रहना है।

श्रावक आनन्द ने दो करण, तीन योग से हिंसा का त्याग किया था। अर्थात् करूँगा नहीं मन, वचन और काय से और

कराऊँगा नहीं मन, वचन, और काय से। यहाँ अनुमोदन की छूट रही हुई है। अब प्रश्न यह है कि एक आदमी तो स्वयं काम करता है और उसमें से पाप आते हैं। दूसरा स्वयं करता नहीं, किन्तु दूसरों से करवाता है और उसमें से भी पाप आते हैं। तीसरा करता नहीं, करवाता भी नहीं, सिर्फ करने वाले की अनुमोदना या सराहना करता है और उसमें से भी पाप आते हैं। मगर प्रश्न है कि इन तीनों में से किसमें पाप ज्यादा हैं? तीनों विकल्पों से आने वाला पाप बराबर-बराबर है या कहीं कम-बढ़ है?

आपके सामने मैंने जो प्रश्न उपस्थित किया है उस पर जरा गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा करने से उसका मर्म आपकी समझ में आ जायगा। आपको मालूम है कि जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है; एकान्तवादी नहीं। वह प्रत्येक सिद्धान्त को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखता है। ऐसी स्थिति में, धर्म, पुण्य या पाप का निर्णय देते समय वह एकपक्षीय निर्णय कैसे देगा? जैनधर्म इस प्रश्न का उत्तर विचारों की विभिन्नरूपता पर छोड़ देता है। विचारों का जो बहाव आता है, वह किसी एक व्यक्ति को किसी रूप में आता है तो किसी दूसरे को दूसरे ही रूप में आता है। कहीं तीव्र तो कहीं मन्द आता है। जब तक भूमिका नीची रहती है, राग-द्वेष की तीव्रता होती है, तब तक विकल्पात्मक विचारों के प्रवाह में भी तीव्रता होती है। जैसे ज़मीन का ढलाव पाकर पानी का प्रवाह

तेज हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की नीची भूमिका में संकल्प-विकल्पों का बहाव भी तीव्रता धारण कर लेता है। जैसे ढलाव में बहने वाला पानी का प्रवाह अनियंत्रित हो जाता है, उसी प्रकार जीवन की भूमिका जब नीची होती है तो विचारों का प्रवाह भी अनियंत्रित रहता है। इसके विरुद्ध जब साधक की भूमिका ऊँची होती है, राग-द्वेष मन्द होते हैं तो साधक जो भी काम करता है, मन्दभाव या अनासक्त भाव से करता है और उसमें तटस्थ बुद्धि भी रख लेता है। विवेक-विचार रखता चला जाता है और कदम-कदम पर नियंत्रण भी बढ़ाता रहता है। वह चलता भी है और रुकता भी है।

जीवन की गाड़ी के सम्बन्ध में एक बार पहले कह चुका हूँ। गाड़ी में दोनों गुण होने चाहिए—आवश्यकता होने पर वह चल भी सके और आवश्यकता होने पर यथावसर रोकी भी जा सके। मोटर है तो उसमें चलने का और समय पड़ने पर ब्रेक लगाते ही रुकने का गुण भी होना चाहिए। हाँ तो जीवन की गाड़ी को भी जहाँ साधक ठीक समझता है, चला लेता है और रोक भी लेता है। वह अपने मन, वचन और शरीर से काम लेता भी है और जब चाहता है तब उनकी गति को रोक भी सकता है। वह हरकत तो करेगा, जीवन को मांस का पिण्ड बना कर नहीं रक्खेगा। रक्खेगा भी तो कहाँ तक रक्खेगा? जीवन तो जीवन है, जड़ नहीं। जगत् में

जीवन तो जीवन के ही रूप में रहेगा, जड़ के रूप में नहीं रह सकता। स्पन्दन उसमें अनिवार्य है। यदि हठात् शरीर और वचन पर ताला भी डाल देगा तो भी मन जो है! वह तो उछल-कूद करता ही रहता है। वह हजारों बनाव और बिगाड़ करता रहता है। मन राजा है। उस पर सहसा ताला किस प्रकार लगाया जायगा? अस्तु, जीवन है तो यह सब हरकतें भी रहेंगी। मगर साधक में इतना सामर्थ्य आना चाहिए कि उसके जीवन की गाड़ी जब गलत रास्ते पर जाने लगे तो उसे रोक दे और सही रास्ते पर मोड़ दे।

हाँ तो एक साधक स्वयं काम करता है। उसमें यदि विवेक है; विचार है और चिन्तन है तो वह यथावसर चलता भी है और बढ़ते हुए पाप प्रवाह को कम भी कर देता है। मार्ग चलते समय कीड़ियाँ आ गईं, बच्चा आ गया या बूढ़ा आ गया तो उन्हें बचा देता है। क्योंकि उसे चलना है, पर विवेक के साथ चलना है।

हमारे यहाँ भारतीय संस्कृति की परम्परा में चलने के लिए भी नियम हैं। सामने से बच्चा आ रहा है और रास्ता तंग है तो वयस्क पुरुष या स्त्री को किनारे पर खड़ा हो जाना चाहिए और उस बच्चे को सुविधा देनी चाहिए। उसका सन्मान करना चाहिए। बच्चा दुर्बल है और उसे इधर-उधर भटकाना उचित नहीं, क्योंकि वह गड़बड़ में पड़ जायगा। इसलिए उसे सीधे नाक की राह जाने दो। अगर कोई

बहिन आ रही है तो भारतीय संस्कृति का तकाजा है कि पुरुष को बच कर एक ओर खड़ा हो जाना चाहिए और उसे सीधी राह से चलने देना चाहिए। कोई वृद्ध आ रहा है तो नौजवान को अलग किनारे खड़ा हो जाना चाहिए और वृद्ध को इधर-उधर नहीं होने देना चाहिए। उसकी जईफी का खयाल रख कर उसे सुविधा के साथ चलने देना चाहिए। यदि कोई राजा आ रहा है तो प्रजा का अधिकार है कि वह उसे रास्ता दे और किनारे खड़ी हो जाय। पहले राजा थे, अब इस जमाने में नेता या संरक्षक होते हैं। न मालूम वे कहाँ किस महत्त्व पूर्ण कार्य के लिए जा रहे हैं? उनके रास्ते में रोड़ा क्यों अटकाया जाय? और यदि सामने से साधु-संत आ रहे हों तो राजा को भी रास्ता बचा कर किनारे खड़ा हो जाना चाहिए और साधु को सीधा चलने देना चाहिए। प्रश्न होता है, साधु को भी कहीं रुकना चाहिए कि नहीं? सभ्यता और संस्कृति की आत्मा अपने आप ही बोल उठती है कि साधु चल रहा है और सामने से कोई मजदूर वजन लादे आ रहा है तो साधु को भी रास्ता छोड़ किनारे खड़ा हो जाना चाहिए। जो मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चल रहा है, बोझ से हाँफता और पसीने से लथपथ हुआ चल रहा है, उसे हटने के लिए न कहा जाय। चाहे कोई राजा हो या साधु-सन्त हो, उस मजदूर के लिए सब को हटना है।

यह सब क्या है ? यही चलने के साथ जरूरत पड़ने पर 'ब्रेक' लगाना है। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर अपने जीवन को इधर-उधर खड़ा कर लेना चाहिए। यह नहीं कि गाड़ी छूट गई सो बस छूट ही गई। वह कहीं भी टकराये किन्तु तनिक भी हम इधर-उधर न होंगे ! नहीं, साधक को बच कर चलना चाहिए। आशय यह है कि जीवन की जो भी गतियाँ हैं, उनमें खाना, पीना, पहनना आदि सभी कुछ सम्मिलित है। उन सब में प्रवृत्ति भी करनी है और निवृत्ति भी। प्रवृत्ति करते समय वातावरण, समय, व्यक्ति और स्थान आदि का यथोचित ध्यान रखना आवश्यक है। जीवन की गति को विवेक पूर्वक रोके भी रखना है और आगे भी बढ़ना है।

इतनी भूमिका के बाद इस प्रश्न का उत्तर सरल हो जाता है कि करने में ज्यादा पाप है, या कराने में ज्यादा पाप है या अनुमोदन में ज्यादा पाप है ? पहले ही कहा जा चुका है कि जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ भी वास्तविकता का पता लगाया जा सकता है।

जो साधक अविवेकी है और ठीक ढंग से काम नहीं कर सकता है, फिर भी यदि वह आग्रहपूर्वक, ऊँची पद्धति से स्वयं काम कर सकता है किन्तु वह स्वयं न करके किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नहीं है, जो उस काम को विवेक के साथ नहीं कर सकता, आग्रहपूर्वक करवाता है तो ऐसी स्थिति में करने की

अपेक्षा करवाने में ज्यादा पाप होता है। हमारे पुराने संत एक कहानी कहा करते हैं:—

किसी के घर वहू आई। उसे घर-गिरस्ती का काम आता नहीं था, क्योंकि सिखलाया नहीं गया था। सासू को मालूम था कि यह कुछ वनाना नहीं जानती। अतएव उसने वहू से कहा—तू रहने दे, मैं भोजन वना लूंगी। मगर वहू बोली-नहीं, मैं ही वनाए लेती हूं। जव सासू ने फिर कहा-अरी! तुझे वनाना नहीं आता है। रहने भी दे! तो वहू बोली-आता क्यों नहीं है! अभी वनाकर दिखाए जो देती हूँ। इतना कह कर वह भोजन वनाने वैठी तो आटे में पानी ज्यादा डाल दिया। रोटी वनाने के लिए आटे में जो कड़क रहनी चाहिए, वह नहीं रही। तव सासू ने कहा—मैंने पहले ही कहा था कि तुझे भोजन वनाना नहीं आता। आटा पतला कर दिया न? वहू ने सहज भाव से कहा-अव क्या करोगी? सासू ने कहा-पुए वनाये देती हूँ। ठहर जा। वहू ने फिर कहा-इसके पुए तो मैं ही वना लूंगी। जरा वतला भर दो कि अव क्या करना है? सासू ने थोड़ा-सा पानी और डालने के लिए कहा तो उसने कुछ अधिक पानी डाल दिया। अव आटा विलकुल तरल हो गया, पानी ही पानी हो गया। यह देख सासू ने कहा-मैंने कहा था रहने दें, मगर तू न मानी। अव इसका कुछ नहीं वनेगा और इसे फैंकना पड़ेगा। तव वहू बोली—फैंकने का काम तो मैं भी कर लूंगी। इसमें कौन-सी शास्त्र की जरूरत है! वह

आटा लेकर डालने चली और जब ऊपर की मंजिल की खिड़की के पास पहुँची तो सासू ने उसे हिदायत देते हुए कहा—भले आदमी को देख कर डालना। आज्ञाकारिणी बहू सासू की हिदायत के अनुसार खड़ी ताकती रही और ज्यों ही कोई भला आदमी उधर से निकला, त्यों ही ऊपर उंड़ेल दिया।

सचमुच कोई भला आदमी होता तो शायद इतनी गड़बड़ न मचती। मगर बहू के दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। पानी उड़ेंलते ही हंगामा मच गया। नीचे वाला आदमी बकबक करने लगा। कहने लगा—जान-बूझ कर यह शरारत की गई है और मेरे कपड़े बिगाड़े गए हैं। लोग इकट्ठे हुए और बीच-बचाव किया गया।

सासू ने पूछा—अरी पगली, यह तू ने क्या किया?

बहू बोली—जो आपने कहा था वही तो किया! आपने नहीं कहा था कि भले आदमी को देख कर डालना?

सासू ने अपना कपाल ठोक कर कहा—भली बहू मिली!

हाँ तो कोई बहिन हो या भाई हो, सब के जीवन की एक ही राह है। ऐसा नहीं है कि बहिनें एक पगडंडी से चलेंगी और भाई दूसरी पगडंडी से चलेंगे; और वह एक पगडंडी है विवेक की। यदि विचार ठीक है, विवेक है, तो करना और कराना दोनों ही ठीक हैं। विवेक के द्वारा पाप से बचा जा सकता है। किन्तु जहाँ अविवेक है,

अज्ञान है, फिर भी मनुष्य आग्रहपूर्वक काम करता या कराता है, बचने या बचाने की चेष्टा नहीं करता है, ब्रेक नहीं लगाता है तो अधिक पाप कमाता है। जब शरीर पर नहीं तो वचन पर ब्रेक कैसे रह सकता है? और इस प्रकार काम करता है जिससे ज्यादा हिंसा होती है और फिर उसकी प्रतिक्रिया सब ओर घूम-घूम कर बहुत अशुद्ध वातावरण बना देती है। अच्छा, तो मतलब यह कि जहाँ अविवेक है वहाँ करने में भी ज्यादा पाप है और कराने में भी ज्यादा पाप है। इसके विरुद्ध जहाँ विवेक विद्यमान है वहाँ स्वयं करने में भी और कराने में भी पाप कम होता है। एक बहिन जो विवेकवती है, अगर स्वयं काम करती है, तो वह समय पड़ने पर जीवों को बचा देगी, चीजों का अपव्यय नहीं करेगी और चौके की मर्यादा को अहिंसा की दृष्टि से निभा सकेगी। सेठानी बैठ जाय और हमारी बी०ए० तथा एम०ए० बहिनें भी बैठ जायँ और काम न करें। वे एक नौकरानी को काम सौंप दें, जिसे कुछ पता नहीं कि क्या करना है? वह रोटियाँ सेंक कर आप के सामने डाल देती है। उसमें चौके की अहिंसा सम्बन्धी मर्यादा की बुद्धि नहीं। अपनी अहिंसा की जो संस्कृति है उसके सम्बन्ध में कोई विचारधारा उसे नहीं मिली। इस हालत में भोजन बनाने के काम पर या किसी दूसरे काम पर बिठला दी है तो समझिए कि कराने में ही पाप ज्यादा होगा। अगर कोई बहिन स्वयं विवेक के साथ करेगी, अपना विवेक उसमें डालेगी और कदम-कदम पर अहिंसा का

जीवन लेकर चलेगी और अपार करुणा एवं दया की लहर लेकर चलेगी। उसे खयाल होगा कि खाने वाले क्या खाते हैं और वह उनके स्वास्थ्य के अनुकूल है या प्रतिकूल! किन्तु उसने आलस्यवश स्वयं न करके विवेकशून्य नौकरानी के गले मढ़ दिया तो वह कब देखने लगी कि पानी छना है या नहीं, आटा देखा गया है या नहीं, कीड़े-मकोड़े पड़े हैं या नहीं? और इस तरह वह चौके को संहारगृह का रूप दे देती है। किसी तरह रोटियाँ तैयार हो जाती हैं और आपके सामने रख दी जाती हैं। इस तरह कराने में भी ज्यादा पाप होता है।

इस प्रकार सत्य का महान् सिद्धान्त आपके सामने आ गया है। इसके विरुद्ध और कोई बात नहीं कही जा सकती। और यह सिद्धान्त जैसे गृहस्थों पर लागू होता है, उसी प्रकार साधुओं पर भी। कल्पना कीजिए, किन्हीं गुरुजी के पास एक शिष्य है। गुरुजी को गोचरी संबंधी नियम-उपनियम, विधि-विधान, सब का परिज्ञान है और शिष्य को भिक्षा संबंधी दोषों का ज्ञान नहीं है। नियमों और विधानों को भी वह अभी तक नहीं सीख-समझ पाया है। वह गोचरी का अर्थ केवल माल इकट्ठा करना ही जानता है। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन नहीं है कि गुरुजी अगर स्वयं गोचरी करने जाते तो विवेक का अधिक ध्यान रख सकते थे। मगर वह गोचरी करने स्वयं नहीं गये और विवेकहीन शिष्य से गोचरी करवाई। उसे पता नहीं कि किसे, कितनी, किस चीज की आवश्यकता है? जिस घर से

भिक्षा ले रहा है वहाँ वृद्धों और बच्चों के लिए बच रहता है या नहीं? उसे 'संघट्टे' का भी कोई ध्यान नहीं है। गोचरी में से वह दोषों का भंडार ही लेकर आएगा। इस प्रकार स्वयं करने की अपेक्षा कराने में ज्यादा हिंसा हो जाती है।

भारतीय संस्कृति की और उसमें भी विशेषतः जैनधर्म की यह शिक्षा है कि हर एक काम विवेक से करना चाहिए। विवेक और चिन्तन हर काम में चालू रहना चाहिए। इस प्रकार करने और कराने में पाप की न्यूनता और अधिकता विवेक और अविवेक पर निर्भर करती हैं। विवेक के साथ 'स्वयं' करने में कम पाप है, जब कि अविवेक पूर्वक दूसरे अयोग्य व्यक्ति से कराने में अधिक पाप है और अविवेक के साथ स्वयं करने में अधिक पाप है जब कि उसी कार्य को विवेक के साथ दूसरे योग्य व्यक्ति से कराने में कम पाप है। यह जैन धर्म की अनेकान्त दृष्टि है।

तीसरा करण रह गया अनुमोदन। एक आदमी काम करता नहीं, कराता भी नहीं, सिर्फ काम करने वालों के काम की सराहना-अनुमोदन करता है। कहीं लड़ाई हुई है। सिर कटे और फटे। एक तमाशबीन बाजार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक लड़ाई और सिर-फुटौवल का समर्थन करता जाता है। कहता है—'वाह! आज बिना पैसे कैसा बढ़िया तमाशा देखने को मिला! बड़ा मजा आया। बहुत अच्छा हुआ कि उसका सिर फूटा और उसकी हड्डी का कचूमर

निकल गया।' ऐसा कह कर लड़ाई की अनुमोदना करने वाला कितना कर्म-बन्धन कर रहा है? वह कितने घोर अज्ञान में फँस रहा है? उसने लड़ाई लड़ी नहीं, लड़वाई भी नहीं, फिर भी सम्भव है वह लड़ने वालों से भी अधिक कर्म बाँध ले। लड़ने वाले आवेश में लड़े हैं। उनकी हिंसा विरोधी की—अपराधी की—हिंसा हो सकती है और सप्रयोजन भी हो सकती है। मगर अनुमोदना करने वाला वह वृथा ही पाप की गठड़ी अपने सिर लाद रहा है। अपराधी की हिंसा तो श्रावक के लिए क्षम्य हो सकती है, पर इस प्रकार के अनुमोदन की व्यर्थ हिंसा श्रावक के लिए भी क्षम्य नहीं हो सकती। यहाँ करने और कराने की अपेक्षा भी अनुमोदन में अधिक हिंसा है।

जीवन में जब हम चलते हैं तो एकान्त पक्ष लेकर नहीं चल सकते। जैनधर्म कहता है कि कभी करने में, कभी कराने में और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है।

एक भाई का मुझे ध्यान आता है। उसने अपने एक नौकर को फल लाने के लिए भेजा। नौकर ग्रामीण बालक था। अज्ञान था। वह सड़े हुए फल लेकर आ गया। वह ले तो आया, किन्तु उस पर हजार-हजार गालियाँ पड़ीं। उस भाई ने स्वयं बतलाया कि उसे इतना आवेश आ गया कि दो-चार थप्पड़ भी उसे जड़ दिये। मैंने उस भाई से कहा—तुमने ऐसे बालक को भेजा जिसे ज्ञान नहीं था, खरीदने के विषय में जिसे विचार और चिन्तन नहीं था। कहते

हो, गुस्सा आ गया, घृणा हुई, मगर उस समय अपनी गलती नहीं टटोली, इसी कारण गुस्सा, आवेश और मारने-पीटने की मनोवृत्ति जागी, फल फेंकने पड़े। दोष तुम्हारा था, किसी और का नहीं। तुम्हारे ही कारण तीन-तीन हिंसाएँ हुईं। तुम विवेकपूर्वक स्वयं काम करते तो इतनी गलत चीजें क्यों होतीं? तुम्हें क्यों घृणा और आवेश होता? और मार-पीट भी क्यों करनी पड़ती?

जीवन में इस प्रकार की जो साधारण घटनाएँ होती हैं, उन्हीं से हम जीवन का निर्णय-सूत्र तैयार करते हैं और समझ लेते हैं कि विवेकपूर्वक काम करने से पाप कम होता है। अनजान से काम कराया तो उसने न जाने कितने जीवों की हिंसा की। इसके अतिरिक्त अपने मन में और नौकर के मन में जो आवेश, घृणा आदि के कारण मानसिक हिंसा-भावहिंसा हुई सो अलग।

जीवन के यह दृष्टिकोण कुछ नये नहीं हैं, बहुत पुराने युग से यों ही चलते आ रहे हैं। जैनधर्म के कुछ इतिहास सम्बन्धी पुराने पन्ने मैं आपके सामने ला रहा हूँ, जिनसे पता चलेगा कि जैन संस्कृति ने जीवन में कभी कुछ ऐसे प्रश्न छेड़े हैं, जहाँ मनुष्य को कराने की अपेक्षा करने की ओर खींचा है और संकेत किया है कि कहीं करने से कराने में ज्यादा पाप होता है।

जैन इतिहास का पहला अध्याय कहाँ से शुरु होता है? भगवान् ऋषभदेव से। वहीं से हम जीवन की कला सीखते हैं। तो भग-

वान् ऋषभदेव के समय, उनके बड़े पुत्र भरत को चक्रवर्त्ती बनने का प्रसंग आया। वह लड़ाइयाँ लड़ते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया। रह गए अपने भाई, जिन्होंने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया था। भरत ने सोचा—जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जाएँ तब तक चक्रवर्त्ती का साम्राज्य पूरा न होगा।

यह सोच कर भरत ने अन्य भाइयों के साथ खास बाहुबली के पास भी दूत भेजा। बाहुबली प्रचण्ड बल के धनी और अभिमानी थे। उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भरत और बाहुबली की विशाल सेनाएँ मैदान में आ डटीं। जब दोनों ओर की सेनाएँ जूझने को तैयार थीं, सिर्फ शंख फूंकने भर की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की एक मीठी लहर पैदा हुई।

वैसे तो इन्द्र के आने की बात आपने सुनी होगी। बहुत-सी लड़ाइयों में या लड़ाइयों के बाद इन्द्र को बुलाया जाता है। मगर इतिहास के मूल में यह बात नहीं है। कोई कारण नहीं कि लड़ाई से होने वाली हिंसा की कल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाय और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति भाव, अनासक्तिभाव और करुणाभाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदास

महत्तर ने आवश्यक चूर्णि में इन्द्रों के आने का उल्लेख नहीं किया है। स्वयं वाहुवली के हृदय में ही करुणा के स्रोत का उमड़ना लिखा है। दिगम्बर परम्परा भी ऐसा ही मानती है।

वास्तविकता यह है कि वाहुवली ने देखा—भरत को चक्रवर्ती बनना है और उसमें रोड़ा मैं हूँ। मेरा स्वाभिमान मुझे आज्ञा देता है कि मैं भरत की आज्ञा स्वीकार न करूँ, क्योंकि वह अनुचित आज्ञा है। भाई को भाई के रूप में सेवा करनी चाहिए। भरत बड़े हैं, मैं छोटा हूँ। इस हैसियत से मैं हजार बार सेवा करने को तैयार हूँ। किन्तु मैं भाई बन कर आज्ञा उठाऊँगा, दास बन कर या गुलाम बन कर नहीं उठा सकता।

वाहुवली की वृत्ति में यही मूल चिन्तन था। उन्होंने सोचा—भरत हैं जो चक्रवर्ती बनने को तैयार हैं, और मैं हूँ जो स्वाभिमान को तिलांजलि नहीं दे सकता। हम दोनों अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए ही तलवारें लेकर मैदान में आये हैं। तो प्रश्न भरत का और मेरा है। बेचारी यह गरीब प्रजा क्यों कट-कट कर मरे? हम दो के झगड़े में, हजारों, लाखों मनुष्य दोनों तरफ के कट मरेंगे, भीषण नरसंहार होगा। न मालूम कितनी सुहागिनें अपने पति को रोने के लिए कोनों में बैठ जाएँगी। कितनी हजार माताएँ अपने कलेजों के टुकड़ों के लिए विलाप करेंगी। कौन जाने कितने पिता अपने पुत्रों

के लिए और कितने पुत्र अपने-अपने पिताओं के लिए हजार-हजार आँसू बहाएँगे ।

तब बाहुबली ने भरत के पास सन्देश भेजा–'आओ भाई ! इस लड़ाई का फैसला हम और तुम दोनों लड़ कर कर लें । यह उचित नहीं कि प्रजा लड़े और हम लोग अपने-अपने कैम्पों में बैठे-बैठे, दर्शकों की तरह लड़ाई देखते रहें । अच्छा हो, सिर्फ हम दोनों आपस में लड़ें और इस अकारण नर-संहार को बचाएँ ।'

इसका अर्थ क्या हुआ ? यही कि करायें नहीं, करें । कराने में जो विराट हिंसा थी, उसे करने में सीमित कर दिया । और जब सीमित कर दिया तो दोनों भाई लड़ाई के मैदान में आये । आँखों का युद्ध हुआ, मुष्टि का युद्ध हुआ । इस सीमित युद्ध में भी बड़ी सीमा यह है कि मरना-मारना किसी को नहीं है । केवल विजय और पराजय का निर्णय करना है । और यह निर्णय तो खून का एक भी बूंद बहाये बिना, इस तरीके से भी हो सकता है । दोनों में इसी तरीके का युद्ध हुआ । संसार के इतिहास में यह सर्वप्रथम अहिंसक युद्ध था ।

यहाँ जैनधर्म का एक सुन्दर दृष्टिकोण उतर आता है और जब मैं इस चीज़ को देखता हूँ तो बाहुबली को हजार-हजार धन्यवाद देने पड़ते हैं । उनके मन में करुणा की कैसी उज्ज्वल धारा आई कि उन्होंने हजारों-लाखों आदमियों को गाजर-मूली की तरह कटते

नहीं देखना चाहा। उन्होंने लड़ने की अपेक्षा लड़ाने में अपने जीवन को अधिक मैला देखा। जैनधर्म जब लड़ाने से लड़ने पर आया तो उसके उस ऐतिहासिक निर्णय का अंग-अंग चमकने लगा।

आगे फिर जैन इतिहास के पन्ने पलटिये। मुनिसुव्रत स्वामी के युग में रामायणकाल आया। रामायण जैन-संस्कृति की दृष्टि से पद्मपुराण के रूप में है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी रामायण की कथा लिखी है और विमल ने भी। भगवान् महावीर के ५०० वर्ष बाद जो विमलरामायण लिखी गई और जो प्राकृत भाषा में है, उसे आप पढ़ेंगे तो मालूम होगा कि उसमें एक नया अध्याय लड़ाई का फैसला करने का है।

एक तरफ बाली है और दूसरी तरफ रावण। बाली से अपना अधिकार मनवाने के लिए और उसे अपने सेवक के रूप में रखने के लिए रावण बड़ी सेना लेकर किष्किन्धा पर चढ़ आया। सेना मैदान में जम गई। दूसरी तरफ से वानरों की विशाल सेना भी आ डटी। दोनों ओर के सेनापति इन्तजार में थे कि कब वह मुहूर्त्त आए कि तलवारें बज उठें और हजारों नरमुंड उछल पड़ें। उसी समय बाली युद्ध के मैदान में पहुँचा। सब से पहले उसके मन में यह तर्क उत्पन्न हुआ कि 'आखिर इन दोनों जातियों के लड़ कर मर जाने से क्या होगा? लाखों इन्सान मौत के घाट उतर जाएँगे, पर नतीजा क्या निकलेगा? जय-पराजय का प्रश्न तो मेरा और रावण का है।

यहाँ तो व्यक्तिगत दावा है और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा है। मैं और रावण विजेता के रूप में रहना चाहते हैं। इसमें इन गरीबों का क्या है? इन्हें सिर कटवाने के लिए क्यों मैदान में खड़ा कर दिया गया है?

आखिर वाली ने रावण के पास संदेश भेजा—"तू बड़ा है और तेरी शक्ति की दुनिया पूजा करती है तो वह शक्ति वास्तव में कहाँ है? तेरे अन्दर है या प्रजा में है? और मेरे मन में भी महत्त्वाकांक्षा जागी हुई है। मैं तुझे सम्राट् नहीं मानता हूँ। तो मेरी प्रजा इसके लिए क्यों उत्तरदायी है? अतः आओ, तुम और हम ही क्यों न लड़ लें? प्रजा को क्यों लड़ाएँ?

जैन रामायण कहती है कि आखिर वाली की बात स्वीकार कर ली गई। दोनों ओर की सेनाओं को एक ओर तटस्थ भाव से खड़ा कर दिया गया। रावण और वाली में ही युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण पराजित कर दिया गया।

जैन साहित्य की यह कथाएँ अर्थहीन नहीं हैं। इनका अर्थ साधारण भी नहीं है। इन कथाओं में युद्ध के अहिंसात्मक दृष्टिकोण का कुशलता के साथ प्रतिपादन किया गया है। एक बुराई जब अनिवार्य हो जाय तो उसकी व्यापकता को किस प्रकार कम किया जा सकता है, हिंसा की प्रवृत्ति को किस तरह सीमित करना चाहिए, यही इन कथाओं का मर्म है। हम देखते हैं कि मनुष्य की हिंसा-

प्रवृत्ति यहाँ कराने की अपेक्षा स्वयं करने के द्वारा किस प्रकार सीमित कर दी गई है ? इस प्रकार लड़ाना महान् आरम्भ की भूमिका है, जब कि लड़ना अल्पारम्भ की भूमिका है।

जो हिटलर लड़ाई लड़ा कर खत्म हो गया है, कहते हैं उसने युद्ध में अपने हाथ से एक भी गोली नहीं चलाई और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नहीं बहाया। वह फौजों को ही लड़ाता रहा। तो क्या उसे पाप नहीं लगा या कम लगा ? पाप लड़ने वाले सैनिकों को ही लगा ? वह कह सकता था–मैं तो अहिंसक हूँ। मैंने लड़ाई नहीं लड़ी। मैंने एक चाकू भी नहीं चलाया। एक भी खून का बूंद नहीं बहाया। गाँव के गाँव नष्ट हो गये। शहर के शहर तबाह हो गये। फिर भी यदि हिटलर या स्टालिन कहे कि हम तो लड़ाने वाले थे, लड़ने वाले नहीं। पाप लड़ने वालों को लगा, लड़ाने वालों को नहीं ! तो उनकी यह युक्ति क्या आपके दिल पर असर करती है ? कोई भी समझदार इस तर्क को स्वीकार कर सकेगा ? नहीं। ऐसी बात नहीं है। वे खुद लड़े होते तो वहाँ शक्ति सीमित होती। दूसरों को लड़ाया तो लाखों-करोड़ों आदमी इकट्ठे किये गये, महीनों और वर्षों तक लड़ाई जारी रही। इस प्रकार स्वयं न लड़कर दूसरों को लड़ाने के द्वारा युद्ध करने में बहुत विराट हिंसा सामने खड़ी हो जाती है।

इन सब बातों पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो

हमारे सामने आ जाता है कि जैनधर्म ने कहीं पर गृह-कार्य आदि दूसरों से कराने की अपेक्षा स्वयं करने मे कम पाप, कहीं करने की अपेक्षा कराने में कम पाप और कहीं करने-कराने की अपेक्षा अनु-मोदन में कम पाप स्वीकार किया है। यह ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनकी सचाई विचार करने पर स्पष्ट हो जाती है।

एक जज है। कत्ल का मुकदमा उसके सामने आया। वह विचारों की गहराई में डुबकियाँ लगाता है और सोचता है। अपने कर्त्तव्य में किसी प्रकार की कोताई या आनाकानी नहीं करता है। उसका विचार है कि अपराधी को तो दण्ड मिले, किन्तु निरपराध को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। अब अदालत चलती है और पुलिस अभियुक्त को पकड़ कर लाती है। वह चाहे वास्तविक अप-राधी को लाई या यों ही, कोई छानबीन किये विना ही किसी निर-पराध को मौत के घाट उतारने के लिए पकड़ लाई। मगर जज विचार करता है—"अपराधी भले ही छूट जाएँ किन्तु एक निरपराध को दण्ड नहीं मिलना चाहिए।" जज का सिंहासन न्याय के अनु-सार केवल दण्ड देने के लिए ही नहीं है, अपितु निरपराध को दण्ड से बचाने के लिए है। एक अच्छे वकील का भी यही आदर्श होना चाहिए। हाँ तो वकीलों की सहायता से खूब अच्छी तरह सोच-विचार कर जज ने छान-बीन की। अभियुक्त अपराधी सिद्ध हुआ और उसे कानून के अनुसार दण्ड मिला।

यहाँ सोचना है कि अपराधी को दंड तो मिला, किन्तु उसके प्रति जज का कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था। वह समाज का कानून बतलाता है कि तुमने अपना जीवन ऐसा विकृत बना लिया है कि समाज नहीं चाहता कि तुम समाज में रहो। अब तुम्हें समाज से विदा हो जाना चाहिए। इस प्रकार अपराधी के प्रति जज के हृदय में घृणा या द्वेष न होने पर भी वह उसे मौत की सजा सुना देता है। अपराधी जल्लाद के सिपुर्द कर दिया जाता है।

जल्लाद उसे लेकर चलता है। वह सोचता है—इसने गुनाह और पाप किया है और समाज की ओर से इसे दण्डित करने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर आया है। इसके पाप कर्मों का फल इसके सामने आ रहा है। मैं तो आज्ञा-पालन के लिए आया हूँ। मैं फाँसी देने वाला कौन हूँ? फाँसी तो इसके दुराचरण दे रहे हैं।

यहाँ एक कर रहा है, दूसरा करा रहा है और हजारों दर्शक उस फाँसी पर झूलते हुए अपराधी को देखने के लिए जमा हो गये हैं। उनमें से कई कहते हैं- अच्छा हुआ जालिम पकड़ा गया! अब देर क्यों हो रही है? जल्दी ही तख्ता क्यों नहीं हटा दिया जाता? और इस खुशी में वे उछलते कूदते हैं।

अब देखना चाहिए कि न्यायाधीश, जल्लाद और उन दर्शकों में से कौन अधिक पाप बाँध रहा है? मनोवृत्ति से जब पाप का गहरा संबंध है तो स्पष्ट है कि जल्लाद यद्यपि फाँसी दे रहा है और न्यायाधीश

ने फाँसी का आदेश दिया है, फिर भी उन दोनों की अपेक्षा दर्शक अपनी मनोवृत्ति के कारण अधिक पाप का बन्धन करते हैं। न्यायाधीश और जल्लाद यदि अन्दर में पूर्ण तटस्थता का पालन कर सकें, एक मात्र कर्त्तव्य पालन की ही भूमिका पर खड़े रहें, व्यक्तिगत घृणा का स्पर्श भी मन में न होने दें तो संभव है उनको पाप का स्पर्श भी न हो। परन्तु विवेकहीन दर्शक व्यक्तिगत घृणा की दल-दल में फँसे हुए निश्चय ही पाप की तीव्रता से मलिन हो जाते हैं।

इस प्रकार जैनधर्म की धार इकहरी नहीं है। वह अनेकान्त दृष्टि से विचार करता है। मगर लोगों ने परिस्थिति का विचार न करके, मनोभूमिका की ओर ध्यान न देकर और विवेक-अविवेक का विवेक भुला कर एकान्त समझ लिया है कि करने या कराने में ही अधिक पाप है! मगर जो महान् जैनधर्म को समझ लेता है वह कभी एकान्त के चक्कर में नहीं पड़ता। इस प्रकार कृत, कारित और अनुमोदित पाप की न्यूनाधिकता को समझने के लिए अनेकान्त-दृष्टि का प्रयोग करना आवश्यक है और यह स्मरण रखना भी कि पाप की अधिकता या हीनता का प्रधान केन्द्रबिन्दु विवेक का होना और न होना ही है।

अहिंसा के दो रूप

[अनुग्रह और निग्रह]

अपने जीवन में किसी को कष्ट न पहुँचाना, अपने व्यवहार द्वारा किसी प्राणी को पीड़ा न देना और उन्हें सुख-शान्ति पहुँचाना अहिंसा है। किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना, अहिंसा है, इस बात से कुछ लोगों को छोड़कर कोई इन्कार करने वाला नहीं है। इस प्रकार जब यह निश्चित है कि अनुग्रह करना अहिंसा है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निग्रह करना क्या है? निग्रह में हिंसा ही है या अहिंसा भी हो सकती है? यहाँ इसी प्रश्न पर विचार करना है।

जब कभी समाज के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ है तो सोचना पड़ गया है और कभी-कभी इधर-उधर भटक जाना पड़ गया

है। इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया गया और जिन्होंने कभी साहसपूर्वक उत्तर देने का प्रयास भी किया तो उन्हें ठीक-ठीक समझा नहीं गया, फलतः लोग गड़बड़ में पड़ गए।

हमें देखना है कि इस विषय में जैनधर्म क्या कहता है? जैनधर्म अनुग्रह में तो अहिंसा स्वीकार करता ही है पर निग्रह के विषय में क्या कहता है? दण्ड में अहिंसा है या नहीं?

यदि दण्ड में अहिंसा नहीं है, क्योंकि जिसे दण्ड दिया जाता है, उसे कष्ट होता है और जब कष्ट होता है तो निग्रह या दण्ड अहिंसा नहीं, हिंसा बन जाता है। और जब वह हिंसा बन गया तो फिर जैनधर्म में आचार्य का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिए। पर हम देखते हैं, वहाँ आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य खास तौर से एक साधु है और जो साधुता एक सामान्य साधु में होती है, वही आचार्य और उपाध्याय में भी होती है। ऐसा नहीं कि साधु तो पाँच महाव्रती हों और आचार्य कोई छठा महाव्रत भी पालता हो। इस प्रकार सामान्य साधु और आचार्य दोनों ही साधुता की दृष्टि से—महाव्रतों के लिहाज से तो समान हैं। हाँ, व्यक्तिगत जीवन की आचारविषयक न्यूनाधिकता हो सकती है और वह तो सामान्य साधुओं में भी हो सकती है और होती ही है। परन्तु उससे साधु और आचार्य का भेद नहीं हो सकता। फिर आचार्य का महत्त्व किस रूप में है?

अगर जैनधर्म अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसा ही है तो आचार्य के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। जैनधर्म में हिंसा को कोई स्थान नहीं है और जब हिंसा के लिए स्थान नहीं है तो हिंसा-स्वरूप दंड के लिए भी जगह नहीं है और जब दण्ड के लिए जगह नहीं है तो फिर आचार्य के लिए भी जगह नहीं होनी चाहिए। क्योंकि आचार्य दण्ड देता है।

आचार्य संघ का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या और कौन क्या कर रहा है? कौन साधक किस पगडंडी पर चल रहा है? सब ठीक-ठीक चल रहे हैं या नहीं? यह निरीक्षण करना आचार्य का उत्तरदायित्व है। जब सब ठीक-ठीक चलते रहते हैं तो सब को उनका अनुग्रह मिलता रहता है, छोटे से छोटे साधुओं को भी। महान् आचार्यों को देखा है कि छोटों के प्रति उनका अनुग्रह अपेक्षाकृत अधिक रहता है। जैसे पिता, पुत्र को प्रेम की दृष्टि से देखता है उसी प्रकार आचार्य भी अपने छोटे से छोटे शिष्य पर अपार प्रेम बरसाते हैं। क्षुल्लकों के समान ही वृद्धों के लिए भी सेवा का पूरा ध्यान रखते हैं। वे निरन्तर इस बात का ध्यान रखते हैं कि संघ में किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए। अगर किसी पर कष्ट आ पड़ता है तो उसकी शान्ति के लिए भावना करते हैं। अध्ययन ठीक चल रहा है या नहीं, स्थविरों की सेवा की सुव्यवस्था है या नहीं, छोटे बालक जो संघ में आये हैं, उनकी

प्रगति हो रही है या नहीं, छोटों की ओर समाज उपेक्षा तो नहीं दिखलाता है कि—अरे ! छोटे साधुओं में क्या रक्खा है; इत्यादि छोटी-बड़ी सभी बातों का आचार्य ध्यान रखते हैं और सब के प्रति यथोचित अनुग्रह रखते हैं।

मगर आचार्य का अनुग्रह तभी तक रहता है जब तक साधक मर्यादा में चलते हैं और शासन की सड़क पर चलते हैं। इसी कारण आचार्य को गोप की उपमा दी गई है। भगवान् महावीर को भी महागोप कहते हैं अर्थात् सब से बड़े गुवाले। गुवाला अपनी गायों, भैंसों और अन्य पशुओं को लेकर चलता है। जब तक पशु ठीक-ठीक चलता है तब तक वह अपने दण्ड का प्रयोग नहीं करता अर्थात् डण्डा नहीं मारता और यदि निष्कारण ही डण्डा मारता है तो समझना चाहिए कि वह पागल हो गया है। गुवाला जब पागल हो तो उसे पशुओं को चराने का अधिकार नहीं देना चाहिए। अलबत्ता जब कोई पशु दौड़ कर आसपास के खेत में मुंह मार देता है तो उसे विवेक के साथ डण्डा मारेगा और वापिस हाँक लेगा। वह उसे इधर-उधर नहीं भटकने देता और मर्यादा से बाहर हरकत करने पर डण्डे से चोट भी लगाता है।

हाँ, तो गुवाले का रूपक भगवान् महावीर के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। भगवान् महागोप थे। आचार्यों को भी संघ का गोप कहा है। यानी साधु और श्रावक जब तक शासन की

मर्यादा में चलते हैं तब तक आचार्य उन्हें दण्ड नहीं देते, बल्कि अपार अनुग्रह की रस-वर्षा करते हैं किन्तु जब देखते हैं कि कोई मर्यादा के बाहर गया है और चला जा रहा है तो उस समय वे उसे डाँटते हैं और गलती करता है तो दण्ड देते हैं। जब दण्ड देते हैं तो आखिर दण्ड तो दण्ड ही है!

वैसे तो साधु का कर्त्तव्य बतलाया गया है कि कदाचित् साधु मर्यादा से बाहर चला जाय या गलती कर बैठे तो उसे तत्काल सँभल जाना चाहिए और स्वयं ही आचार्य को सूचना दे देनी चाहिए कि मुझसे अमुक गलती हो गई है। मनुष्य कितना ही सावधान रहे मगर जब तक वह साधक है, प्रारम्भिक साधना में लगा हुआ है, तब तक उससे कहीं न कहीं, छोटी-मोटी भूल हो ही सकती है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि हर क्षण जीवन में जागते रहो। क्या सबब है कि जागते हुए भी सो जाओ? और बाहर में सोते हो तब भी अन्दर में जागृत रहो।

'असुत्ता मुणी'

'मुणिणो सया जागरंति'

—आचारांग

साधु जागता है तब भी जागता है और सोता है तब भी जागता है। वह जब अकेला है, तब भी जागता है, सब के बीच में है तब भी जागता है, नगर में है तब भी जागता है और वन में

है तब भी जागता रहता है। साधु के सम्बन्ध में जो पाठ आता है, उसमें कहा है:—

"दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा।
सुत्ते वा जागरमाणे वा।"

—दशवैकालिक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन

इस प्रकार साधक को प्रत्येक परिस्थिति में एक ही मार्ग पर चलना है। अकेले में भी और हजारों के बीच में भी, सोते भी और जागते भी, वन में भी और नगर में भी। यह जीवन की गम्भीर समस्या है।

आपने राजस्थान की वीर नारियों के सम्बन्ध में सुना होगा और उस मीरा के सम्बन्ध में तो अवश्य ही, जिसने महलों में जन्म लिया और सोने के महलों में ही जिसका विवाह किया गया और एक दिन जिसे संसार की ताकत ने कहा कि उसे महलों में ही बन्द कर दो, तथापि वह वैभव में बन्द नहीं हो सकी। भगवत्प्रेम का महान् आदर्श उसके हृदय के कणकण में उमड़ता रहा। उसने सोने के सम्बन्ध में क्या ही सुन्दर कहा:—

हेरी मैं तो दर्द दिवानी, मेरा दर्द न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय॥

हाँ, तो जो साधक है वह शूली पर बैठा है। साधु या गृहस्थ कोई भी हो, उसके जो व्रत या नियम हैं, शूली की नोंक पर

है। वहाँ दूसरी कोई फूलों की सेज नहीं है। फूलों की सेज पर सोने वाले तो सम्राट् हैं और खुर्राटे लेना चाहें तो वे ले सकते हैं। मगर जो साधना की शूली की सेज पर बैठा है वह खुर्राटे नहीं ले सकता। उसका तो एक-एक क्षण जागेगा। उसके लिए हर प्रतिज्ञा शूली की सेज है। साधु ने अहिंसा और सत्य आदि की जो प्रतिज्ञायें ली हैं, उनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा शूली की सेज है।

एक भाई कहते हैं कि शूली पर सुदर्शन चढ़े तो फूल बरसे और शूली सिंहासन हो गया। बात ठीक है किन्तु शूली पर चढ़े बिना फूल नहीं बरसते। जब हम जीवन के क्षेत्र में चलते हैं तब यदि उस साधना;शूली की सेज पर नहीं जाएँगे तो फूल नहीं बरसने वाले हैं।

इस दृष्टिकोण से हर साधक को हर समय जागृत रहना है। क्योंकि छद्मस्थ छद्मस्थ है, वह सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हो गया है। वह अपूर्ण है। यदि वह अपूर्ण साधारण साधक, अपने आपको पूर्ण समझने लगता है तो यह उसकी भूल है। इस प्रकार छद्मस्थ होने के कारण कदाचित् वह लड़खड़ा जाता है। मोहनीय कर्म बड़ा बलवान् है। कभी क्रोध की उछाल आ जाती है, कभी मान की लहर आ जाती है तो कभी और कोई तरंग उठ खड़ी होती है।

आपने सुना होगा कि जब लवण समुद्र में तूफानी लहरें

आती हैं तो हजारों देवता उन लहरों को दबाते हैं। वे लहरें दबती हैं यह दूसरी बात है, मगर हमारे हृदय की लहरें तो उछाल मार ही रही हैं और एक बहुत बड़ा तूफान आ रहा है। और जब इतना भयंकर तूफान आ रहा है तो क्या होगा ? तब हम उस त्याग और संयम के चाटू से उस समुद्र को निरन्तर दबाते रहते हैं। कम से कम मन के महासागर में तो यह चीज चलती ही रहती है। फिर भी कभी मन काबू से बाहर हो जाय तो क्या उपाय है ? यही कि आत्म-शुद्धि करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा साधक गलती होने पर फौरन आचार्य के पास पहुँचे, तब तो ठीक है; अन्यथा स्वयं आचार्य दण्ड की व्यवस्था करते हैं और इस तरह अनुग्रह करते-करते कभी निग्रह का भी प्रसंग उपस्थित हो जाता है। अर्थात आचार्य में अनुग्रह करने की शक्ति है तो निग्रह करने की भी शक्ति है। अनुग्रह करते हैं तो पूरा अनुग्रह और दण्ड देते हैं तो भी पूरा-मर्यादा के अनुसार। उन्हें संघ ने यह अधिकार दिया है और उनका यह उत्तरदायित्व है। अगर कोई आचार्य इस उत्तरदायित्व की किसी भी कारण से उपेक्षा करता है तो वह आचार्य पद पर नहीं रह सकता। उन्हें यह पद स्वयं त्यागना होगा या संघ को त्याग करने के लिए बाध्य करना होगा।

इस प्रकार उचित प्रसंग पर दोषी को दण्ड देना आचार्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है परन्तु जब दण्ड दिया जाता है तो दण्ड पाने

वाले को कष्ट होता है। कष्ट होता है तो वहाँ हिंसा होगी या अहिंसा? यदि वह हिंसा है, केवल तकलीफ पहुँच जाना ही हिंसा है तो इस स्थिति में दण्ड देने का अधिकार आचार्य को नहीं रह जाता है। क्योंकि साधु-जीवन में हिंसा का कार्य नहीं किया जा सकता। किन्तु जब हम उस निग्रह एवं दण्ड को अहिंसा मानते हैं तो आचार्य के लिए दोषी को दण्ड देने का अधिकार न्याय-सिद्ध हो जाता है। आचार्य की ओर से दिया जाने वाला दण्ड हिंसा की बुद्धि से, द्वेष की भावना से नहीं दिया जाता है। अपितु जब आचार्य निग्रह करते हैं तो कड़े से कड़ा दण्ड देते हैं, किन्तु उनके मन में अहिंसा रहती है, दया और कल्याण की भावना लहराती है, क्योंकि उनकी उस साधक के प्रति आत्म-शुद्धि की भावना है।

बच्चा जब गन्दा हो जाता है तो माता उसे स्नान कराती है और उसके वस्त्र साफ करती है, तब वह चिल्लाता है, हल्ला मचाता है। उसे तकलीफ होती है और वह नहीं समझता कि मुझे क्यों परेशान किया जा रहा है? मगर जो कुछ किया जा रहा है उसके सम्बन्ध में माता के हृदय से पूछिए कि वह बालक को कष्ट देने के लिए—हिंसा के उद्देश्य से कर रही है या मन में उठती हुई वात्सल्य की हिलोर से प्रेरित होकर कर रही है?

हमारे यहाँ आया है कि आचार्य माता और पिता का हृदय

रख कर साधक को दण्ड दें, शत्रु का हृदय * रख कर दण्ड न दें। दण्ड लेने वाला अगर समझदार है तो वह भी समझता है कि जो दण्ड दिया जा रहा है वह पिता के हृदय से दिया जा रहा है, कल्याण की भावना से दिया जा रहा है, शत्रु की भावना से नहीं दिया जा रहा है। जो कल तक अनुग्रह कर रहे थे, वही आज अकारण इतने कठोर तो क्यों बन सकते हैं ? अस्तु, वे उसे सुधारने के लिए ही कठोर बने हैं।

चने के पौधे को जब तक ऊपर-ऊपर से काटा नहीं जाता, वह ठीक तरह बढ़ नहीं पाता और जब ऊपर से काट-छाँट दिया जाता है तो झट उसका विकास शुरू हो जाता है। इसी प्रकार जब साधक की गलती पर प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता तो उसका विकास भी रुका रहता है और प्रायश्चित्त ले लेने से विकास में प्रगति होती है, अवरोध नहीं होता। ऐसे साधक अपने जीवन में फलते और फूलते हैं तथा महान् बनते हैं।

इस समय क्या हो रहा है ? कौन क्या करते हैं ? किस दृष्टि से दण्ड दिए और लिए जाते हैं ? इसकी चर्चा न करके हम तो मात्र सिद्धान्त की बात कह रहे हैं।

यह एक अपेक्षा है, जिसके बलपर जैनधर्म कहता है कि

---

* देखिए—उत्तराध्ययन सूत्र १, २७-२८।

निग्रह भी अहिंसा है। अपेक्षा तो हर जगह है। निरपेक्ष वचन एकांत-मय होता है और वह जैनधर्म को कभी मान्य नहीं है, कहीं भी स्वीकार नहीं है। और जब हम चिन्तन की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, गहरा विचार करते हैं तो मालूम होता है कि यद्यपि अनुग्रह और निग्रह, यह दो शब्द ऊपर से अलग—अलग अर्थ के वाचक मालूम पड़ते हैं, मगर गहराई में जाने पर अन्ततः दोनों का उद्देश्य और प्रयोजन एक ही हो जाता है। अभी आचार्य के अनुग्रह और निग्रह के संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे यही तो फलित होता है कि वहाँ आचार्य के द्वारा साधक के हितार्थ किया हुआ निग्रह भी अनुग्रह का ही एक रूप है। इसके विपरीत कभी-कभी अनुग्रह भी हिंसा का रूप धारण कर लेता है। मान लीजिए, एक बच्चा बीमार है। डाक्टर ने उसे खीर खाने के लिए मना कर दिया है। पर माता स्नेहवश कहती है— बेटा, खीर खा ले। तो माता का यह अनुग्रह क्या होगा? तात्पर्य यह है कि हर जगह एक-सी बात नहीं होती है, अनुग्रह तथा निग्रह दोनों अपेक्षाकृत हैं। अतएव कभी अनुग्रह निग्रह भी हो सकता है और कभी निग्रह अनुग्रह भी हो सकता है। इसके लिए भावना-जगत् को देखना होता है।

यहीं एक प्रश्न और खड़ा होता है। यदि यह माना जाय कि निग्रह दंड है और दंड देना हिंसा है। ऐसी स्थिति में एक बारह व्रतधारी श्रावक है और वह अपने व्रतों का पूरी तरह पालन

कर रहा है। किन्तु वह एक देश का सम्राट् है, राजा है या अधिकारी नेता है। एक दिन उसके सामने एक समस्या आती है—आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई अत्याचारी विदेशी राजा आक्रमण करता है। अब कहिए वह श्रावक राजा क्या करे? जो आक्रमण करने वाला है, चढ़ कर आने वाला है, वह देश को लूटता है। देश के साथ वहाँ की संस्कृति को भी वर्बाद करता है, माताओं और बहिनों की आबरू बिगाड़ता है। इधर वह श्रावक राजा देश का नायक बना है, प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व लिए हुए है, तब ऐसी स्थिति में उसका क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? राष्ट्र की शान्ति के लिए वह क्या करेगा? वह निग्रह का मार्ग पकड़ेगा और देश की रक्षा करेगा, अथवा देश की लाखों जनता को अत्याचारी के चरणों में अर्पण कर अन्याय के सामने मस्तक टेक देगा? जैनधर्म इस सम्बध में कहता है कि इस प्रकार के प्रसंगों पर हिंसा मुख्य नहीं है, अपितु अन्याय का प्रतीकार मुख्य है, जनता की रक्षा मुख्य है। वह अपनी ओर से किसी पर व्यर्थ आक्रमण करने नहीं जायगा, जो पड़ौसी देश व्यवस्थापूर्वक शान्ति से रह रहा है वहाँ अपनी विजय का झंडा गाड़ने के लिए नहीं पहुँचेगा, किन्तु जब कोई शत्रु बनकर उसके देश में खून बहाने आएगा तब वह कर्त्तव्यपूर्ति के लिए लड़ने की तैयारी करेगा और लड़ेगा। स्थूलप्राणातिपात (हिंसा) का त्याग करते समय, श्रावक ऐसी लड़ाई के लिए पहले से ही छूट रखता है।

प्राणातिपात या हिंसा के दूसरी तरह चार भेद हैं—(१) संकल्पी (२) आरंभी (३) उद्योगी और (४) विरोधी। जान-बूझकर, मारने का इरादा करके किसी प्राणी को मारना संकल्पी हिंसा है। चौके—चूल्हे आदि के कामधंधों में जो हिंसा हो जाती है वह आरंभी हिंसा कहलाती है। खेती-बाड़ी, व्यापार, उद्योग वगैरह करते हुए जो हिंसा होती है वह उद्योगी कहलाती है। और शत्रु का आक्रमण होने पर, देश को विनाश से बचाने के लिए, अन्याय-अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए जो युद्ध किया जाता है और उसमें जो हिंसा होती है, वह विरोधी हिंसा कहलाती है।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में से श्रावक कौन-सी हिंसा का त्याग करता है और कौन-सी हिंसा की उसे छूट रहती है? इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

श्रावक इनमें से सिर्फ संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। मारने की भावना से जो निरपराध की हिंसा की जाती है, उसी का वह त्याग कर पाता है। वह आरम्भी हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि उसे उदर-पूर्ति आदि के लिए आरम्भ करना पड़ता है और उसमें हिंसा होना अनिवार्य है। यही बात उद्योगी हिंसा के सम्बन्ध में भी है। आखिरकार कमाने के लिए जो धन्धे हैं और उन्हें जब किया जायगा तो हिंसा हो ही जाएगी। इस कारण श्रावक उसका भी त्यागी नहीं होता। रही विरोधी हिंसा, सो श्रावक

उसका भी त्यागी नहीं होता। आखिर उसे अपने शत्रुओं से अपनी, अपने परिवार की, अपने देश की, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व उस पर है, यथावसर रक्षा करनी होती है।

तात्पर्य यह है कि स्थूल हिंसा का त्याग करते समय श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करेगा। अर्थात् वह बिना प्रयोजन खून से हाथ नहीं भरेगा—मारने के लिए ही किसी को नहीं मारेगा, धर्म के नाम पर हिंसा नहीं करेगा, और भी इसी प्रकार की हिंसा नहीं करेगा।

रस्किन ने, जो पश्चिम का एक बड़ा दार्शनिक था, उपदेशक, वकील आदि हरेक धन्धे की आलोचना की है। उसकी पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से महात्मा गांधी ने अनुवाद किया है। उसमें रस्किन कहता है—सिपाही का आदर्श यह है कि वह स्वयं किसी को मारने नहीं जाता, किन्तु देश की रक्षा के लिए जब खड़ा होता है तब उससे कत्ल भी हो जाता है और खुद भी कत्ल हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि कत्ल करना उसकी मुख्य दृष्टि नहीं है, बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य रक्षा करना है। और रक्षा करते-करते सम्भव है वह दूसरे को मार दे या खुद भी मर जाय।

कुछ लोग कहते हैं कि जैनधर्म की अहिंसा पंगु है और उसने देश को गुलाम बना दिया और देश में बिगाड़ किया। इस प्रकार सारी बुराइयों का उत्तरदायित्व जैनधर्म पर डाला जाता है।

मगर जैनधर्म में प्रतिपादित अहिंसा के वर्गीकरण को उसकी विभिन्न श्रेणियों और भूमिकाओं को अगर गहराई के साथ सोचा जाए तो उन्हें ऐसा कहने का मौका नहीं मिलेगा। दुर्भाग्य से दूसरों ने तो क्या स्वयं जैनों ने भी जैनधर्म की अहिंसा को समझने में भूल की है, उसे समझने का पूरी तरह प्रयत्न नहीं किया है। क्योंकि समझा नहीं है, तभी तो यह गड़बड़ें पैदा हुई हैं।

रामचन्द्रजी की पत्नी सीता चुरा ली गई। रावण उस पर अत्याचार कर रहा था। सतीत्व को भंग करने की तैयारी हो रही थी। तब राम ने लंका पर आक्रमण करने के लिए सेना तैयार की और युद्ध आरम्भ करने से पहले अंगद आदि के द्वारा समझौते का सन्देश भेजा। रावण समझौता करने को तैयार नहीं हुआ। सीता को लौटाना उसने स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में राम जैन-धर्म से पूछें कि मैं क्या करूँ ? एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न है, गुंडे के आक्रमण पर प्रत्याक्रमण का प्रश्न है, अन्याय, अत्याचार और बलात्कार के प्रतीकार का प्रश्न है और दूसरी तरफ युद्ध का प्रश्न है। आप समझते हैं कि युद्ध तो युद्ध ही है और युद्ध होगा तो हजारों माताएँ पुत्रहीना हो जाएँगी, हजारों पत्नियाँ अपने पति गँवा बैठेंगी, और हजारों पुत्र, पिताओं से हाथ धो बैठेंगे। हजारों घरों के दीपक बुझ जाएँगे, देश के कोने-कोने में रोना-धोना मच जाएगा। और इस प्रकार कुछ के लिए तो सारी जिन्दगी के लिए

रोना शुरु हो जाएगा। हाँ तो ऐसी स्थिति में राम को क्या करना चाहिए ? यही प्रश्न जैनधर्म को हल करना है। इसी दुविधा का समाधान जैनधर्म को तलाश करना है।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि ऐसे मौके पर मौन रहो। किन्तु राम कहते हैं—मैं दुविधा में हूँ और निर्णय करना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? और जिससे वे पूछते हैं, व्यवस्था माँगते हैं, वही मौन पकड़ ले तो मैं पूछता हूँ आपसे कि मौन पकड़ कर क्या किसी समाज की उलझी हुई समस्याओं का हल निकाला जा सकता है ? और ऐसे विकट और नाजुक प्रसंग पर जो धर्म मौन पकड़ लेता हो वह क्या जीवनव्यापी धर्म कहला सकता है ? क्या वह मौन उसकी दुर्बलता का द्योतक नहीं होगा ? उस मौन से उसकी क्षमता में बट्टा नहीं लगता ? क्या यह उस धर्म का लँगड़ापन सिद्ध नहीं करेगा ? ऐसे अवसर पर व्यक्ति को उसका कर्त्तव्य सुझाने के लिए क्या किसी और धर्म की शरण में जाना चाहिए ? अगर जैनधर्म जीवनव्यापी धर्म है, दुर्बल नहीं है, क्षमताशाली है, लँगड़ा नहीं है और उसकी शरण में आने पर किसी दूसरे धर्म से भीख माँगने की आवश्यकता नहीं रहती तो वह मौन नहीं रहेगा। वह उचित कर्त्तव्य की सूचना देगा। और जहाँ तक मैंने जैनधर्म को समझा है, वह सूचना अवश्य देता है।

तो जैनधर्म क्या सूचना देता है ? एक तरफ घोर हिंसा है

और दूसरी तरफ मात्र एक सीता की रक्षा है। रामचन्द्र सोचते हैं— मुझे क्या करना चाहिए? जो लोग यह समझते हैं कि जहाँ ज्यादा जीव मरते हैं, वहाँ ज्यादा हिंसा होती है उनके विचार से तो रामचन्द्र को चुप हो कर किसी कोने में बैठ रह जाना चाहिए, क्यों कि युद्ध में बहुत जीवों की हिंसा होगी और वे जीव भी एकेन्द्रिय नहीं, पंचेन्द्रिय होंगे और उनमें भी फिर मनुष्य! किन्तु जैनधर्म ऐसा नहीं कहता। जैनधर्म तो यह कहता है कि तुम सीता को बचाने के लिए जा रहे हो तो वहाँ एक सीता का ही प्रश्न नहीं है, बल्कि हजारों सीताओं का सवाल है। आज एक गुंडा किसी एक सती पर अत्याचार करता है तो वह वास्तव में एक का ही प्रश्न नहीं है, किन्तु उसके पीछे हजारों—लाखों गुंडों के अत्याचार का प्रश्न है। आज एक गुंडे के अत्याचार को सिर झुकाकर सहन कर लिया जायगा तो कल सैकड़ों और परसों हजारों गुंडे सिर उठाएँगे और संसार में किसी सती की इज्जत—आबरू सही सलामत नहीं रह सकेगी। दुनिया में अत्याचार, अनाचार और बलात्कार का ऐसा दौर शुरु हो जाएगा कि जिसकी कोई हद ही नहीं होगी। फिर धर्म को स्थान कहाँ रह जायगा?

अतएव राम के सामने एक सीता का प्रश्न नहीं था, हजारों माताओं का प्रश्न था। राम को अपने भोग—विलास के लिए एक नारी की आवश्यकता हो और उसके लिए हजारों के गले कटवाने

पर उतारु हो रहे हों, सो बात नहीं है। इस स्थिति के लिए तो जैनधर्म किसी भी तरह की स्वीकृति नहीं दे सकता। वासना की पूर्ति के लिए एक नारी की जीवित मूर्ति चाहिए तो हजारों मिल सकती हैं, फिर क्यों व्यर्थ ही आग्रह वश संहार के पथ पर अग्रसर हो रहे हो? राम के लिए यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जैन रामायण में वर्णन आता है कि रावण ने राम के पास संदेश भेजा था कि एक सीता को रहने दो, मैं उस एक के बदले में कई हजार सुन्दर कुमारिकाएँ तुम्हारे लिए भेज दूँगा। तुम आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करो। मैं आनन्द की सब सामग्री भी तुम्हें दे दूँगा। राज्य चाहिए तो राज्य भी दे दूँगा, मगर सीता को छोड़ दो। किन्तु उस समय राम के सामने भोग-विलास का प्रश्न ही नहीं था। वे इस दृष्टि से सीता को पाने का प्रयत्न नहीं कर रहे थे। वे अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे थे। वे अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए कटिबद्ध हुए थे। एक पत्नी और एक नारी के अपमान की रक्षा के लिए उन्होंने प्रण किया था कि प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना है। यदि राम इस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए चलते हैं तो यह गृहस्थ-जीवन की मर्यादा का पालन है। और उक्त मर्यादा का पालन करते समय, जैनधर्म, हिंसा या अहिंसा की दुहाई देकर किसी का हाथ नहीं पकड़ता, मौन नहीं साधता।

राम ने रावण के साथ युद्ध किया, मगर युद्ध करना उनका

उद्देश्य नहीं था। सीता को प्राप्त करना उनका उद्देश्य था। वे अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में युद्ध का उत्तरदायित्व राम पर पड़ता है या रावण पर ? रावण स्वयं अत्याचार करने को तैयार होता है और उसके सामने माताओं और बहिनों की जिन्दगी का कोई मूल्य नहीं है। उधर राम कहते हैं— मुझे कुछ नहीं चाहिए। न पृथ्वी, न सुन्दर ललनाएँ और न तेरी सोने की लंका का एक भी माशा सोना चाहिए। मुझे मेरी सीता लौटा दे।' जब यह बात नहीं हुई तो युद्ध होता है। स्पष्ट है कि राम ने अत्याचार से सती और सतीत्व की रक्षा के लिए ही युद्ध किया था। तो जैनधर्म कर्त्तव्य से—युद्ध से रामचन्द्र को नहीं रोकता है। अहिंसावादी जैनधर्म अत्याचारी को न्यायोचित दंड देने का अधिकार, गृहस्थ को देता है। अभिप्राय यह है कि श्रावक की भूमिकाएँ कितनी भी ऊँची हों किन्तु जैनधर्म का आदेश है कि जो अन्यायी हो, अत्याचारी हो, विरोधी हो, केवल मानसिक विरोधी नहीं, वास्तविक विरोधी हो, समाज का द्रोही हो उसे यथोचित दंड देने का अधिकार श्रावक रखता है। पर वह वहाँ राग-द्वेष की भावना नहीं, अपितु कर्त्तव्य भावना रखता है। यदि वह सोचता है कि शत्रु का भी कल्याण हो, संघ और समाजका भी भला हो तो वहाँ भी, उस अंश में अहिंसा की सुगंध आती है। शत्रु पर हित बुद्धि रखते हुए उसे होश में लाने के लिए दंड दिया जा सकता है; यह कोई अटपटी बात नहीं है। यह तो

अहिंसक साधक की सुन्दर जीवन कला है।

मुझे उत्तरप्रदेश और पंजाब में घूमना पड़ा है। वहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वालों की चर्चाएँ ज्यादा होती हैं। कृष्ण को युद्ध का देवता माना जाता है। अर्थात् कृष्ण ने युद्ध का बिगुल बजा दिया और संहार हो गया। अतः हमें जीवन के लिए कृष्ण का ही आचार लेना है, ऐसा कहते हुए सुनते हैं। और अनेक बार इस प्रसंग को लेकर जैनधर्म और उसकी अहिंसा पर बहुत भद्दी छींटाकसी भी की जाती है। जब मेरा उनसे वास्ता पड़ा तो मैंने कहा—आपने कृष्ण के मार्ग को ठीक-ठीक नहीं समझा है और उनसे कुछ नहीं सीखा है। कृष्ण का मार्ग तो जैनधर्म का ही एक आंशिक रूप है। आप जब कृष्ण के जीवन पर चलते हैं तो जैनधर्म पर चलते हैं और जब जैनधर्म पर चलते हैं तो कृष्ण के मार्ग पर चलते हैं। महाभारत युद्ध होने से पहले जब पाँचों पाण्डव द्वारिका में आ जाते हैं तो दुर्योधन आदि को समझाने के लिए पहले पुरोहित भेजा जाता है। और जब उसे कामयाबी नहीं होती है तो उसके बाद कृष्ण स्वयं शान्तिदूत का कार्य करने को तैयार होते हैं। कृष्ण क्या साधारण व्यक्ति हैं? वे उस युग के, उस कर्मक्षेत्र में सब से बड़े कर्मयोगी थे और सब से बड़े सम्राट् थे। वे स्वयं दूत बनकर दुर्योधन की सभा में जाते हैं।

आप से काम पड़ जाय तो कहेंगे—हमें क्या पड़ी है? हम क्यों अपनी नाक छोटी करवाएँ? यों साधारण आदमी की नाक पर

भी सिकुड़न आ जाती है।

मगर कृष्ण ने अपनी मान-मर्यादा की कोई परवाह नहीं की, अपनी प्रतिष्ठा का कुछ भी विचार नहीं किया और दूत बन कर दुर्योधन के पास चले। दुर्योधन की सभा में पहुँच कर उन्होंने जो भाषण दिया वह संसार के भाषणों में अपना महत्त्व रखता है। जब मैंने महाभारत में वह भाषण पढ़ा तो मैं गद्गद हो गया। उन्होंने कहा— "मैं खून का दरिया नहीं बहाना चाहता। खून का दरिया बहाते हुए जो नजारा दिखाई देता है वह मैं नहीं देखना चाहता। मैं नहीं चाहता कि नौजवानों की ताक़त खत्म हो जाय, बड़ों-बूढ़ों की इज्जत खत्म हो जाय और हजारों-लाखों माताओं-बहिनों को रोना पड़े। दुर्योधन ! तुम अन्याय कर रहे हो, अत्याचार पर उतारू हो रहे हो। यह मार्ग ठीक नहीं है। राज्य पर पाण्डवों का अधिकार है। अगर तुम उनका राज्य उन्हें नहीं लौटा सकते तो पाँच गाँव ही उन्हें दे दो। मैं पाण्डवों को समझा दूँगा और उन्हें इतने में ही सन्तुष्ट कर लूंगा।"

जो कृष्ण दुर्योधन के सामने इस प्रकार झोली फैलाकर खड़े होते हैं, वे हिंसा के देवता हैं या अहिंसा के? उन्होंने हिंसा को टालने का कितना प्रयत्न किया? और जो आगे आने वाली हिंसा है उसके पीछे हृदय में कितनी अहिंसा छिपी है? पाँच गाँव का समझौता कितना बलिदान पूर्वक किया जाता है, यह जरा गहराई में

उतर कर देखिए।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण हिंसा के राक्षस नहीं, अहिंसा के देवता थे। किन्तु जब उनकी नहीं चली और कोई समझौता नहीं हो सका तो मजबूरन लड़ाई लड़नी पड़ी। वह लड़ाई रस लेने के लिए नहीं लड़ी गई। अन्याय और अत्याचार को रोकने का जब कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया तब युद्ध का मार्ग अपनाया गया। और इस स्थिति में हम कृष्ण को अहिंसा की दृष्टि से देवता और दुर्योधन को हिंसा की दृष्टि से राक्षस देखते हैं।

इन सब बातों पर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि केवल अनुग्रह ही अहिंसा नहीं है, अहिंसा का दायरा इतना छोटा नहीं कि कष्ट न पहुँचाना और साता पहुँचाना ही अहिंसा हो, बल्कि अत्याचार को रोकने का प्रश्न उपस्थित होने पर, एक अंश में, निग्रह भी अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। जैनधर्म अनेकान्तवादी है और उसे इसी दृष्टि से देखेंगे तभी उसका सही रूप दिखाई देगा और हमारी भावना का समाधान होगा।

हिंसा का गज

आज हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में हमें एक नवीन और महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है। आप जानते हैं कि जगत् में असंख्य प्रकार के प्राणी हैं और बारीकी से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यह असंख्य प्रकार भी अपने आप में अनेक प्रकार के हैं। तात्पर्य यह है कि जब हम विश्व की असीम जीवराशि पर विचार करना आरम्भ करते हैं तो एक नहीं, अनेक आधार ऐसे पाते हैं, जिनसे जीवराशि का वर्गीकरण होता है। उदाहरणार्थ कोई [illegible] एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चौइन्द्रिय और कोई पंचेन्द्रिय है। और कोई स्थूल शरीर वाला है, [illegible] ऊँट है, या एक हजार योजन की महान् अवगाहना वाला [illegible] है तो कोई सूक्ष्म शरीर वाला भी होता है। आपने [illegible] सुई की नौक के बराबर निगोद-काय के छोटे-से [illegible] जीवों का निवास होता है।

यहाँ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के रूप में जो वर्गीकरण किया गया है, वह उन जीवों के शरीर की बनावट के आधार पर है और साथ ही उनकी चेतना के विकास की तरतमता के आधार पर भी। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय जीवों के शरीर की बनावट में अन्तर होता है। मगर शरीर की बनावट का ही भेद उनमें हो और कोई भेद न हो, ऐसी बात नहीं है। उनमें क्रमशः इन्द्रियों की संख्या बढ़ती चली गई है और इस कारण उनकी चेतना का विकास भी अधिक से अधिकतर होता चला गया है।

यह तो उन जीवों की बात हुई जिन्हें हिंस्य कहते हैं, जिनकी हिंसा की जाती है। मगर हिंसा करते समय हिंसक भी सब एक रूप नहीं होते। किसी के अन्तःकरण में हिंसा की भावना बहुत उग्र होती है, क्रोध की ज्वाला बड़ी ही तीव्र होती है, द्वेष की वृत्ति अत्यन्त बलवती होती है और किसी के हृदय में हिंसा की वृत्ति मध्यम होती है, या मन्द होती है या जैसा कि सिर्फ द्रव्यहिंसा की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, हिंसा की वृत्ति होती ही नहीं है।

इस प्रकार हिंस्य और हिंसक की नाना भूमिकाएँ हैं और इन दोनों के योग से ही हिंसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि सब हिंसाएँ एक ही कोटि की होती हैं या उनमें कुछ अन्तर है? अगर हिंसा मात्र एक ही कोटि की होती है तब तो शाक-सब्जी खाना और माँस खाना एक

ही कोटि में होना चाहिए ? अगर ऐसा नहीं है और हिंसा में किसी प्रकार का तारतम्य है, कोई हिंसा बड़ी और कोई छोटी है तो उसका आधार क्या है ? किस गज से हिंसा का बड़ापन और छोटापन नापना होगा ? मरने वाले जीवों की संख्या की अल्पता पर हिंसा की अल्पता और अधिकता पर हिंसा की अधिकता निर्भर है ? अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिंसा की अधिकता और हीनता अवलम्बित है ? अथवा हिंसक की हिंसामयी वृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिंसा की अधिकता और न्यूनता आधारित है ? आखिर वह कौन-सा नाप है कि जिससे हम हिंसा को सही तरीके से नाप सकें ?

कोई कहते हैं—"पानी, पृथ्वी, अग्नि, हवा और वनस्पति के जीव भी जीव हैं, उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। करुणा की भाषा में कहिए तो वे भी बेचारे जिन्दगी रखते हैं, गूंगे हैं, इसलिए उनका मूल्य नहीं है आपकी आँखों में ? और द्वीन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के जो बड़े-बड़े प्राणी हैं, उन्हीं की जिंदगी का आप मोल समझते हैं ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीब हैं, जो अपने आपमें कुछ सामर्थ्य नहीं रखते हैं और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं योग्य नहीं हैं, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा कम मानी जायगी और जो पंचेन्द्रिय हैं, समर्थ हैं, बोल सकते हैं, उनकी हिंसा बड़ी मानी जायगी ?

यहाँ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि के रूप में जो वर्गीकरण किया गया है, वह उन जीवों के शरीर की बनावट के आधार पर है और साथ ही उनकी चेतना के विकास की तरतमता के आधार पर भी। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय जीवों के शरीर की बनावट में अन्तर होता है। मगर शरीर की बनावट का ही भेद उनमें हो और कोई भेद न हो, ऐसी बात नहीं है। उनमें क्रमशः इन्द्रियों की संख्या बढ़ती चली गई है और इस कारण उनकी चेतना का विकास भी अधिक से अधिकतर होता चला गया है।

यह तो उन जीवों की बात हुई जिन्हें हिंस्य कहते हैं, जिनकी हिंसा की जाती है। मगर हिंसा करते समय हिंसक भी सब एक रूप नहीं होते। किसी के अन्तःकरण में हिंसा की भावना बहुत उग्र होती है, क्रोध की ज्वाला बड़ी ही तीव्र होती है, द्वेष की वृत्ति अत्यन्त बलवती होती है और किसी के हृदय में हिंसा की वृत्ति मध्यम होती है, या मन्द होती है या जैसा कि सिर्फ द्रव्यहिंसा की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, हिंसा की वृत्ति होती ही नहीं है।

इस प्रकार हिंस्य और हिंसक की नाना भूमिकाएँ हैं और इन दोनों के योग से ही हिंसा की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि सब हिंसाएँ एक ही कोटि की होती हैं या उनमें कुछ अन्तर है? अगर हिंसा मात्र एक ही कोटि की होती है तब तो शाक-सब्जी खाना और माँस खाना एक

ही कोटि में होना चाहिए ? अगर ऐसा नहीं है और हिंसा में किसी प्रकार का तारतम्य है, कोई हिंसा बड़ी और कोई छोटी है तो उसका आधार क्या है ? किस गज से हिंसा का बड़ापन और छोटापन नापना होगा ? मरने वाले जीवों की संख्या की अल्पता पर हिंसा की अल्पता और अधिकता पर हिंसा की अधिकता निर्भर है ? अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता और सूक्ष्मता पर हिंसा की अधिकता और हीनता अवलम्बित है ? अथवा हिंसक की हिंसामयी वृत्ति की तीव्रता और मन्दता पर हिंसा की अधिकता और न्यूनता आधारित है ? आखिर वह कौन-सा नाप है कि जिससे हम हिंसा को सही तरीके से नाप सकें ?

कोई कहते हैं—"पानी, पृथ्वी, अग्नि, हवा और वनस्पति के जीव भी जीव हैं, उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। करुणा की भाषा में कहिए तो वे भी बेचारे जिन्दगी रखते हैं, गूंगे हैं, इसलिए उनका मूल्य नहीं है आपकी आँखों में ? और द्वीन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के जो बड़े-बड़े प्राणी हैं, उन्हीं की जिंदगी का आप मोल समझते हैं ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो मूक शिशु के समान बेचारे गरीब हैं, जो अपने आपमें कुछ सामर्थ्य नहीं रखते हैं और जो अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं योग्य नहीं हैं, ऐसे एकेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा कम मानी जायगी और जो पंचेन्द्रिय हैं, समर्थ हैं, बोल सकते हैं, उनकी हिंसा बड़ी मानी जायगी ? यह

सिद्धान्त ठीक नहीं है। सब जीव बराबर हैं, क्या एकेन्द्रिय और क्या पंचेन्द्रिय। हिंसा का आधार एकमात्र जीव है, जीवों का छोटा-बड़ापन नहीं।"

हमारे बहुत-से साथी कहते हैं कि 'यह जो आपका विचार करने का ढंग है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में तारतम्य है, और आप उनकी हिंसा को कम-बढ़ मानते हैं सो शास्त्र-सम्मत नहीं है। एकेन्द्रिय की हिंसा भी हिंसा है। जब दोनों हिंसाएँ हिंसा स्वरूप से बराबर हैं तो कमती-बढ़ती कैसे हो गई? हिंसा सभी एक जैसी होनी चाहिए।"

इन्हीं विचारों में से राजस्थान में एक पथ का जन्म हुआ है। यों तो उस पंथ के जनम लेने के और भी कई कारण सुने जाते हैं, पर यहाँ उन कारणों की तफसील में नहीं जाना है। मनुष्य को विचारों का द्वन्द्व ही धोखा देता है। हां तो मूल में कोई कारण रहा हो किन्तु हिंसा—अहिंसा की व्याख्याओं ने भी कुछ कम धोखा नहीं दिया है और उन्हीं व्याख्याओं के कारण भ्रान्तियाँ पहले भी और आज भी चली और चली आ रही हैं। कुछ भी हो, यह प्रश्न गंभीरता से विचारने योग्य है।

हाँ, तो मूल बात पर आ जाएँ। अब यह एक नई चीज पैदा हुई कि जीव जीव सब एक तो हिंसा भी बराबर है। उनमें से किसी की हिंसा कम और किसी की ज्यादा कैसे हुई? इस पर प्रश्न खड़ा हुआ

कि फिर भी कोई कम हिंसक और कोई ज्यादा हिंसक कहलाता है तो आखिर इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न का एक नया हल निकाला गया है। वह यह कि जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे वहाँ ज्यादा हिंसा और जहाँ कम मरेंगे वहाँ कम हिंसा होगी। इस मान्यता को आश्रय दिया तो जीवों की गिनती शुरु हो गई। जब जीवों की गिनती शुरु हो गई तो कई प्रकार के दूसरे तर्क पैदा होने लगे। एक आदमी भूखा-प्यासा आपके दरवाजे पर आया है। प्यास से छटपटा रहा है और मरने वाला है। अगर आप उसे एक गिलास पानी देते हैं तो वहाँ हिंसा की तरतमता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। एक तरफ एक जीव बचता है और दूसरी तरफ कितने जीव मरते हैं ? पानी में असंख्यात जीव हैं. एक बूंद में भी असंख्यात जीव हैं। वे सब मर जाते हैं। इस प्रकार एक जीव बचा और उसके पीछे असंख्यात जीव मारे गये तो यहाँ धर्म कैसे हुआ ? और पुण्य कहाँ से होगा ? यह तो वही बात हुई कि एक समर्थ की रक्षा करली किन्तु उसके पीछे असंख्य असमर्थों को मार दिया। इस प्रकार जीवों को गिन-गिन कर हिंसा की तरतमता कूती जाती है।

क्या सचमुच जैनधर्म का यही दृष्टिकोण है कि जीवों को गिन-गिन कर हिंसा का हिसाब लगाया जाय ? जीवों को गिन-गिन कर हिंसा और अहिंसा का मार्ग तैयार करना जैनधर्म को इष्ट नहीं है। आगम और पुरानी परम्परा को मालूम करेंगे तो आप को विदित होगा

कि जैनधर्म जीवों को गिनने नहीं चला। वह तो भावों को गिनने चला है। वह संख्या का बाहरी गज नहीं लेगा। वह तो भावनाओं के गज से ही हिंसा का मन्दत्व और तीव्रत्व नापेगा।

भावहिंसा और द्रव्यहिंसा के प्रकरण में तंदुल मत्स्य का शास्त्रीय उदाहरण दिया जा चुका है। बेचारा तंदुल मत्स्य एक भी मछली को नहीं मारता, फिर भी वह घोर से घोर हिंसा का भागी होता है। अगर अधिक जीवों की हिंसा ही अधिक हिंसा का कारण होती तो शास्त्र हमारे सामने तंदुल मत्स्य का उदाहरण पेश न करते। मगर वास्तव में ऐसा है नहीं। यह सिद्धान्त जैनधर्म का नहीं है, यह तो * हस्तीतापसों की मान्यता है। मगर यह मान्यता भूल से जैनों के एक पंथ में भी आ गई है।

पहले बड़े-बड़े तपस्वी होते थे। वे घोर तपस्या करते थे। पारणे का दिन आता तो विचार करते-यदि हम वन-फल खाएँगे तो असंख्य और अनन्त जीव मरेंगे। अनाज वगैरह खाएँ तो उसमें भी जीव होते हैं और सेर दो सेर खाएँगे तो कितने ही जीव मारे जाएँगे। इसमें भी हिंसा ज्यादा होगी। तो फिर क्यों न किसी स्थूलकाय जीव को मार लिया जाय, जिसे हम भी खाएँ और दूसरों को भी खिलाएँ? यह सोच कर वे जंगल में एक हाथी को मार लेते और कई दिनों तक

---

* हस्तीतापसों के लिए देखिए, सूत्रकृताङ्ग सूत्र और उसकी टीका–२,६,५२

उसे खाते रहते। उनका खयाल था कि हम ऐसा करते हैं तो हिंसा कम होती है।

मगर भगवान् ने कहा कि यह समझना गलत है। तुम्हें तो गिनने की आदत हो गई है कि पानी में और वनस्पति में इतने जीव हैं तो हिंसा ज्यादा होगी और एक हाथी को मार लिया तो हिंसा कम हो गई। ऐसा न समझो। जब एकेन्द्रिय की हिंसा की जाती है तो भावों में इतनी तीव्रता नहीं रहती, भावों में उग्र घृणा—द्वेष पैदा नहीं होते, क्रूरता और निर्दयता से हृदय कठोर नहीं बन जाता। मगर पंचेन्द्रिय जीव मारा जाता है तो अन्तःकरण की स्थिति और ही प्रकार की होती है। वह हलचल वाला प्राणी है। जब उसे मारते हैं तो घेरते हैं और जब घेरते हैं तो वह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब भीतर भावों में तीव्रता होगी, क्रूरता, निर्दयता की अधिकता होगी और कषाय प्रज्वलित होगा, तभी उसकी हिंसा की जायगी। एकेन्द्रिय जीव की हिंसा में परिणामों की ऐसी तीव्रता नहीं होती। भगवान् ने यही बतलाने का प्रयत्न किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में भाव एक जैसे नहीं होते हैं, अतएव उनकी हिंसा भी एक जैसी नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों हिंसा की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा में परिणाम अधिक उग्र होंगे और इसलिए हिंसा भी ज्यादा

होती है। द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में ज्यादा, त्रीन्द्रिय से चौइन्द्रिय में ज्यादा और चौइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय में ज्यादा हिंसा इसी कारण मानी जाती है। पंचेन्द्रियों में भी औरों की अपेक्षा मनुष्य को मारने में और भी ज्यादा हिंसा होती है।

हिंसा करने वाले के भाव किस गति से तीव्र, तीव्रतर आदि होते हैं, यह समझ लेना भी आवश्यक है। आप इस बात पर ध्यान दें कि ज्यों-ज्यों विकसित प्राणी मिलते हैं, जिनकी चेतना का जितना अधिक विकास होता है, उन्हें उतना ही अधिक दुःख होता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक उत्तरोत्तर दुःख ज्यादा होता है। दुख एक प्रकार की संवेदना है। संवेदना का संबंध चेतना के साथ है। जिसकी चेतना का जितना अधिक विकास होगा उसे दुख की संवेदना उतनी ही अधिक होगी। जब कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की चेतना अधिक विकसित है तो यह भी स्पष्ट है कि उसे दुख की संवेदना—अनुभूति-अधिक तीव्र होगी। और जब दुख की संवेदना तीव्र होगी तो अपने को बचाने का आर्त्तध्यान और रौद्रभाव भी बढेगा। इधर मारने वाले में भी उतनी ही अधिक क्रूरता और रुद्रता का भाव जागेगा। जो जीव अपने बचाव के लिए जितना ही तीव्र प्रयत्न करेगा, मारने वाले को भी उतना ही तीव्र प्रयत्न मारने के लिए करना पड़ेगा। इस प्रकार पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा तीव्र भाव के विना, अत्यधिक क्रूर परिणाम के विना नहीं हो सकती। यही कारण

है कि उसकी हिंसा भी बड़ी हिंसा कहलाती है और अधिक पाप का कारण होती है। यही कारण है कि भगवती और औपपातिक सूत्र आदि में नरक गमन के कारणों का उल्लेख करते हुए पंचेन्द्रियवध तो कहा है, एकेन्द्रिय वध नहीं।

तो मैं जैनधर्म की ओर से सूचना देता हूँ कि सब को एक ही गज से नहीं नापना है कि सब प्राणी बराबर हैं और सब को मारने में एक जैसी ही हिंसा होती है। यह भी मत समझो कि एक जीव को मारने से कम ही हिंसा होती है और अनेक जीवों को मारने से अधिक ही हिंसा होती है। जैनधर्म में ऐसा कोई एकान्त नहीं है। यह हस्ति-तापसों का मत है, जिसका भगवान् ने निषेध किया है, मगर आज वह भगवान् के गले मढ़ा जारहा है! किन्तु जब असलियत सामने आती है तो सारा भेद खुल कर ही रहता है।

मान लीजिए, इस प्रकार की मान्यता रखने वाला और दूसरों को समझाने वाला साधु किसी गृहस्थ के घर आहार लेने जाता है। गृहस्थ के घर एक तरफ उबाली हुई ककड़ी का शाक है और दूसरी तरफ उबाली हुई मछली है। दोनों चीजें, आहार संबंधी अनुद्दिष्ट आदि नियमों से प्रतिकूल नहीं है। वहाँ वह साधु क्या निर्णय करेगा? जो सब जीवों को बराबर मान कर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककड़ी और मछली में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उसके खयाल में जैसी पीड़ा एकेन्द्रिय को हुई थी वैसी ही पीड़ा पंचेन्द्रिय को हुई

थी। मगर ऐसी बात जब सामने आती है तो असलियत का पता लग जाता है।

जब सब जीव समान हैं और सब का शरीर समान है तो पानी का एक गिलास जैसे पी सकते हो वैसे ही क्या मनुष्य का रक्त भी पिया जा सकता है? जब दोनों ही समान रूप से प्रासुक उपलब्ध हों तो फिर भेद करने का क्या कारण है?

जो मुनि ऐसा मानता है कि कम जीव मरने से कम हिंसा होती है और ज्यादा जीव मरने से ज्यादा हिंसा होती है, उसके सामने एक ऐसा आदमी आया जो मांस खाने वाला है और जिसके यहाँ एक बकरा रोज हलाल हो जाता है। उसने उस मुनि से कहा—मैं अहिंसा व्रत धारण करना चाहता हूँ; किन्तु पूर्ण रूप से हिंसा को त्याग देना मेरे लिए शक्य नहीं है। मेरे यहाँ एक बकरा मार कर खाया जाता है और कंदमूल भी खाये जाते हैं। इन दोनों में से मैं एक का त्याग करना चाहता हूँ। जिसमें ज्यादा हिंसा होती हो उसी का त्याग करा दीजिए। जिसमें कम हिंसा होगी वही मैं खाऊँगा।

हो सकता है कि वह मुनि दोनों चीजों का त्याग करना चाहे, मगर त्याग करना तो त्याग करने वाले की इच्छा पर निर्भर है और वह दोनों का त्याग नहीं करना चाहता। वह दोनों में से एक का करना चाहता है।

जब यह प्रश्न उस मुनि के सामने आता है तो उसका फैसला क्या होगा ? जो यह सिद्धान्त लेकर चला है कि ज्यादा जीव मरें तो ज्यादा हिंसा होती है, वह क्या कन्दमूल में अनन्त जीव होने के कारण, उसमें ज्यादा हिंसा मानकर कन्दमूल का उसे त्याग कराएगा ? और उधर एक बकरा मरेगा और उससे सारे परिवार की उदरपूर्ति हो जायगी ! अब वे किस सिद्धान्त पर चलेंगे ? मैं जानना चाहता हूँ कि जीवों की गिनती का हिसाब लगा-लगा कर हिंसा को तोलने वाले ऐसे प्रसंग पर क्या करेंगे ? त्यागने वाला दो में से एक ही का त्याग करना चाहता है। अगर वह मुनि कंदमूल खाने में ज्यादा हिंसा समझते हैं तो कंदमूल का त्याग करा दें, बकरे को मारने में ज्यादा हिंसा समझते हैं तो बकरे का त्याग करा दें। अगर बकरे का त्याग कराते हैं तो उनकी यह मान्यता खत्म हो जाती है कि जहाँ ज्यादा जीव मरते हैं वहाँ ज्यादा हिंसा होती है। चारों तरफ बगलें झांकने के बाद वे बकरा मारने का ही त्याग कराएँगे। दुनिया भर में चक्कर काटने के बाद आखिर उन्हें सही सिद्धान्त पर आना पड़ेगा।

जैनधर्म में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक की द्रव्य-हिंसा और भावहिंसा मानी गई है और उसमें क्रमशः तरतमता होती है। तरतमता का कारण हिंसक का संक्लेश परिणाम है। जहाँ क्रोध आदि कषाय की तीव्रता जितनी ही कम है वहाँ हिंसा भी उतनी ही कम है। इसी कसौटी पर हिंसा की तीव्रता और मन्दता को कसना

जैनधर्म को इष्ट है। जब इस कसौटी पर हिंसा अहिंसा को कसेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में हिंसक को रौद्रध्यान अधिक तीव्र होता है और मरने वाले में भी चेतना अधिक विकसित होने के कारण दुःख की अनुभूति अधिक ही होती है। तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी उसके अधिक तीव्र ही होते हैं। इस प्रकार वहाँ भावहिंसा जब तीव्र है तो द्रव्यहिंसा भी बड़ी होगी।

ऐसा न माना जाय तो भगवान् नेमिनाथ का प्रश्न कैसे हल होगा? वे दया के सागर थे। उन्हें विवाह करने के लिए मना लिया गया। बरात की तैयारी होने लगी। तब उन्हें स्नान कराया गया। कहते हैं, १०८ घड़ों के पानी से स्नान कराया गया। कितने ही फूलों की मालाएँ पहनाई गईं। यह सब कुछ होता रहा, मगर उन्होंने यह नहीं कहा कि मेरे विवाह के लिए इतनी हिंसा हो रही है! एक बूंद में असंख्यात जीव हैं और एक पांखुड़ी में असंख्य या अनन्त जीव हो सकते हैं। मगर वहाँ उन्होंने कोई विरोध नहीं किया।

बरात रवाना हो चुकी। जब वे उग्रसेन के यहाँ पहुँचे, बरात चढ़ने लगी और तोरण पर आए तो एक बाड़े में कुछ पशु-पक्षियों को घिरा देखा। उनकी करुण पुकार उनके कानों में पड़ी। पूछा तो मालूम हुआ:—

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो ।
तुज्झ विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुजणं ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र २२,२७

अर्थात् सारथी ने कहा—महाराज ! यह पशु आपके विवाह प्रसंग पर भोजनार्थ मारने के लिए बाँधे गये हैं ।

सारथी की बात सुनते ही भगवान् के अन्तःकरण में दया का सागर उमड़ पड़ता है । * वे कहते हैं—एक तरफ तो आनन्द-मंगल हो रहा है, माँगलिक बाजे बज रहे हैं और दूसरी तरफ इन मूक पशुओं की गर्दनों पर छुरियाँ चलाने की तैयारी हो रही है ! यह विचार आते ही उन्होंने सारथी से कहा—इन पशुओं को निकाल दो । सारथी ने पशुओं को निकाल दिया तो भगवान् सारथी को अपने अमूल्य आभूषण खुशी में इनाम दे देते हैं । भगवान् विवाह नहीं करते !

यादव जाति मानो जाग उठी । उसे अहिंसा के विषय में स्पष्ट धारणा नहीं थी । इस उदाहरण से उसे नया सबक मिला । उसे ध्यान आया कि हम विवाह के समय जो बड़ी-बड़ी हिंसाएँ करते हैं और मूक पशुओं की गर्दनों पर छुरी चलाते हैं, यह कितना बड़ा अनर्थ है !

* देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र २२, १८-१९ ।

भगवान् नेमिनाथ ने विवाह का त्याग करके जो आदर्श उपस्थित किया, उसका वर्णन भगवान् महावीर ने भी किया! अब आप विचार कीजिए कि वह आदर्श क्या है? भगवान् नेमिनाथ ने स्नान करते समय, जलकाय के असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा जानते हुए भी विवाह का त्याग नहीं किया, किन्तु बाड़े में बन्द किये हुए गिनती के पंचेन्द्रिय प्राणियों को देख कर और दया से द्रवित होकर विवाह करना अस्वीकार कर दिया। इससे क्या निष्कर्ष निकलता है? भगवान् अगर एकेन्द्रिय की हिंसा और पंचेन्द्रिय की हिंसा को समान समझते होते,तो स्नान करते समय ही उसका विरोध करते और विवाह करना अस्वीकार कर देते, क्योंकि वहाँ असंख्य जीवों की हिंसा हो रही थी। अगर उस समय विवाह का त्याग नहीं किया तो फिर जल के जीवों की अपेक्षा बहुत थोड़े पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से द्रवित होकर भी विवाह का त्याग न करते। मगर इन संख्या में थोड़े पंचेन्दिय जीवों को मरने के लिए नियत देखकर उनके हृदय में करुणा का स्रोत बह उठा। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की हिंसा समान नहीं है।

एक गृहस्थ वनस्पति पर चाकू चलाता है और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की गर्दन पर चाकू चलाता है। अब अंतःकरण को ही गवाह बना कर पूछो कि क्या दोनों समान पाप के भागी हैं? दोनों की हिंसा समान कोटि की है? जो लोग एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की

हिंसा को समान ही मानते हैं, वे गृहस्थ क्या एकेन्द्रिय के समान पंचेन्द्रिय का भी वध करते हैं ? अगर वे स्वयं ऐसा नहीं करते तो दुनिया को चक्कर में डालने के लिए क्यों इस समानता का प्रतिपादन करते हैं ?

अहिंसा और हिंसा का प्रधान केन्द्र कर्त्ता की भावना है। अतएव उसे ही आत्मा की कसौटी पर कस कर देखना होगा। जो इस प्रकार देखेंगे, मैं समझता हूँ कि वे हस्तीतापसों के युग में नहीं जाएँगे। जीवगणना के द्वारा हिंसा को आंकना, यह जैनधर्म की कसौटी नहीं है, प्रत्युत भगवान् महावीर ने इसका विरोध किया है। दुर्भाग्य से यह भ्रान्ति हमारे अन्दर आ गई है, अतः आज के विचारशील जैनों को उक्त भ्रान्ति के सम्बन्ध में अपना मत संसार में स्पष्ट कर देना है। यह एक महत्वपूर्ण वस्तु है और दया-दान संबंधी धारणाएँ इसी में निहित हैं।

जो इस राह पर चलेंगे उनकी आत्मा का कल्याण होगा।

५-९-५०

हिंसा की रीढ़-प्रमाद

धर्म के दो रूप होते हैं—बाह्यरूप और अन्तरंग रूप। बाह्य-रूप का अर्थ है क्रियाकाण्ड, बाहर के आचार-विचार, रहनसहन, और जीवन में जो कुछ भी बाह्य रूप से करते हैं वह सब काम। अन्तरंग रूप अर्थात् वह भावना या विचार जिससे बाह्य आचार-विचार प्रेरित होता है। कोई भी साधक अपने आप में क्या पवित्र भावनाएँ रखता है, किन उच्च विचारों से प्रेरित और प्रभावित है, उसमें जीवन की पवित्रता कितनी है, उसके अन्तरतर में धर्म का कितना उल्लास है, वहाँ दया और करुणा की लहरें कितनी उठ रही हैं? यह सब भीतर का रूप ही धर्म का अन्तरंग रूप कहलाता है।

और जब यह अन्तरंग दृष्टिकोण विशुद्ध एवं वास्तविकतावादी बन जाता है, अर्थात् दूसरों के संसर्ग या सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली विकृति या विभाव से परे होकर आत्मा के सर्वथा शुद्ध स्वाभाविक

रूप के विचार की पवित्र भूमिका में पहुँच जाता है, तब वह निश्चय-धर्म कहलाता है।

बाह्यधर्म को व्यवहारधर्म कहते हैं। उसके संबंध में जैनधर्म की धारणा है कि वह बदलता रहता है, स्थायी नहीं रहता। तीर्थंकर आते हैं और वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों को तबदील करते रहते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग में साधुओं का रहन-सहन कुछ और रूप में था और बाईस तीर्थंकरों के समय में बदल कर वह कुछ और रूप में हो गया। फिर भगवान् महावीर आये। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि के युग में प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्त्तन किये, जिनमें से कुछ हमें आज भी पढ़ने को मिलते हैं। जैसे—भगवान् ने वस्त्रों के संबंध में यह पाबंदी लगा दी कि साधु को सफेद रंग के ही वस्त्र पहनने चाहिए और वह भी अल्प मूल्य वाले ही होने चाहिएँ, जब कि उनसे पहले यह पाबंदी नहीं थी। फलतः भ० पार्श्वनाथ के ज़माने में साधु किसी भी रंग के वस्त्र पहन सकते थे। भ० महावीर ने न केवल वेषभूषा के विषय में, बल्कि आहार और विहार के संबंध में भी अनेक परिवर्त्तन किये, जैसे—राजपिण्ड न लेना और एक ही स्थान पर अमुक अवधि से अधिक न रहना आदि।

भगवान् महावीर के युग में पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर के आचार अलग-अलग बतलाये गये हैं। कहा है:—

पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं।

—उत्तराध्ययन, २६, १२

साधु की दिनचर्या चार प्रहरों में बाँट दी गई थी। पहले प्रहर में स्वाध्याय करना अर्थात् पहला प्रहर सूत्रस्वाध्याय में व्यतीत करना, दूसरा प्रहर उसके अर्थ का चिन्तन करने में, ध्यान में, तर्क-वितर्क में एवं जीवन के सूक्ष्म रहस्यों को स्पष्ट रूप से सुलझाने में गुजारे। इसी कारण पहला प्रहर 'सूत्रपौरुषी' और दूसरा प्रहर 'अर्थपौरुषी' कहलाता था। यह सांकेतिक शब्द है। दुर्भाग्य से आज इन्हें भुला दिया गया है, छिटका दिया गया है। अतः इस शब्दावली का जो महत्त्व था वह हमारे ध्यान से निकल गया है।

तीसरे प्रहर में साधु को भिक्षा के लिए जाने का विधान था। इस विधान के पीछे सिद्धान्त यह था कि साधु, गृहस्थ के घर जब जाय तो ऐसी स्थिति में जाय कि घर के सब लोग भोजन करके निबट चुके हों, बच्चे और बूढ़े खा-पी चुके हों, बचा हुआ भोजन अलग रख दिया गया हो, उसकी आवश्यकता न रह गई हो। ऐसे समय पर साधु जाय और उस बचे हुए भोजन में से अपनी जरूरत के मुताबिक थोड़ा-सा ले आए।

जिस समय भोजन बन रहा हो या घर के लोग खा-पी रहे हों, उस समय साधु भिक्षा के लिए नहीं जाया करते थे। क्यों कि

उस समय जाकर यदि साधु भिक्षा ले ले तो सम्भव है, घर वालों के लिए कम पड़ जाय और फिर नये सिरे से बनाना या पकाना पड़े।

भगवान् महावीर के युग तक यह विधान चला। उसके बाद आचार्य शय्यम्भव के युग में क्या हुआ? तीसरे प्रहर की भिक्षा का नियम सिमटने लगा। लोगों का रहन-सहन बदला। तीसरे प्रहर तक भोजन की स्थिति प्रायः नहीं रहती थी, अतः उस समय जाने से भिक्षा देने वाले को और लेने वाले को भी असुविधा होने लगी। गृहस्थ कहते—भोजन के समय पर तो आते नहीं और समय बीत जाने पर आकर व्यर्थ ही हमें लज्जित करते हैं! यह भी कोई गोचरी है! जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होगई तो आचार्यों को नया विधान बनाना पड़ा:—

अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे।

—दशवैकालिक सूत्र ५, २, ४

अर्थात् साधु को भोजन के समय पर ही भिक्षा के लिए निकलना चाहिए और गाँव की स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। असमय में भिक्षा के लिए जाने से गृहस्थों को अप्रीति होगी, उनके चित्त में क्षोभ और फिर तिरस्कार जागेगा और स्वयं को भोजन न मिलने से साधु को भी गाँववालों के प्रति तिरस्कार का भाव उत्पन्न होगा। इस तरह दोनों ओर संकल्पों में गड़बड़ी होगी। इस विचारधारा से यह विधान जारी किया गया कि जिस गाँव में भोजन का जो समय हो,

वही भिक्षा का समय रख लिया जाय !

इस प्रकार एक और परिवर्त्तन आया। यह एक बड़ा परिवर्त्तन था। इस उदाहरण की परछाई में हम देखते हैं कि धर्म के बाह्य रूपों में तीर्थंकरों के युग में भी, और आचार्यों के युग में भी परिवर्त्तन होते रहे हैं।

किन्तु धर्म का अन्तरंग रूप ऐसा नहीं होता। उसमें कभी कुछ भी बदलने वाला नहीं है। वह अनन्त-अनन्त काल तक ज्यों का त्यों ही रहने वाला है। वह जैसा वर्त्तमान में है, भूतकाल में भी ऐसा ही था और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। कितने ही तीर्थंकर आएँ, अन्तरंग में कुछ भी परिवर्त्तन होने वाला नहीं है।

प्रतिवर्ष पतझड़ के मौसिम में वृक्ष के फल, फूल, पत्ते, सब चले जाते हैं और पतझड़ के बाद वह फिर नवीन कोंपलों से सुहावने दिखाई देने लगते हैं। फिर उसमें फूल-फल लगते हैं। वह हरा-भरा और मनोरम हो जाता है। कुछ समय बाद फिर पतझड़ आती है और वह फिर ठूंठ-सा दिखाई देने लगता है। इस प्रकार वृक्ष बाहर में रूप बदलता रहता है अवश्य, मगर अपना मूल रूप नहीं बदलता। अगर वृक्ष का मूल रूप ही बदल जाय तो फिर फलों, फूलों और पत्तों के लिए वहाँ गुंजाइश कहाँ रहे ?

तो सिद्धान्त यह निकला कि प्रत्येक अंग का एक स्थायी रूप रहना चाहिए और बाकी बदलता हुआ रूप रहना चाहिए। अगर

स्थायी रूप न होगा तो बदलने वाला रूप किसके सहारे रहेगा ?

इस प्रकार व्यवहार रूप में धर्म बदलता रहता है—उसे तीर्थंकर भी बदल देते हैं और आचार्य भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार बदल देते हैं। किन्तु अन्तरंग धर्म कभी नहीं बदलता।

अहिंसाधर्म अन्तरंग धर्म है। वह निश्चय धर्म है। अहिंसा अपने आप में बदलने वाली वस्तु नहीं है। यह त्रिकालस्थायी सत्य धर्म है। यह अनादि काल से चला आ रहा है, अभी चल रहा है और आगे भी चलता रहेगा।

जैनधर्म में आत्मा नहीं बदलती। शरीर बदलता है; आत्मा वही रहती है। वह बदल नहीं सकती। हमने अनन्त-अनन्त काल संसार में रह कर बिताया, तब भी वह नहीं बदली और जब मोक्ष में जाया जाता है तब भी नहीं बदलने वाली है। आत्मा तो सदा वैसी ही रहेगी। हाँ, शरीर को किसी दिन ग्रहण किया जाता है तो किसी दिन छोड़ा भी जाता है। और यह परम्परा सदैव जारी रहती है।

अहिंसा जैनधर्म की आत्मा है। उसमें किसी भी समय परिवर्तन नहीं हो सकता। अतः जैनधर्म को समझने के लिए अहिंसा को भलीभाँति समझना चाहिए और अहिंसा को ठीक तरह समझने के लिए जैनधर्म को ठीक तरह से समझना चाहिए। यह दोनों मानो एक रूप हो गये हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

जैनधर्म का प्रश्न आता है तो अहिंसा झटपट याद आ जाती है और अहिंसा का प्रश्न छिड़ते ही जैनधर्म की याद आ जाती है। इस प्रकार हम जैनधर्म के साथ ही अहिंसा का भी स्मरण किया करते हैं। और हम ही नहीं, अजैन साथी भी जब किसी रूप में अहिंसा को याद करते हैं तो जैनधर्म को भी याद कर लेते हैं।

मगर अहिंसातत्त्व इतना सूक्ष्म हो गया है कि उसको ठीक-ठीक मालूम करने में ग़लतियाँ भी होती हैं, क्योंकि लोग उसके स्थूल रूप को तो पकड़ लेते हैं, किन्तु उसका सूक्ष्म रूप पकड़ में नहीं आता! अतएव अहिंसा के संबंध में तीर्थंकरों ने या आचार्यों ने क्या स्पष्टीकरण किया है? अहिंसा के कितने विभाग किये गये हैं? इत्यादि मुद्दों पर विचार करने से अहिंसा का ठीक विचार हो सकेगा।

अहिंसा के भेदों को समझने के लिए हिंसा के भेदों को भी समझना पड़ेगा। आखिर अहिंसा का निषेधरूप अर्थ है—हिंसा का न होना। तो अब यह मालूम करें कि हिंसा कितनी तरह की है? वैसे आप जैनधर्म से जानना चाहते हैं तब तो अहिंसा के अनन्त-अनन्त भेद हैं—संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं, अनन्त-अनन्त! और यह ठीक भी है। कोई आदमी समुद्र के किनारे खड़ा है और उस समय समुद्रमें जो लहरें उठती हैं और गिरती हैं, उनकी क्या गिनती की जाय? यह चक्र दिन-रात निरन्तर चलता रहता है और सारा समुद्र

लहरों में नाचता रहता है।

आप अपने मन को भी समुद्ररूप में कल्पित कर सकते हैं। यह मन का समुद्र भी हिलोरें मार रहा है। इसमें भी दिन-रात प्रति पल, प्रति सैकिंड, लहरें उठ रही हैं और फिर नयी उठ रही हैं। और मालूम होता है, हमारा मन जैसे नाच रहा है! एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं होता है। इसी बात को ध्यान में रख कर जैन-जगत् के महान् मर्मी विचारक श्री बनारसीदास ने कहा है:—

> एक जीव की एक दिन, दसा होइ जेतीक;
>
> सो कहि न सकै केवली, यद्यपि जानै ठीक!

और मन की ही क्या बात है? जहाँ मन नहीं है वहाँ भी अध्यवसाय तो होते ही हैं और उनके द्वारा अमनस्क प्राणी के जीवन भी हर समय नाचते रहते हैं। एकेन्द्रिय जीव को मन नहीं होता, फिर भी वह कितने कर्म समय-समय पर बाँधता है? सात या आठ! सात कर्म तो नियम से बँधते ही रहते है। समय बड़ा ही सूक्ष्म है। उस सूक्ष्म-सूक्ष्मतम-समय में सात कर्मों के अनन्त-अनन्त परमाणुओं का आत्मा के साथ बँध जाना अध्यवसाय के बिना संभव नहीं है। आप यह तो जानते हैं कि बन्ध कब होता है? जब आत्मा में कंपन आएगा, हलचल होगी और उसके साथ क्रोध, मान, माया और लोभ के संस्कार होंगे तभी कर्म-बन्ध होता है। और जब यह संस्कार नहीं रहते, योगों मे हलचल और आत्मा में कम्पन नहीं

होता तब कर्मबन्ध भी नहीं होता।

जब योगों में अर्थात् मन, वाणी और शरीर में कम्पन नहीं होता तो उस अवस्था में आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाता है। आत्मा की वह दशा 'शैलेशी अवस्था' कहलाती है और वहाँ पूर्ण निश्चल अवस्था आ जाती है। दसवें गुणस्थान तक कषायों से और योगों से बंध होता है और ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में कषाय न रहने पर केवल योगों के द्वारा ही बंध होता है। चौदहवें गुणस्थान में कषाय और योग–दोनों ही नहीं रहते, अतएव वहाँ अबन्धक-दशा प्राप्त होती है। सिद्धों को भी कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि वहाँ कषाय और योगों का अस्तित्व ही नहीं रहता हैं।

तो इससे क्या आशय फलित हुआ? हमारा मन, वाणी और शरीर भी हिलोरें मारता हुआ समुद्र है और उसमें निरन्तर हलचल मची रहती है। चाहे कोई जीव एकेन्द्रिय हो, द्वीन्द्रिय हो, त्रीन्द्रिय हो, चतुरिन्द्रिय हो अथवा पंचेन्द्रिय हो, परन्तु जब तक संसारी दशा का बल है, कम्पन होना अनिवार्य है।

हाँ, तो नीचे की भूमिकाओं में मन का हर कम्पन हिंसा है। और जब कम्पन की कोई गिनती नहीं की जा सकती तो हिंसा के भेदों की गणना भी कैसे की जा सकती है? फिर भी स्थूल रूप से उनकी गणना की गई है। आचार्यों ने बतलाया है कि

आप हिंसा के अनन्त रूपों को स्पष्ट रूप से नहीं समझ सकते, फिर भी जो स्थूल रूप आपकी समझ में आ सकते हैं, उनको ध्यान में रक्खो।

सबसे पहले हिंसा के तीन रूप हैं—संरंभ, समारंभ और आरंभ।

मनो पुब्बं गमा धम्मा, मणोसेट्ठा मणोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा॥

—धम्मपद

जो भी बातें है, क्रियाएँ हैं या हरकतें हैं, वे सब से पहले मन में जन्म लेती हैं, अध्यवसायों में अंकुरित होती हैं। हमारा सारा जीवन मानसिक अध्यवसायों द्वारा ही प्रेरित और संचालित होता है। अतएव वे अध्यवसाय ही मुख्य रूप से हिंसा की जन्मभूमि हैं। इस प्रकार सबसे पहले विचार उत्पन्न होते हैं और फिर हिंसा करने के लिए सामग्री जुटाई जाती हैं। इस स्थिति में हिंसा के वचारों का उत्पन्न होना संरंभ कहलाता है और हिंसा के लिए सामग्री जुटाना समारम्भ कहलाता है। इन दोनों क्रियाओं के बाद आरम्भ का नम्बर आता है। आरम्भ का क्रम हिंसा करना शुरू कर देने से लेकर मार देने तक चलता है।

इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए। अब देखना चाहिए कि हिंसा का जो संकल्प या प्रयत्न किया जाता है सो क्यों किया जाता

है ? किन्हीं भावनाओं की प्रेरणा से ही हिंसा की सामग्री जुटाई जाती है और उन्हीं भावनाओं से बल पाकर ही हिंसा करने का प्रयत्न किया जाता है। हाँ, तो वे भावनाएँ क्या हैं ? उन्हें खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। वे भावनाएँ चार हैं और वस्तुतः वे दुर्भावनाएँ हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जब भी कभी दुष्ट प्रवृत्ति की जाती है तो उस हिंसा के भाव क्रोध से, मान से, माया से या लोभ से उत्पन्न होते हैं। इन्हें ही चार कषाय कहते हैं। इन चार कषायों के कारण ही संरंभ रूप हिंसा होती है, इन्हीं से समारम्भ-रूप हिंसा होती है और इन्हीं से आरम्भ-हिंसा हुआ करती है। अतएव इन चारों के साथ संरंभ आदि तीन का गुणा करने से हिंसा के बारह भेद बन जाते हैं। कषायों का रंग जितना अधिक गहरा होगा, उतनी ही अधिक हिंसा होगी, और जितना रंग कम होगा, उतनी ही हिंसा भी कम होगी। हिंसा की पृष्ठ-भूमि कषाय है, यह ध्यान में रहे।

जीव कषाय से प्रेरित होकर हिंसा करता है, मगर हिंसा के औजार हैं तीन योग। मन, वचन और काय, यही मनुष्य के पास तीन शक्तियाँ हैं। मन पर, वचन पर और काया पर जब हरकत आती है तो हिंसा हो जाती है। अतएव ऊपर कहे बारह भेदों का तीन से गुणा कर देने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

मन, वचन और काय के भी तीन भेद हैं—स्वयं करना,

दूसरों से कराना और अनुमोदना करना। यह तीनों योगों के द्वारा हिंसा करने के तीन-तीन तरीके हैं जिन्हें 'करण' कहते हैं। इनके साथ पूर्वोक्त छत्तीस भेदों को गुणित कर देने पर हिंसा के १०८ भेद निष्पन्न होते हैं।

इस १०८ प्रकार की हिंसा की निवृत्ति के उद्देश्य से ही आप १०८ दानों वाली माला जपते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि साधारणतया हिंसा से निवृत्ति ही अहिंसा है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों हिंसा के इन भेदों से निवृत्त हो जाता है, त्यों-त्यों वह अहिंसा के भेदों की साधना करता जाता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जितने भेद हिंसा के हैं उतने ही अहिंसा के भी हैं और जितने भेद अहिंसा के हो सकते हैं उतने ही हिंसा के भी होते हैं।

इस प्रकार आप हिंसा-अहिंसा के निरूपण पर ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि जैनधर्म बड़ी बारीकी तक पहुँचता है, अन्तरतर की गहराई में चला जाता है और उस गहराई को समझने के लिए साधक को अपनी बुद्धि और अपने विवेक को साथ में जोड़ने की जरूरत है। नहीं जोड़ेंगे तो वास्तविकता समझ में नहीं आएगी।

इतनी प्रस्तावना से आप समझ सकते हैं कि हिंसा का अर्थ सिर्फ मारना ही नहीं है, किन्तु हिंसा का संकल्प भी हिंसा है। किसी जीव को लेकर इधर से उधर कर देना, टकरा देना, या एक

जीव के ऊपर दूसरे जीव को रख देना भी हिंसा है। धूल से ढँक देना भी हिंसा है। जीव आ रहे हैं और स्वतन्त्र रूप से विचरण कर रहे हैं तो उसमें रुकावट डाल देना भी हिंसा है। यहाँ तक कि किसी जीव को छू देना भी हिंसा है। यह सब मर्यादाएँ 'इरियावहिया' के पाठ में आ जाती हैं।

जैनधर्म कहता है कि किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता में तुम बाधक मत बनो। उसके जीवन की जो भी भूमिका है, उसके अनुसार वह गति कर रहा है। तुमने उसका रास्ता रोक दिया, उसे छू दिया तो तुम हिंसा के भागी हो गये। इस रूप में आपको सूक्ष्म अहिंसाधर्म सुनने को और देखने को मिलेगा।

अहिंसाधर्म की इन बारीकियों को देख कर संसार चक्कर में पड़ जाता है। क्योंकि आखिर इंसान अपनी जिन्दगी में हरकत करता है, आता भी है, जाता भी है। और इस तरह कहीं न कहीं, किसी न किसी जीव के मार्ग में रुकावट आ ही जाती है। किसी न किसी को पीड़ा पहुँचे बिना नहीं रहती और वह भयभीत हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आखिर हम अहिंसक किस प्रकार रह सकते हैं? यह प्रश्न हमारे और आपके सामने समान रूप से उपस्थित होता है। आखिर साधु से भी किसी प्राणी को पीड़ा पहुँच सकती है। कल्पना कीजिए, साधु के जल भरे पात्र में मक्खी गिर गई है। उसे निकालने के लिए पहले छूना पड़ता

हैं और तब वह निकाली जाती है।

मान लीजिए, एक प्राणी है और वह धूप में पड़ा है। अपंग है, इधर-उधर नहीं जा सकता। वह धूप का मारा तिलमिला रहा है और मौत के मुँह में जाने के लिए तैयार है। आप उसे उठा कर एक जगह से दूसरी जगह रख देते हैं। आपने तो अच्छी समझ कर दया से प्रेरित होकर ऐसा किया है, मगर कोई आपसे कहता है— **'ठाणाओ ठाणं संकामिआ'** अर्थात् जीव को एक जगह से दूसरी जगह रख देना हिंसा है। इसी प्रकार जब किसी जीव की गति में बाधा पहुँचाना और यहाँ तक कि उसे छूना भी हिंसा है तो आप पूंज कैसे सकते हैं? जीव स्वाधीन भाव से घूम रहे हैं और जब आप प्रमार्जन करते हैं तो उन्हें एक जगह से घसीट कर दूसरी जगह ले जाते हैं।

इस प्रकार विचार किया जाय तो कहीं पैर धरने को जगह नहीं है। जीवन को चलाना भी हिंसा के बिना सम्भव नहीं है। आखिर श्वास की हवा से भी सूक्ष्म जन्तुओं की स्वतन्त्र गति में बाधा पड़ती है। किसी ने एक आचार्य से प्रश्न किया:—

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः? ॥

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७, १३

अर्थात्—जल में भी जीव हैं और स्थल पर भी जीव हैं।

आकाश के एकेक प्रदेश भी जीवों से भरे पड़े हैं। इस तरह जब सारा संसार जीवों से व्याप्त है, कहीं एक इंच भी जगह खाली नहीं है तो भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है ?

जो प्रश्न आज पैदा हुआ है, वह पहले भी पैदा हुआ था। अभिप्राय यह है कि जब आप किसी कीड़े-मकोड़े को जाता देखते हैं और ओघे से पूंजते हैं तो जरा विचार कीजिए कि चीटियों का शरीर क्या है ! उनकी छोटी-सी जिन्दगी है। ज्यों ही आपका ओघा उन पर पड़ता है, वे भयभीत हो जाती हैं। उनके दुःख की कल्पना वही कर सकती हैं। आप कह सकते हैं—कौन बड़ा बोझा पड़ गया ! पर उनके ऊपर ओघा पड़ा तो उन्हें तो मालूम होता है जैसे कोई पहाड़ टूट पड़ा हो। वे त्रस्त हो जाती हैं। और जब घसीटते-घसीटते आप दूर तक ले जाते हैं तो उन कोमल शरीर वाली बेचारी चीटियों को ऐसा लगता है जैसे अब जिन्दगी का अन्तिम दिन आ पहुँचा है। शास्त्रकार भी कहते हैं—'संघाइया संघट्टिया' अर्थात् जमीन पर रगड़ा हो या छुआ हो और एक दूसरे पर डाला हो तो यह सब हिंसा हुई।

तो प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सब क्या बातें हैं ? अहिंसा की भूमिका को हम किस प्रकार अपने जीवन में तय कर सकते हैं ? शुद्ध अहिंसक बनने के लिए कहीं यह तो अनिवार्य नहीं है कि इधर 'करेमि भंते' और 'वोसिरे' बोले और उधर श्वास रोक

कर या जहर की पुड़िया खाकर संसार से समाप्त हो जायँ ? आखिर सर्वथा निश्चल कैसे रहा जा सकता है ? जब आत्मा संसार में रहती है और जीवन-व्यवहार चलाना अनिवार्य है तो फिर पूरी तरह निष्क्रिय होकर किस प्रकार मुर्दों की तरह पड़ा रहा जा सकता है ?

भगवान् महावीर छह मास तक पत्थर की चट्टान की तरह अचल खड़े रहे, किन्तु उसके बाद वे भी पारणा के लिए गये और हरकत शुरु हुई । महीना, दो महीना और ज्यादा से ज्यादा छह महीना कायोत्सर्ग में बिताये जा सकते हैं, किन्तु फिर भी जीवन तो जीवन ही है । उसमें गमन-आगमन किये बिना चल नहीं सकता । और फिर साधुओं पर तो एक जगह ठहरने के लिए प्रतिबन्ध भी लगा दिया है । साधुओं को अमुक समय से ज्यादा एक जगह ठहरना नहीं चाहिए और ग्रामानुग्राम विहार करना ही चाहिए । जब यह स्थिति हमारे साथ है तो हम विचार करना चाहते हैं कि अहिंसा और हिंसा की मूल भूमि कहाँ है ?

जैनधर्म को मालूम करेंगे तो एक बात ध्यान में आएगी कि जो हरकतें होती हैं, काम किये जाते हैं या चेष्टाएँ होती हैं, उनके मूल में हिंसा नहीं उठती है, उनके मूल मे कहीं पाप नहीं होता है । वे अपने आप में दोषयुक्त नहीं हैं, किन्तु उनके पीछे जो संकल्प हैं, भावनाएँ हैं, या कषाय हैं उन्हीं में हिंसा है, वहीं पाप है । अभिप्राय यह है कि जैनधर्म से जब पूछते हैं कि क्या खाने-पीने में पाप है ?

तो वह कहता है कि खाने-पीने में पाप नहीं किन्तु यह बतला दो कि उसके पीछे वृत्ति क्या है ? यदि खाने के पीछे अविवेक की भावना है, कर्त्तव्य की भावना नहीं है, अगर तू खाने के लिए और स्वाद के लिए ही खाना चाहता है, और खाने के बाद शरीर का क्या उपयोग करेगा—यह निर्णय नहीं किया है तो तेरा खाना हिंसा है और खाने के पीछे यदि विवेक है, यतना है और खाने के लिए ही नहीं खाता है किन्तु जीने के लिए खाता है कि उसे खाकर सत्कर्म करूँगा तो ऐसा खाना धर्म है ।

कहिए साहब तप धर्म है या पारणा धर्म है ? किसी ने छह मास की तपस्या की और फिर एक दिन पारणा किया तो पारणे के दिन धर्म होता है या पाप ? औरों को जाने दीजिए, भगवान् महावीर को ही लीजिए । उन्होंने छह मास तक तप किया और फिर पारणा किया, तो पारणा करने से उनकी आत्मा ऊँची चढ़ी या नीचे गिरी ? तपस्या-धर्म तो उन्होंने छोड़ दिया । तो फिर उसके पीछे क्या अभिप्राय है ? कौन-सी वृत्ति है ? उत्तर में कहना है कि वह आत्मा, जो तपस्या में ऊँची चढ़ी थी, पारणे के दिन उसे तपस्या से भी आगे ऊँची चढ़ना चाहिए और पारणे के बाद फिर तपस्या की और पारणा किया तब फिर आत्मा ऊँची आनी चाहिए । चाहे व्रत हो या पारणा, आत्मा की ऊर्ध्वगति ही होनी चाहिए । तो भगवान् महावीर ने जब तपस्या की तब भी उनकी आत्मा ऊँची चढ़ी और

ारण किया तब भी ऊँची चढ़ी। उनकी चारित्र-आत्मा वर्धमान थी। हीयमान नहीं थी। अगर इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जायगा तो भ० महावीर के चारित्र को भी हीयमान मानना पड़ेगा।

एक बार मालवा के एक बड़े शास्त्रीजी ने मेरे पास प्रश्न भेजा था कि भोजन प्रमाद की एक भूमिका है। प्रमाद के बिना पानी और भोजन नहीं खाया जा सकता, बोला नहीं जा सकता, गमनागमन भी नहीं किया जा सकता। अतः जब कभी भोजनादि क्रियाएँ की जाती हैं तो आत्मा ऊँचे गुण-स्थानों से नीचे उतर आता है, अप्रमाद से प्रमाद की भूमिका पर आ जाता है।" मैंने उत्तर दिया कि—फिर तेरहवें गुणस्थान वाला केवली क्या करेगा? वह क्षायिक चारित्र का गुणस्थान है और देशोन करोड़ पूर्व तक रहता है। वह सदा एक-रस रहता है और ऊँचा-नीचा नहीं होता है। उस गुणस्थान वाले भूख लगने पर भोजन भी करते हैं और प्यास लगने पर पानी भी पीते हैं, गमनागमन भी करते हैं, उठते और बैठते भी हैं। यह सारी चीजें वहाँ होती हैं। यदि हम मानते हैं कि इन क्रियाओं के करने में प्रमाद आ जाता है, और प्रमाद आ जाना नीचे दर्जे की भूमिका है तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् महावीर की भूमिका भी ऊँची और नीची होती रहती थी और फिर साधारण साधु की तुलना में, उनमें क्या विशेषता रह जायगी?

हाँ, तो फिर जैनधर्म क्या मानता ? वह क्रिया करने में

कोई पुण्य-पाप नहीं मानता है, बोलने में पाप-पुण्य नहीं स्वीकार करता है, किन्तु बोलने के पीछे जो संकल्प है उसी में पुण्य और पाप है। यदि उन क्रियाओं के पीछे कषाय है तो वह पाप है और सद्बुद्धि है तो धर्म है। कोई साधक गमनागमन में विवेक रखता है और किसी प्रकार की असावधानी नहीं रखता है, फिर भी हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा पापप्रकृति का बंध नहीं करती। इसी तरह कोई श्रावक किसी क्रिया में यतना रखता है, गड़बड़ाता नहीं है, फिर भी कदाचित् हिंसा हो जाती है तो वह भी पापप्रकृति का बंध नहीं करता। भगवान् महावीर ने सूत्रकृताङ्ग सूत्र में कहा है:—

"पमायं कम्ममाहंसु,
अप्पमायं तहाऽवरं।"

जहाँ प्रमाद है, भूल है और अयतना है, वहीं पाप कर्म है और जहाँ प्रमाद नहीं, अविवेक नहीं, किन्तु अप्रमत्त भाव जाग उठते हैं, यतना है, वहाँ कोई भी हिंसा क्यों न हो, वह अकर्म है। अपितु वहाँ निर्जरा-अवस्था आ जाती है।

यह जैनधर्म की दृष्टि है और जब इसे ध्यान में रखते हैं तो जैनधर्म की जो आत्मा है, प्राण है, वह स्पष्ट हमारे सामने झलकने लगता है।

मैंने पहले प्रश्न करते हुए कहा था कि आप पूंजते हैं तो अहिंसा नहीं, हिंसा होनी चाहिए क्योंकि प्रमार्जन से जीव भयभीत

होते हैं, त्रस्त होते हैं ! मगर जरा गहरा विचार कीजिए कि आप वहाँ जो प्रवृत्ति करते हैं, वह उनकी दया के लिए करते है या हिंसा के लिए ? आप दया के लिए करते हैं। हालांकि उन जीवों को यह पता नहीं होता कि आप उनकी दया के लिए ही ऐसा कर रहे हैं। मान लीजिए, माता अपने बच्चे का ओपरेशन कराने के लिए डाक्टर के पास जाती है और ओपरेशन होता है। तब बच्चा माता को कितनी ही गालियाँ देता है और रोता है। किन्तु वहाँ माता की और डाक्टर की भावना क्या है ? यद्यपि प्रत्यक्ष में लड़का भयभीत हो रहा है और न मालूम कितने संकल्प मन में ला रहा है, फिर भी हमारे मत में माता और डाक्टर को पुण्य प्रकृति का बंध हो रहा है। क्योंकि उनकी उस क्रिया के पीछे दया और विवेक की भावना चल रही है।

अलबत्ता अगर चींटियों को खेल करने की दृष्टि से हटाया जाता है तब तो पाप कर्म का बंध अवश्य होता है, किन्तु उनकी रक्षा की दृष्टि से ही उन्हें हटाने में पाप नहीं माना जाता। यदि इन बातों पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि जो हिंसा होती है, उसके मूल में यदि अयतना है तो वह हिंसा है, पाप है और यदि यतना है तो धर्म है, पुण्य है।

आरम्भिया क्रिया छठे गुणस्थान तक रहती है और सातवें गुणस्थान में नहीं रहती, क्योंकि प्रमाद छठे गुणस्थान तक ही रहता

है, सातवाँ गुणस्थान अप्रमादी है। किन्तु हिंसा (द्रव्यहिंसा) तो तेरहवें गुणस्थान तक रहती है! फिर भी जहाँ अप्रमत्त अवस्था है वहाँ हिंसा का पाप नहीं लगता। इसका अर्थ यह है कि अप्रमत्त भाव में, विवेक भाव में होने वाली हिंसा पाप रूप नहीं होती।

इसके विपरीत संसार के कषायी और प्रमादी जीव चाहे हिंसा करें या न करें, यदि उनके अन्दर यतना की वृत्ति नहीं जागी और दूसरों की जिन्दगी बचाने का संकल्प नहीं जागा तो वे हिंसा करते हैं तो भी हिंसा है और हिंसा नहीं करते हैं तो भी हिंसा है।* एक धीवर सोया पड़ा है और मछलियाँ नहीं पकड़ रहा है तो भी उसे आरंभिया क्रिया लग रही है या नहीं? उसे लग रही है, क्योंकि उसके हिंसा के संकल्प जो नहीं टूटे! वह कषायभावों में है। तो वह चाहे हिंसा कर रहा है या नहीं, हिंसक ही है। पं० आशाधरजी ने इसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

घ्नन्तोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः।

—सागारधर्मामृत, ८२

जहाँ प्रमाद है वहीं हिंसा है और जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ हिंसा भी नहीं है। इस दृष्टि से मैंने कहा कि यदि हम हिंसा और अहिंसा के तत्त्व को समझ लें तो हमारी जैन सम्प्रदायों में भी जो संघर्ष चल रहा है, वह बहुत कुछ समाप्त हो सकता है। किसी जीव

* देखिए, ओघनिर्युक्ति ७५२-५३ गाथा।

की रक्षा नहीं करना, किसी के मरने-जीने की वांछा न करना, ऐसी ऐसी बातें लेकर और इन्हें तूल देकर हमारे कुछ साथी जो ऊपर-ऊपर ही भटकते रहते हैं, इसका प्रधान कारण यही है कि हिंसा-अहिंसा का मर्म समझने का प्रयत्न ही नहीं किया गया। धूप में पड़े हुए जीव को छाया में रख दिया तो हिंसा हो गई! मगर इस क्रिया के पीछे क्या मनोवृत्ति है, इसका कोई खयाल ही नहीं किया जाता। अगर मनोवृत्ति का खयाल न किया जाय तो साधु अपने पात्र में पड़ी हुई मक्खी को भी कैसे निकाल सकेंगे? कैसे उसकी चिकनाई को राख से सुखा देते हैं? शास्त्र तो किसी जीव को ढँकना भी पाप कहते हैं, फिर क्यों साधु उसे राख से ढँकते हैं।

बात यह है कि जब मनोवृत्ति को भुला दिया जाता है और केवल शब्दों को ही पकड़ लिया जाता है तब हिंसा-अहिंसा का द्वन्द्व हमारे सामने आ जाता है और संघर्ष पैदा हो जाते हैं। इनसे बचने का एक मात्र उपाय यही है कि हम शास्त्रों की शब्दावली को ही पकड़ कर न रह जाएँ, बल्कि शब्दावली के सहारे उसकी आत्मा की खोज करें। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के बाहरी काम को ही देखकर अपना अभिप्राय न बना लें, मगर उसके कार्य के पीछे जो भावना छिपी हुई है, उसे परखने का उद्योग करें। जो ऐसा करेगा वह भ्रम में नहीं पड़ेगा। भ्रम में पड़ा होगा तो भ्रम से मुक्त हो जायगा।

२०-६-५०

प्रवृत्ति और निवृत्ति

'अहिंसा' शब्द के साथ जो निषेध जुड़ा हुआ है, उसको देख कर साधारण लोग और कभी-कभी कुछ विचारक लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं। वे समझ बैठते हैं कि 'अहिंसा' शब्द निषेध-वाचक है और इस कारण अहिंसा का अर्थ भी केवल निवृत्तिपरक है। इस भ्रम ने अतीत काल में भी अनेक अनर्थ उत्पन्न किये हैं और आज भी वह अनेक लोगों को चक्कर में डाल रहा है। अतएव अहिंसा की विवेचना करते समय यह देख लेना भी आवश्यक है कि क्या वास्तव में अहिंसा कोरा निषेध है और अहिंसा के साधक का कर्त्तव्य कुछ न करने में ही समाप्त हो जाता है? अथवा अहिंसा का कुछ विधि रूप भी अर्थ है? और अहिंसा के साधक के लिए कुछ करना भी लाजिमी है? यहाँ इस विषय में कुछ विचार करना है।

जैनधर्म की अहिंसा क्या है? क्या वह अकेली निवृत्ति ही

है ? यानी क्या वह अलग खड़े रहने के ही रूप में है ? इधर से भागे और उधर खड़े हो गये और उधर से भागे इधर आकर खड़े हो गये ? तब क्या हम साधक सर्वथा अलग-अलग कोने में खड़े रह कर जीवन गुजार दें ? अहिंसा को कहीं से अलग हटना है तो अलग हटने के साथ कहीं खड़ा भी रहना है या नहीं ? कहीं प्रवृत्ति भी करनी है या नहीं ? अहिंसा का साधक जीवन के मैदान में कुछ अच्छे काम कर सकता है या नहीं ? आज का संसार इन प्रश्नों का उत्तर चाहता है। अहिंसा के साधकों को उक्त प्रश्नों का उत्तर देना होगा, शब्दों में देना होगा। मौन साधने से काम नहीं चलने वाला है।

जो अहिंसा जीवन के मैदान से अलग हो जाती है और हर जगह से भागना ही जानती है और जिस अहिंसा का साधक भाग कर कोने में दुबक जाता है और कहता है—मैं तटस्थ हूँ और मैं अहिंसा का अच्छी तरह पालन कर रहा हूँ, ऐसी अहिंसा आखिर किस मर्ज की दवा है ? यह अहिंसा की निष्क्रिय वृत्ति है और इससे साधक के जीवन में मात्र निष्क्रियता ही आ सकती है।

यदि आपने शुद्ध निवृत्ति के चक्र में आकर शरीर को क़ाबू में कर भी लिया तो क्या हुआ ? मन तो कुछ हरकतें करता ही रहेगा। मन को कहाँ ले जाओगे ? इसका अर्थ हुआ मन को साधना पड़ेगा। तब शास्त्रकार कहते हैं कि मन को ही एकाग्र करो, मन को ही साधो,

मन को ही संसार से अलग करो। जीवन भले संसार में उचित प्रवृत्ति करे। जीवन की उचित प्रवृत्ति कुछ और है और मन की उच्छृंखल प्रवृत्ति कुछ और है। अंकुश मन पर लगा रहना चाहिए। यदि मन पर काबू पा लिया तो फिर कहीं भागने की जरूरत नहीं है।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकती। तब हम ठहरें या चलें? यदि आप कहें कि चलो और ठहरो, तो दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते हैं। गर्मी और सर्दी एक जगह कैसे रह सकती है? यानी परस्पर विरोधी चीजों को एक साथ कैसे खड़ा करेंगे? मगर नहीं, जैनों का एक खास तरीके का चिन्तन है और उस चिन्तन से विरोधी मालूम होने वाली चीजें भी अविरोधी हो जाती हैं। जैसे और-और वस्तुओं के अनेक अंश हैं उसी प्रकार अहिंसा के भी अनेक अंश हैं। अहिंसा का एक अंश प्रवृत्ति है और दूसरा अंश निवृत्ति है। यह दोनों अंश सदा साथ ही रहते हैं। एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकते। प्रवृत्ति कर रहे हैं उस समय निवृत्ति उसके साथ होती ही है। अगर प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति नहीं तो उसका कोई मूल्य नहीं। वह प्रवृत्ति बंधन में डाल देगी। प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति के होने पर ही प्रवृत्ति का वास्तविक मूल्य है। इसी प्रकार प्रवृत्ति नहीं है तो अकेली निवृत्ति की भी कोई कीमत नहीं।

इसीलिए चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों को स्थान दिया गया है। चारित्र न एकान्त निवृत्ति रूप है, न एकान्त प्रवृत्ति रूप। कहा है:—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं,
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।

—उत्तराध्ययन ३१, २

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

—आचार्य नेमिचन्द्र

अर्थात् अशुभ कर्मों से, बुरे संकल्पों से, बुरे आचरणों से निवृत्ति करना और शुभ में प्रवृत्ति करना—सत्कर्मों का आचरण करना चारित्र है।

और जहाँ चारित्र की बात आती है वहाँ पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ बतलाई जाती हैं। गुप्ति का मतलब निवृत्ति और समिति का अर्थ प्रवृत्ति है। ईर्यासमिति का अर्थ है—चलना। तो चलने से इंकार नहीं किया गया, किन्तु गलत रूप में चलना या अविवेक से चलना ठीक नहीं है। हजारों ना है तो एक हाँ भी है। चलने में अगर हजार 'ना' हैं तो एक 'हाँ' भी लगा हुआ है। चलो, किन्तु असावधानी से या प्रमाद से मत चलो। ऐसा करना शुभ में प्रवृत्ति है और अशुभ से निवृत्ति है। बस अशुभ अंश को निकाल दो और शुभ अंश को पकड़े रहो।

भाषासमिति में बोलना बंद नहीं किया गया। वहाँ भी बहुत से नकारों के साथ हकार है। क्रोध, मान, माया, लोभ और अहङ्कार आदि से मत बोलो, कर्कश शब्द मत बोलो, कठोर और मर्मवेधी मत बोलो, फिर भी बोलो। बोलने पर बंदिश नहीं है।

अब एषणासमिति का नम्बर है। जीवन है तो उसके साथ आहार का भी सम्बन्ध है। शास्त्र में यह नहीं कहा कि आहार के लिए प्रवृत्ति न करो। अलबत्ता उसके साथ हजारों ना लग रहे हैं कि ऐसा मत लो, वैसा मत लो, फिर भी लेने को तो कहा ही है।

इसी प्रकार आवश्यकतापूर्ति के लिए काम आने वाली चीजों का रखना और उठाना बंद नहीं किया गया है। हम पात्र उठाते और रखते हैं। कदाचित् दूसरी चीजों को उठाना-रखना बंद भी कर दें तब भी शरीर को तो उठाए और रखे बिना काम नहीं चल सकता है। इसलिए न उठाने की मनाई है न धरने की, मनाई है असावधानी से उठाने की, असावधानी से धरने की। सावधानी के साथ यदि उठाया रक्खा जाय तो कोई मनाई नहीं है। इस प्रकार बहुतेरे ना लगे हैं तो विवेक के साथ उठाने-धरने का एक हाँ भी लगा हुआ है। यह आदाननिक्षेपण समिति हुई।

परिष्ठपान समिति को लीजिए। आहार किया जायगा तो शौच भी लगेगी और पानी पिया जायगा तो पेशाब भी लगेगी। यह तो सम्भव नहीं है कि कोई खाता चला जाय और पीता चला जाय

मगर मल-मूत्र न बने या उसे त्यागना न पड़े। उसे त्यागना तो है ही, किन्तु अविवेक या असावधानी से नहीं, किन्तु विवेक के साथ।

देखिए, जैनाचार्य समिति की क्या व्याख्या करते हैं?

पविचाराऽपविचाराओ समिइओ।

इसका अर्थ यही है कि समितियाँ प्रवृत्तिरूप भी हैं और निवृत्तिरूप भी हैं। जहाँ समिति है वहाँ गुप्ति भी होती है।

अभिप्राय यह है कि जीवन के क्षेत्र में, चाहे साधु हो या श्रावक, दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति आवश्यक हैं। अशुभ आचरण एवं अशुभ संकल्प से अलग रह कर शुभ में प्रवृत्ति करनी होगी। शुभ सोचेंगे, शुभ बोलेंगे और शुभ आचरण करेंगे तो इस रूप में हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चलेगी। हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि हमारी अशुभ से निवृत्ति का लक्ष्य शुभ में प्रवृत्ति करना है और शुभ में प्रवृत्ति करने का ध्येय अशुभ से निवृत्ति होना है। हजारों 'ना' हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर निरपेक्ष होकर रह नहीं सकती और रहनी भी नहीं चाहिए।

आदमी घोड़े पर चढ़ता है तो चलने के लिए चढ़ता है। इसलिए नहीं चढ़ता है कि वहीं जाम हो जाय। वह घोड़े पर चढ़ता है और उसे गति देता है, किन्तु घोड़े की लगाम भी साथ ही पकड़ लेता है। उसे जहाँ तक चलना है वहाँ तक चलता है और जहाँ आवश्यकता खड़े होने की होती है, खड़ा हो जाता है। वहाँ प्रवृत्ति

है घोड़े पर चढ़ कर चलना और जरूरत होने पर खड़ा हो जाना निवृत्ति भी है।

किसी सेठ ने अगर ऐसी मोटर ले ली है कि एक दफा हरकत देने पर वह चलती है और ऐसी चलती है कि कहीं कभी रुकती ही नहीं है, तो ऐसी मोटर में कोई बैठेगा? मोटर ऐसी होनी चाहिए कि वह चले तो अवश्य, मगर जरूरत के समय खड़ी भी रह सके, धीमी भी हो सके। उसमें आप बैठना पसन्द करेंगे। जीवन भी गाड़ी है, अतः उसे समय पर चलाइए और समय पर रोकिए भी। न जीवन की गति अमुक्त, मर्यादाहीन एवं उच्छृँखल ही होनी चाहिए। और न सर्वथा निष्क्रिय स्थिति में पड़ कर अशुद्ध हो जानी चाहिए।

हाँ, तो जैनधर्म ने हमारे सामने यह एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण रख छोड़ा है। उससे हम इस परिणाम पर आते हैं कि जहाँ तक शुभ में प्रवृत्ति का अंश है वहाँ प्रवृत्ति है और जहाँ अशुभ से निवृत्ति का अंश है वहाँ निवृत्ति है। प्रवृति और निवृत्ति दोनों ही जगह अहिंसा की सुगन्ध महकती है।

एक आदमी किसी को मार रहा है या कोई आदमी अपने आप मर रहा है। इस समय दो आदमी आ पहुँचते हैं। उनमें से एक आदमी तो उसकी रक्षा के लिए जाता है और दूसरा तटस्थ होकर खड़ा रहता है। तटस्थ खड़े रहने वाले को कहाँ पाप लगता है? वह खुद तो मार नहीं रहा है, सिर्फ तटस्थ भाव से खड़ा हुआ

है। और दूसरा आदमी तटस्थ न रह कर बचाने की प्रवृत्ति करता है। अब आप बतलाइए कि तटस्थ रहने वाले को ज्यादा लाभ है या प्रवृत्ति करने वाले को ?

हमारे वे साथी, जो जीवन के हर क्षेत्र में तटस्थ रहना ही मानते हैं, यही कहेंगे कि जो तटस्थ रहा है उसने पाप नहीं किया है और उसे हिंसा नहीं हुई है। उनकी दृष्टि में तटस्थ रहना—क्रिया-हीन होना ही जीवन का शुभ लक्ष्य है और प्रवृत्ति करना शुभ लक्ष्य नहीं है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि जैनधर्म में जो दया या करुणा की बात कही गई है सो क्या तटस्थ रहने की बात है ?

एक साधु नदी के किनारे-किनारे जाते हुए फिसल गया और नदी में गिर गया और डूबने लगा। उसके साथी दो साधु किनारे पर खड़े हैं। उनमें से एक साधु किनारे पर खड़ा है और तटस्थ भाव से खड़ा है। वह कहता है—मैंने धक्का नहीं दिया। मैंने संकल्प नहीं किया कि वह गिरे। वह अपने आप गिर गया और डूबने लगा है, किन्तु मैं तटस्थ हूँ। यदि पानी में जाऊँगा तो जल के जीवों की हिंसा होगी और जल में रहे हुए छोटे-मोटे त्रस जीवों की भी हिंसा होगी। ऐसा सोचकर वह तटस्थ खड़ा रहता है।

दूसरा साधु उसे बचाने के लिए नदी में घुसता है। डूबने वाला साधु अस्तव्यस्त दशा में है। उसे बचाने की कोशिश करते समय पानी में हलचल होगी और कितनी ही मछलियों और दूसरे

जीवों को भय और परेशानी होगी। फिर भी वह उस साधु को नदी से बाहर निकाल कर किनारे पर लाता है। अब प्रश्न यह है कि जो साधु तटस्थ रहा था वह लाभ में है या जो तटस्थ न रह कर साधु को बचाने नदी में उतरा था वह लाभ में है?

तटस्थ रहने वाला कहता है—नदी में गिराने में मेरा कोई निमित्त नहीं था, अतः मैं गिराने के पाप का भागी नहीं हूँ। और मैं नदी में बचाने के लिए भी नहीं गया अतः बचाने में जो हिंसा हुई, उससे भी बचा रहा। अतएव मैं अपनी तटस्थता के कारण बचाने वाले से भी अधिक अहिंसक हूँ।

जो साधु तटस्थ नहीं रहा और बचाने के लिए नदी में घुसा, वह एक प्राणी को तो जरूर बचा लाया, मगर एक के लिए कितने प्राणियों की हिंसा का भागी हुआ?

इस प्रकार आपके सामने यह प्रश्न उपस्थित है कि तटस्थ रहना ज्यादा आवश्यक है या प्रवृत्ति करना? इस विषय में भगवान् महावीर का क्या आदेश है?

भगवान् महावीर का आदेश तो वह कहता है कि इस प्रकार की परिस्थिति आ जाय तो साधु, साधु को या साध्वी को निकाले और तटस्थ होकर न खड़ा रहे। इस प्रकार का जैनागम का मूल पाठ है। इसका कारण यह है कि हिंसा-अहिंसा का जो स्थूल रूप है, कर्त्तव्य उससे भी ऊँचा है।

जब कोई प्राणी सामने मर रहा है, उस समय बाह्य रूप में निवृत्ति कर लेना साधारण चीज है। परन्तु ऐसे अवसर पर बचाने के संकल्प स्वभावतः आया करते हैं, यदि फिर भी हम रक्षात्मक प्रवृत्ति नहीं करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपने आत्मा की एक बड़ी हिंसा हो जाती है। इस आत्महिंसा को रोकना—उससे बचना सबसे बड़ी बात है। इसके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट ही है कि बचाने के पानी में घुसने वाले का संकल्प जल के जीवों को मारने का बिलकुल नहीं, उसका एक मात्र इरादा डूबने से मरते हुए साधु को बचाने का ही होता है।

जैनधर्म ने तटस्थता को महत्त्व अवश्य दिया है, किन्तु सब जगह और सब परिस्थितियों में तटस्थ रहने का आदेश नहीं दिया है।

साधु को बचाने के लिए जल में घुसने वाले साधु को पुण्य प्रकृति का बंध हुआ या पाप प्रकृति का? अथवा उसे निर्जरा हुई? यह प्रश्न सामने है। यह बात तो ध्यान में रहनी चाहिए कि जब अन्तकरण में अनुकम्पा जागती है और करुणा की लहर आती है तब मनुष्य दया की भावना में गद्गद हो जाता है और जब गद्गद हो जाता है तो असंख्य-असंख्य गुणी निर्जरा होती है। ऐसी स्थिति होती है तब हमारी भूमिका शुभ संकल्प में आती है और जब शुभ संकल्प में आती है तो निर्जरा के साथ साथ पुण्य-प्रकृति का

बंध भी हो जाता है। जल में प्रवेश करने से जो हिंसा हुई है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रश्न तो यह है कि उससे हुआ क्या? वह पाप का मार्ग है अथवा पुण्य या निर्जरा का मार्ग है? जैनधर्म इस स्थिति में कहता है कि पानी में जो साधु गया है सो पानी के जीवों को मारने के लिए नहीं गया। वह मछलियों को पीड़ा पहुँचाने की भावना लेकर नहीं गया है, किन्तु एक संयमी को बचाने की दृष्टि से गया है। ऐसी स्थिति में हिंसा हो गई है किन्तु की नहीं गई है। हिंसा हो जाना और हिंसा करना एक बात नहीं है। बहुत बार हम गलती से कह देते हैं कि हिंसा की गई है, किन्तु इस भेद को समझते नहीं, और इसी कारण हिंसा होने को हिंसा करना समझ लेते हैं।

हम कह चुके हैं कि साधु मकान को या जमीन को पूंजता है और पूंजते समय जीव इधर से उधर होते हैं, घसीटे जाते हैं, उन्हें परिताप होता है। किन्तु कोई भी उससे पाप का बंध होना नहीं कहता, क्योंकि वह परिताप हुआ है, दिया नहीं गया है। अगर ऐसा न माना जाय तो पूंजना भी पाप हो जायगा। हमारे यहाँ पुराने आचार्यों की धारणाएँ हैं कि उपाश्रय को पूंजने वाले साधु को बेले का लाभ होता है। एक बार उपाश्रय पूंजने से असंख्य जीव मरते होंगे। यह मत समझिए कि जो आँखों से दीखते हैं वही जीव हैं। आपकी आँखों का कोई मूल्य नहीं है। वे तो सिर्फ स्थूल जीवों को

हीं देखती हैं। आँगन भले ही रत्न-जटित हो और आपको एक भी जीव वहाँ दिखाई न देता हो, फिर भी अगर सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखेंगे तो हजारों जीव चलते-फिरते नजर आएँगे। ऐसी हालत में प्रतिदिन सुबह और शाम के समय प्रतिलेखन करने की आज्ञा क्यों है ? भूमि का प्रमार्जन करना अनिवार्य क्यों बतलाया गया है ?

प्रतिदिन का प्रमार्जन हिंसारूप है, ऐसा सोच कर पूंजना बंद कर दिया जाय तो क्या होगा ! कल और परसों क्या होगा ? जीव बढ़ते जाएँगे या घटते जाएँगे ? जितनी-जितनी गंदगी बढ़ती जाएगी, जीवों की उत्पत्ति भी बढ़ती जाएगी। ऐसी स्थिति में आपको दो बातों में से किसी एक के लिए तैयार रहना चाहिए। या तो आप उस मकान में से अपने आपको हटा लें, मकान छोड़ कर अन्यत्र चले जाएँ या चलने-फिरने और घूमने में जो हिंसा होगी उसके भागी बनें।

इस दृष्टिकोण का अर्थ है कि वर्त्तमान में ही हिंसा-अहिंसा नहीं देखनी है, किन्तु भविष्य की हिंसा-अहिंसा का भी विचार करना चाहिए। अक्सर हमारी निगाह वर्त्तमान पर ही चिपट कर रह जाती है और हम सोचते हैं कि अभी पूंजेंगे तो हिंसा होगी ! किन्तु आप प्रमार्जन नहीं करेंगे और मकान को हीं गंदा रहने देंगे तो गन्दगी बढ़ती जाएगी। असंख्य जीव उत्पन्न हो जाएँगे और सारा मकान जीवों से बिलबिलाने लगेगा। फिर क्या होगा ? आप चलेंगे, फिरेंगे तो आपकी इस प्रवृत्ति से कितने जीव मारे जाएँगे ? तो प्रतिलेखन

और प्रमार्जन वर्त्तमान की भी हिंसा को रोकता है और भविष्य की भी हिंसा से बचाता है। भविष्य में जो हिंसा होने वाली है उसे रोकना और जीवों की उत्पत्ति न होने देना विवेक का तकाजा है। इसलिए जैनधर्म कहता है कि पहले से विवेक रक्खो, स्वच्छता एवं सफाई रक्खो, और जीवों की उत्पत्ति न होने दो तो हिंसा से बचाव हो सकता है। परन्तु खेद है कि आजकल आप लोग आज होने वाली हिंसा का खयाल तो करते हैं और उसे बचाते हैं, किन्तु उसके फलस्वरूप भविष्य में होने वाली महान् हिंसा का कुछ भी खयाल नहीं करते ! बस, यही गड़बड़ी की चीज है। यही मूल में भूल है।

कुछ लोग कहते हैं—प्रतिलेखन करेंगे तो हिंसा होगी, पूंजेंगे तो पाप होगा। उनसे पूछते हैं—पाप क्यों होगा? तब वे कहते हैं—पाप होता है तभी तो ध्यान करते हैं ! पाप न होता तो प्रतिलेखना करने के पश्चात् इरियावहिया का ध्यान करने की क्या आवश्यकता थी ?

जो ऐसा कहते हैं उन्होंने जैनधर्म के हृदय को स्पर्श नहीं किया है। तभी वे भ्रम में पड़ गये हैं। वे प्रतिलेखना की आलोचना करते हैं या दुष्प्रतिलेखना की? सिद्धान्त यह है कि जो आलोचना की जाती है वह प्रतिलेखन या प्रमार्जन की आलोचना नहीं है किन्तु प्रतिलेखन या प्रमार्जन करते समय जो अयतना हुई हो, उसकी आलोचना है। पूंजा तो हो किन्तु सावधानी से न पूंजा हो, प्रति-

लेखन किया हो, ठीक तरह से प्रतिलेखन न किया हो, तो ऐसा करने में जो अशुभांश आ गया है उसकी आलोचना की जाती है। ऐसा न माना जाय तो शास्त्र-स्वाध्याय करने के पश्चात् भी आलोचना क्यों की जाती है ? क्या स्वाध्याय करने से भी पाप लगता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। वह आलोचना स्वाध्याय की आलोचना नहीं है, किन्तु स्वाध्याय करने में अगर असावधानी की हो, गलत उच्चारण किया हो या और कोई भूल कर दी हो तो उसकी आलोचना है। इसी प्रकार प्रतिलेखना के पश्चात् की जाने वाली आलोचना, प्रतिलेखना की नहीं अपितु ठीक तरह प्रतिलेखना न करने की ही है।

इन बारीकियों पर ध्यानपूर्वक विचार करेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि जैनधर्म ने कहा कुछ और है और हमने समझा कुछ और है। हमारे पास कई भाई या बहिन आते हैं और कहते हैं—'आज बुहारी न देने का नियम करा दीजिए।' मगर इसका परिणाम क्या होगा ? सुबह से शाम तक गन्दगी फैली रहेगी। उस गन्दगी से कितने ही जीव उत्पन्न होंगे और कितने ही इधर-उधर से आकर जमा हो जाएँगे ! और यदि अगले दिन भी धर्म के लिए फिर यही नियम कर लिया जाय तो या तो आप कीड़ों-मकोड़ों के लिए ही वह हवेली छोड़ दीजिए या दो-चार दिन बाद बुहारी लगा कर बहुसंख्यक जीवों की हिंसा के भाजन बनिये !

जैनधर्म कहता है कि साधु प्रतिदिन प्रतिलेखन करे।

मगर यह बात हमारे ही लिए नहीं, आपके लिए भी है। प्रतिलेखन-प्रमार्जन नहीं किया जायगा तो उससे होने वाला बेले का लाभ भी नहीं होगा और घर की स्वच्छता भी नहीं होगी। यह नहीं है कि धर्मस्थान के प्रमार्जन से तो बेला के तप का लाभ होता हो, और अपने खुद के मकान का प्रमार्जन करने से न होता हो, उलटा पाप ही होता हो ? जैनधर्म किसी स्थान विशेष में धर्म नहीं मानता है, उसका धर्म तो कर्ता की भावना पर आश्रित है।

हाँ जैनधर्म दृष्टि बदलने की बात कहता है। वह कहता है कि मकान की सफाई कर रहे हो तो दृष्टि बदल कर करो। सफाई करने में एक दृष्टि तो यह हो सकती है कि मकान सुन्दर दिखाई देगा, साफ-सुथरा मकान देखकर लोग तारीफ़ करेंगे। इस दृष्टि में शृङ्गार की भावना है। दूसरी दृष्टि यह है कि मैं सफाई रक्खूंगा तो जीवों की उत्पत्ति नहीं होने पायेगी फलतः जीवों की व्यर्थ हिंसा से बचाव हो जायगा। और फिर पूंजते समय विवेक रक्खा जाय, अंधाधुंधी न मचाई जाय और पूंजने के साधन कोमल रक्खे जाएँ, कठोर न हों ताकि उनकी चपेट में आकर जीव मारे न जाएँ। कोई जीव झाड़न में आ जाय तो उसे सावधानी के साथ अलग परठ दिया जाय। इस प्रकार घर की सफाई करते समय वर्त्तमान में भी विवेक रक्खा जाय और भविष्य का भी विचार रक्खा जाय तो वहाँ धर्म होगा और निर्जरा होगी।

एक बहिन भोजन-पान आदि की सामग्री खुली रख छोड़ती है। कहीं घी ढुल रहा है, कहीं तेल फैल रहा है, कहीं पानी में मक्खियाँ गिर रही हैं, कहीं दाल में चीटियाँ घूम रही हैं ! दूसरी बहिन विवेक के साथ सब चीजों को व्यवस्थित रखती है। सब को ढँक कर और तरीके के साथ रखती है। ऐसा करने में भी एक वृत्ति यह है कि मेरी चीजें खराब न हो जाएँ और दूसरी वृत्ति यह है कि जीवों की हिंसा न हो जाय। किसी किस्म की अयतना न होने पाय। सावधानी दोनों जगह रक्खी जाती है मगर दोनों में कितना अन्तर है ? आकाश और पाताल का अन्तर है। एक में मोह है, ममत्व है और स्वार्थ है। दूसरी वृत्ति में जीवों की दया है, अनुकम्पा है। इसी भावना के भेद से ही तो फल में भिन्नता आती है। जहाँ मोह, ममता और स्वार्थ है वहाँ बन्ध है और जहाँ अनुकम्पा है वहाँ निर्जरा है। जैनधर्म कहता है कि अनुकम्पा की भावना से यतना करने पर भी चीज तो सुरक्षित रहेगी, फिर मोह-ममता को धारण करके नीचे क्यों उतरते हो ? काम करते समय, निर्जरा की जो गंगा बह रही है, उससे वंचित क्यों होते हो ? चीज अव्यवस्थित रहेगी तो खराब होगी, उसमें मक्खी गिरेगी और कष्ट पाएगी. चीज सड़ेगी और असंख्य जीवों की हिंसा होगी, इस प्रकार की दृष्टि रक्खो, जीवरक्षा की बुद्धि रक्खो। इस प्रकार जैनधर्म दृष्टि बदलने की सिफारिश करता है फिर चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, धर्मस्थान में हो या अपने

मकान में हो। दृष्टि बदलते ही मार्ग बदल जाता है। काम करते हुए भी यदि धर्मबुद्धि रक्खी जायगी तो मोक्ष का मार्ग सामने आ जायगा। इस प्रकार जहाँ कहीं भी विवेकमय जीवन होगा, हर क्षण निर्जरा की जा सकती है।

बोलो, जबान पर ताला लगाये फिरने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु संयमपूर्वक बोल सकते हो। बोलते समय ध्यान रहना चाहिए कि किसी को चोट तो नहीं पहुंच रही है? किसी का बुरा तो नहीं हो रहा है? बल्कि कुछ भलाई हो रही है? अगर इस प्रकार समिति का खयाल रखकर बोला जायगा तो समझ लीजिए, निर्जरा हो रही है।

चलने की जरूरत आ पड़ी है तो चल सकते हो। जैनधर्म आपके पैरों को बेड़ियों से नहीं जकड़ता। वह सब के लिए पादपोपगमन संथारे का विधान नहीं करता। मगर चलना हो तो देखकर चलना चाहिए। विवेकयुक्त चलना ही वस्तुतः चलना है। साधु देखकर चल रहा है तो उसको धर्म होगा और आपको नहीं होगा? ऐसी बात नहीं है। आपको भी धर्म होगा, निर्जरा होगी।

आपको घर की चीजें इधर से उधर रखनी हैं और साधु को भी अपनी रखनी हैं तो क्या साधु को ही पात्र इधर से उधर धरने में धर्म होगा और आपको नहीं होगा? ऐसा नहीं है। यदि विवेक रखा जाय, जीवदया की भावना रखी जाय तो निर्जरा की क्रिया

करने से आपको भी निर्जरा होगी।

जैनधर्म का विधान है कि अहिंसा की भावना रक्खी जाय, प्रतिक्षण मन के अन्दर दया की झंकार उठती रहे और इस प्रकार जीवन समितिमय होकर चलता रहे तो काम एक होने पर भी फल दो मिल जाएँगे। यानी आपकी चीजें भी सुरक्षित रहेंगी और आप अहिंसा का अमृत भी पीते जायँगे। कहा है 'एका क्रिया द्व्यर्थ करी सिद्धा।'

अभिप्राय यह है कि जीवन के क्षेत्र में अहिंसा को लूली-लँगड़ी बना कर और एक कोने की चीज़ बनाकर कर रखोगे तो वह नहीं बनेगी। वह सड़ेगी, गलेगी। उसे जीवन के हर क्षेत्र में ले जाइए। चलिए तो अहिंसा को उसमें जोड़ दीजिए. अर्थात् आप अपने जीवन के जिस किसी क्षेत्र में प्रवृत्ति कर रहे हैं, उस प्रवृत्ति के साथ अहिंसा के संकल्प को जोड़ दीजिए। आपकी प्रवृत्ति में एक नया जीवन और नया प्राण आ जाएगा। अपनी वृत्ति को पवित्र बना डालिए, निर्जरा होगी।

अगर आपने अपनी प्रवृत्ति में अहिंसा की दृष्टि नहीं जोड़ी है, फिर चाहे हिंसा हो रही है या नहीं भी हो रही है, तब भी वह हिंसा है। क्योंकि प्रमादभाव हिंसा है और अप्रमादभाव अहिंसा है।

एक सुन्दर प्रकरण आ रहा है—वर्त्तमान की अहिंसा से भविष्य की जो बड़ी हिंसा आने वाली है, उसे निमंत्रण दिया जाय

या नहीं ? आचारांगसूत्र में एक प्रश्न आया है*—एक पंचमहाव्रत-धारी साधु है। विहार कर रहा है। पहाड़ों के बीच से पगडंडी का रास्ता है। वह देख देखकर चल रहा है, किन्तु अचानक ठोकर लग जाय और पैर लड़खड़ा जाय और गिरने लगे। और जब गिरने लगे तो साधु क्या करे ? यदि वहाँ कोई वृक्ष है तो उसे पकड़ ले, बेल है तो उसे पकड़ ले और कोई यात्री आ जा रहे हों तो उनके हाथ के सहारे भी ऊपर आ जाय। साधु त्रिकरण तीन योग से हिंसा का त्यागी है। अतः उसके लिए बेल या वृक्ष को छूने की आज्ञा नहीं है, क्योंकि इनको छूने से असंख्य जीवों की हिंसा हो जाती है। मूल का पाठ तो संक्षेप में कह कर समाप्त हो गया किन्तु हमारे आचार्यों की परम्परा का जो चिन्तन है उसमें प्रश्न खड़े हो गये कि साधु अपनी खुद की रक्षा के लिए दूसरे प्राणियों की हिंसा कर सकता है ? साधु की प्राणरक्षा बड़ी है या अहिंसा बड़ी है ? साधु के लिए कहा गया है कि ऐसे अवसर पर वह वृक्ष को पकड़ कर प्राण बचावे, यह बात कहाँ तक ठीक है ?

साधु को वृक्ष आदि पकड़ कर प्राण बचा लेने का विधान करने वाला यह पाठ आचारांग का है। उससे आप इन्कार नहीं हो सकते। कोई और यह बात कहता तो आप कह देते कि ऐसा नहीं है। अब आपको विचार करना पड़ेगा। हाँ, तो आचार्यों ने विचार

*देखिए, आचारांगसूत्र २, ३, २

किया है कि उस समय साधु जो वृक्ष का सहारा लेकर ऊपर आ रहा है, उसमें भी अहिंसा है। वह अहिंसा किधर से आ गई? साधु ऊपर आया है तो जीवन की लालसा से या मोह से प्रेरित होकर नहीं आया है। जीवन-रक्षा के सम्बन्ध में तो बात यह है कि तलवार की धार भी क्यों न चल रही हो किन्तु साधु अपना धर्म नहीं छोड़ेगा, प्राणों का विसर्जन भले कर देगा। फिर उस स्थिति में वृक्ष या बेल पकड़ने के लिए क्यों छुट्टी देदी गई है? इसका कारण यह है कि असावधानी से जब साधु गिर पड़ता है तो उसका शरीर बेकाबू हो जाता है। बेकाबू शरीर लुढ़कते-लुढ़कते कितनी दूर जाएगा, यह कौन कह सकता है? जितनी दूर वह लुढ़कता जायगा उतनी दूर तक, उसके शरीर-पिण्ड के द्वारा न जाने कितने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होगी? इसके सिवाय गिरने पर अगर अंगभंग हो गया तो जब तक जीता रहेगा, पड़ा रहेगा। धूप, सर्दी और हिंसक जानवर के आने पर उसे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी पैदा होंगे। इस दशा में अगर मृत्यु हो गई तो अपने निर्मल भावों की आत्महिंसा होगी।

हाँ, तो जो वृक्ष पकड़ा गया है, वह जीवन के मोह ममत्व से नहीं पकड़ा गया है, वृक्ष या वृक्ष के आश्रित जीवों की हिंसा करने के लिए नहीं पकड़ा गया है। उसके एक भी फल, फूल या पत्ते से भी साधु को प्रयोजन नहीं है। किन्तु उसने आगे होने वाली भयंकर हिंसा को बचाने के लिए ही वृक्ष को पकड़ा है।

जब साधु बीमार पड़ता है तो दवा खाता है। क्यों खाता है? क्या शरीर की रक्षा के लिए? सम्भव है किसी में आज यह वृत्ति भी हो, किन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि यह वृत्ति मत रक्खो। वे दवा लेने की आज्ञा देते हैं तो इसलिए कि तुम्हें शरीररक्षा के लिए दवा नहीं लेनी है। किन्तु यदि दवा नहीं लोगे तो बीमारी शरीर में फैलेगी और एक दिन वह तुम को बुरी तरह जकड़ लेगी। फिर तुम्हें आर्त्त-ध्यान होगा, रौद्रध्यान होगा और दुस्संकल्प पैदा होंगे। इस स्तिथि से बचने के लिए दवा ली जाती है।

इस प्रकार अगर हम बारीकी से देखें तो मालूम होगा कि भविष्य की हिंसा को रोकने के लिए प्रतिलेखन किया जाता है, प्रमार्जन किया जाता है और यह सब साधु जीवन की लोलुपता से नहीं किन्तु भयंकर हिंसा को रोकने के लिए करता है।

जो जैनधर्म अहिंसा के विषय में इस प्रकार विवेचन करता है और अहिंसा की दृष्टि को सामने रखकर प्रवृत्ति का विधान करता है, उसका मन्तव्य यह है कि प्रवृत्ति का पूरी तरह परित्याग करना नहीं है किन्तु जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है। और प्रवृत्ति करते हुए, अहिंसक भावना रखते हुए भी प्रवृत्ति में अगर कोई अविवेक या भूल होती है तो उसी के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया जाता है। अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अहिंसा निवृत्ति में ही नहीं, प्रवृत्ति में भी है।

२१-६-५०

अहिंसा अव्यवहार्य है ?

आज अहिंसा के सम्बन्ध में एक विकट प्रश्न अड़ा हुआ है। संसार के सामने और जब तक उस प्रश्न को अच्छी तरह हल न कर लें, तब तक जनता के मन का पूरी तरह समाधान नहीं हो सकता। कुछ लोग कहते हैं, अहिंसा अपने आप में अच्छी चीज है। अहिंसा के सिद्धान्त बहुत अच्छे हैं। समय समय पर अहिंसा का जो विश्लेषण किया गया है, उसकी व्याख्याएँ की गई हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं और इतनी ऊँची हैं कि वास्तव में हमें उनका आदर करना चाहिए। किन्तु जहाँ अहिंसा की लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ की गई हैं वहीं वह अव्यवहार्य चीज भी बन गई है, अर्थात् व्यवहार में आने लायक नहीं रही है। जीवन में उतारने लायक नहीं रही है। हम उसके सहारे जीवनयात्रा करना चाहें तो नहीं कर सकते हैं।

बात अच्छी है किन्तु काम आने लायक नहीं है तो उसका

मूल्य क्या है ? चीज अच्छी है पर लेने योग्य नहीं है, इसका अर्थ क्या है ? अहिंसा अगर जीवन में उतारने लायक नहीं है, उसके सहारे हम जीवन-यात्रा नहीं कर सकते हैं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह रद्दी चीज है, अयोग्य है और जीवन में उसका कोई मूल्य नहीं है।

इस प्रकार के प्रश्न साधारण लोगों के सामने और विचारकों के सामने भी उठा करते हैं। अब हमें देखना है कि क्या वस्तुतः ऐसी ही बात है ? अहिंसा क्या सचमुच ही व्यवहार में आने लायक नहीं है ? अगर हृदय की सचाई से विचार किया जाय और भारत के सुनहरे इतिहास पर नजर डाली जाय तो पता चलेगा कि यह खयाल सही नहीं है। जो चीज व्यवहार में लगातार कई सदियों तक आती रही है, जिसे भगवान् महावीर जैसे महा-पुरुषों ने, गौतम जैसे सन्तों ने और आनन्द जैसे गृहस्थों ने तथा वर्तमान में राष्ट्रपिता गाँधीजी ने भी जीवन में उतार कर दिखा दी है, उसकी व्यवहार्यता में आज शंका करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ? एक नहीं हजारों साधकों ने, जो अहिंसा की संतापशमिनी छाया में आये, उन्होंने यही कहा कि यह व्यवहार की चीज है। जिन्होंने अहिंसा का व्यवहार अपने जीवन में किया, उन्हें तो वह अव्यवहार्य नहीं लगी, मगर जिन्होंने एक दिन भी अपना जीवन अहिंसामय नहीं बिताया, वे अपने तर्क के आधार पर उसे अव्यवहार्य मानते हैं !

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ?

अहिंसा के बिना हमारे जीवन का एक कदम भी तो आगे नहीं बढ़ सकता। इन्सान अगर इन्सान बन कर आगे बढ़ना चाहता है और आदमी अगर आदमी के संकल्प में आगे बढ़ना चाहता है तो अहिंसा के बिना वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। मनुष्य यदि जीवन के एक-एक कदम पर दूसरों का खून बहाता हुआ और संहारक संघर्ष करता हुआ चलता है तो वह मनुष्य की गति नहीं है। वह सचमुच हैवान, राक्षस और दैत्य की गति है आदमी के चलने में और राक्षसों के चलने में दिन-रात का अन्तर है। यह अन्तर भूतल पर के हर मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आदमी चलता है तो वह जीवन-पथ में किसी के लिए काँटे नहीं बिछाता है। वह जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देते हुए चलता है। आनन्द के फूल बरसाता हुआ और जिधर भी चलता है प्रेम की फुहारें छोड़ता हुआ चलता है। घृणा की फुहारें छोड़ता है तो समझो कि वह इन्सान नहीं बल्कि हैवान है। मोटर-ड्राइवर के विषय में पहले कहा जा चुका है। वही ड्राइवर सावधान और होशियार समझा जाता है जो सामने आते हुए बच्चे और बूढ़े को बचाकर मोटर चलाता है, काँटों और झाड़ियों को भी बचाता चलता है। इसके विपरीत जो ड्राइवर सामने आये बालक या बूढ़े को कुचल देता है और मोटर को कभी इस किनारे और कभी उस किनारे से टकरा

देता है और लड़खड़ाती गाड़ी चलाता है तो लोग कहते हैं कि ड्राइवर पागल है और उसे मोटर चलाने का अधिकार नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जीवन भी गाड़ी है, मोटर है या रथ है। आत्मा इसका ड्राइवर है। वह जब जीवन की गाड़ी को ठीक ढंग से चलाता है, जहाँ कहीं टक्कर लगने वाली होती है तो बचा लेता है और संघर्ष होता है तो भी बचा कर चलता है, वह जीवन की राह पर ठीक-ठीक अपनी गाड़ी चलाता है और रुकता नहीं किन्तु चलाता ही रहता है, तो हम समझते हैं कि यह ड्राइवर-आत्मा बाहोश है, सावधान है, कुशल है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, द्वेष के नशे में नहीं है, फलतः खुद चलना भी चाहता है और दूसरों को बचाना भी चाहता है।

अंधाधुंध चलाने का क्या मतलब है? कोई प्राणी आ गया रास्ते में तो हिंसा से कुचल दिया, असत्य से कुचल दिया। कोई आदमी या साथी आ गया तो चोरी से, दगा से या घृणा से कुचल दिया और इस प्रकार कुचलता हुआ मदमत्त स्थिति में गुजरता गया तो आप समझ लीजिए कि इस जीवन का ड्राइवर-आत्मा होश में नहीं है। वह इन्सान के रूप में अपने जीवन की गाड़ी नहीं चला रहा है। उसे हैवानियत का नशा चढ़ गया है और वह भूल गया है कि जीवन का पथ कैसे तय किया जाय।

कल्पना कीजिए, आप में से कोई साथी गहन वन में से,

भयानक जंगल में से गुजर रहा है। अथवा ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर से गुज़र रहा है। राह में इधर भी काँटेदार झाड़ी है और उधर भी काँटेदार झाड़ी है। इधर भी नुकीले पत्थर हैं और उधर भी। वे सब उसे घायल करते हैं, काँटे चुभते हैं और पत्थरों की ठोकरें लगती हैं, किन्तु वह यात्रा करता ही रहता है जब कि उसे चलने के लिए एक जरा-सी पगडंडी मिली है। जरा-सी भी असावधानी हो जाय तो बस इधर या उधर उसके कपड़े झाड़ी में उलझ जाएँ। इसलिए इधर-उधर पल्ला बचाता है और ठीक बीच से, उस पगडंडी में से अपनी राह बनाता है। फिर भी यदि उलझ जाता है तो खड़ा हो जाता है और झट पल्ला निकाल लेता है। फिर आगे बढ़ता है और यदि फिर भी उलझ जाता है तो फिर निकाल लेता है। गुज-रते हुए कहीं काँटा लग जाता है तो खड़ा होता है और निकाल लेता है। बीच में पत्थर या चट्टान आ जाती है तो भी बचता है और ठोकर लग जाती है तो भी बचता है। राह की रुकावटों से उलझता नहीं, चलता है और बस चलता है। 'चल चल रे नौज-वान, चलना तेरा काम।'

इस तरह एक आदमी चल रहा है और निरन्तर चल रहा है। वह बीच में कहीं रुकता नहीं, किन्तु सीधा अपनी मंजिल की ओर बराबर बढ़ता ही चला जा रहा है।

एक दूसरा आदमी भी उसी रास्ते चलता है किन्तु सावधानी

नहीं रखता है। जब वह कांटेदार झाड़ी के पास से चला तो झाड़ी में उलझ गया। बस, अब सोचता है कि इसने हमारा पल्ला उलझा दिया, अतः जब तक मैं इस झाड़ी को ही जड़ से न काट दूँ तब तक आगे नहीं बढ़ सकता। अब वह जुट जाता है काटने में और काट चुकने पर आगे रवाना होता है कि दूसरी झाड़ी में उलझ जाता है और फिर उसे भी काटने लगता है। यदि कोई काँटा चुभ गया पैर में तो उसके टुकड़े-टुकड़े करने लगा। फिर आगे बढ़ा तो पत्थर की ठोकर लगी तो कुदाल लेकर लगता है चट्टान को तोड़ने। इस प्रकार चलने वाला क्या कभी अपनी मंजिल पर पहुँच सकेगा? जो बच कर सावधानी से चलता है और उलझता नहीं है, वह तो चलेगा और अपनी मंजिल पूरी कर लेगा; मगर जो इस प्रकार चला है कि जहाँ उलझेगा संहार करने लगेगा और सारे पहाड़ को चकनाचूर करके ही आगे बढ़ेगा, तो ऐसा संकल्प लेकर चलने वाला सौ वर्ष की उम्र पाये तो भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेगा। हजार वर्ष की उम्र में भी मंजिल पूरी नहीं कर सकेगा।

तो सिद्धान्त यह निकला कि जीवन-यात्रा करनी है तो प्रथम तो व्यर्थ के संघर्षों में से अपने जीवन को बचाते हुए सावधानी से चलना चाहिए, सावधानी रखते हुए भी यदि कहीं उलझ ही जाय तो अपने आपको सुलझाते हुए आगे बढ़ो। मनुष्य यदि इधर-उधर से पल्ला सँभाल कर अपने जीवन की राह पर चलता जायगा तब तो अपनी

मंजिल पर पहुँच जायगा। और यदि जरा भी किसी से अनबन हो गई तो बस जब तक उसकी जबान नहीं खींच ले, परिवार में जरा-सी कोई बात हो जाय तो बस जब तक अदालत के द्वार न खटखटा ले तब तक आराम की साँस न ले, तो उसकी जीवन-गाड़ी अपनी सफल यात्रा कभी भी नहीं कर सकती।

इस प्रकार पहला जीवन का मार्ग है—अहिंसा का। यानी कभी किसी से उलझे नहीं, सावधानी से चले और यदि फिर भी उलझ जाय तो उलझन को ठीक करे। यह अहिंसा की प्रेरणामय जिन्दगी है। और दूसरा मार्ग है हिंसा का कि प्रथम तो असावधानी से चलना किधर पैर पड़ रहे हैं, इस बात का विचार ही न करना। और यदि कभी किसी से उलझ जाय, तो टकरा जाय या उसका सर्वनाश ही कर देना। यह बुद्धि हिंसा की बुद्धि है।

इन दो मार्गों में से आपको एक चुनना है। कई विचारक मित्र कहते हैं कि अहिंसा उत्तम चीज है किन्तु वह जीवन-व्यवहार की चीज नहीं है। तो मैं पूछता हूँ कि, साहब, व्यवहार का मार्ग कौन-सा है ? वस्तुतः बचना और बचाना ही व्यवहार का मार्ग है, और यही अहिंसा है। और जो हिंसा है वह तो उलझने का और टकराने का मार्ग है। खुद बर्बाद हो जाना और दूसरों को बर्बाद कर देना हिंसा है। आप ही कहिए, अगर यह ग़लत नहीं तो क्या है ?

हमें हिंसा और अहिंसा की स्पष्ट व्याख्या समझने के लिए

तैयार होना चाहिए। अगर हम इसका निर्णय नहीं करेंगे तो जीवन के सही रास्ते पर नहीं चल सकेंगे। आप अपने जीवन की तलाश कीजिए। जागते रहिए और देखते रहिए कि दूसरों को आपकी हिंसा और अहिंसा से क्या नतीजा मिलता है ? यदि आप खुले मन से विचार करेंगे तो आपको पता चलेगा कि जीवन के व्यवहार में आप हिंसा के बजाय अहिंसा में ही ज्यादा रहते हैं। घर में थोड़ी-सी बात हो जाती है तो क्या आप उसके लिए न्यायालय की राह लेते हैं? परिवार की गुत्थियाँ उलझ जाती हैं तो डंडे से नहीं सुलझाई जाती हैं, हर बात पर अदालत में नहीं भागा जाता है। हाँ, तो जैसा अहिंसा एवं प्रेम का व्यवहार परिवार में किया जाता है वही समाज में और वही राष्ट्र में क्यों न किया जाय ?

जो हिंसा के पथ पर चलते हैं, आखिरकार वे ऊबते हैं और उससे विरत होते हैं। जो खूनी लड़ाइयाँ लड़ते रहे और जिन्होंने जीवन-क्षेत्र को खून से तरबतर कर दिया, वे भी अन्त में सुलहनामा करने बैठे। आखिर यह क्या चीज़ है ? जो चीज़ अन्त में आने वाली ही है, लाखों-करोड़ों का संहार करके अन्ततः जिस मार्ग को पकड़ना ही है, उसे पहले लिया जाय, वही मार्ग पहले पकड़ लिया जाय तो क्या ऐसा करना अच्छा न होगा ? अब यह स्पष्ट है कि अहिंसा व्यवहार की चीज है, अव्यवहार्य नहीं है। हजारों साधक इसी मार्ग पर चले और उन्होंने हजारों वर्ष इसी राह पर अपनी

जिन्दगी गुजारी । उन्हें अहिंसा अव्यवहार की चीज नहीं दिखाई दी।

कल्पना कीजिए, कोई अहिंसा को अव्यवहार्य और हिंसा को ही व्यवहार्य समझने वाला यह प्रतिज्ञा ले ले कि मैं हिंसा ही करूँगा—जो मिलेगा उसकी हिंसा किये विना नहीं रहूँगा, तो क्या वह एक दिन भी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह सकेगा ? अहिंसा की प्रतिज्ञा लेकर लम्बी जिन्दगी गुजारी जा सकती है, गुजारी गई है, मगर हिंसा की प्रतिज्ञा करके कितने मिनिट विताये जा सकते हैं ? हिंसा की प्रतिज्ञा लेने वाला अधिक से अधिक उतनी ही देर जिन्दा रह सकेगा जितनी देर उसे अपना गला घोटने में लग सकती है ।

तो सिद्धान्त क्या है ? हम अपने जीवन में निन्यानवे फी सदी तो प्रेम से काम लेते हैं और एक फी सदी ऐसा होता है कि हिंसा, घृणा या ईर्ष्या से काम लिया जाता है । अब यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि यह भी कि अहिंसा के द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाया जाता है और चलाया जा सकता है । अहिंसा जीवन है, रक्षा है और हिंसा मौत है, संहार है ।

:-१-५०

———

(२)

सामाजिक हिंसा

वर्णव्यवस्था का मूल रूप

अभी तक हिंसा-अहिंसा की जो व्याख्या की गई है वह प्रत्यक्ष में जीवों की हिंसा और अहिंसा को लेकर है। आज मैं दूसरे प्रकार की परोक्ष हिंसा-अहिंसा पर प्रकाश डालने का विचार करता हूँ।

हिंसा दो प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष हिंसा और परोक्ष हिंसा। प्रत्यक्ष हिंसा मनुष्य की समझ में जल्दी आ जाती है। जब वह सोचता है तो शीघ्र ही उसे खयाल आ जाता है कि आज एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक के जीव मेरे हाथ से मारे गये हैं। मगर दूसरी जो परोक्ष हिंसा है और जिसका रूप बहुत व्यापक है, उसके सम्बन्ध में कल्पना नहीं आती है। अकसर उसकी तरफ खयाल भी नहीं जाता। उसकी गहराई को लोग समझ भी नहीं पाते हैं। इस परोक्ष हिंसा की ओर ध्यान दिलाने के उद्देश्य से ही आज हम एक

नया प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं। इस प्रकरण को **'सामाजिक हिंसा'** कहना उपयुक्त होगा।

आपको यह शब्द नवीन-सा प्रतीत होगा और आप सोचेंगे कि यह फिर कौन-सी नयी हिंसा आ टपकी है? किन्तु हिंसा का रूप एक नहीं है। हिंसा के विविध रूप हैं, अलग-अलग अनगिनते प्रकार हैं। हम ज्यों-ज्यों उन पर चिन्तन और मनन करेंगे, त्यों-त्यों जैनधर्म के अहिंसा सम्बन्धी विचारों की सूक्ष्मता और व्यापकता का हमें पता लगता जायगा। तब हम समझ सकेंगे कि जैनधर्म विचारों की कितनी गहराई तक पहुँचा है!

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का मतलब क्या है? भारत का समाज या देश का समाज क्या? वह कैसे बना है? जमीन के अनेक टुकड़ों को समाज नहीं कहते; मकानों का, ईंटों का या पत्थरों का ढेर भी समाज नहीं कहलाता और न गली-कूचे का, दुकान का या सड़क आदि का नाम ही समाज है। ब्यावर का समाज या दिल्ली का समाज जब कहा जाता है तो अभिप्राय होता है—ब्यावर या दिल्ली में रहने वाला मानवसमुदाय।

एक समाज का दूसरे समाज के साथ कैसा व्यवहार है? क्या ताल्लुक है – मीठा या कड़वा सम्बन्ध है? एक जाति का दूसरी जाति के साथ, एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ और एक मुहल्ले का दूसरे मुहल्ले के साथ घृणा और द्वेष तो नहीं चल रहा है? अगर कहीं

घृणा चल रही है और वह समूहगत या समूह के प्रति चल रही है तो वह सामाजिक हिंसा कहलाएगी। इसी प्रकार एक प्रान्त की दूसरे प्रान्त के साथ और एक देश की दूसरे देश के साथ घृणा चल रही है तो वह भी सामाजिक हिंसा ही है।

जैनधर्म एक विराट धर्म है। वह महान् सन्देश लेकर आया है। उसका सन्देश यह है कि विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सब मूलतः एक हैं। कोई भी जाति और कोई भी वर्ग मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता है। आचार्य जिनसेन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है:—

मनुष्यजातिरेकैव, जातिकर्मोदयोद्‌भवा।

—आदिपुराण

आज मनुष्य जाति में अलग-अलग जो वर्ग दिखाई देते हैं, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से, धन्धों के भेद से हैं और कुछ गलतियों और भूलों के प्रताप से भी चल रहे हैं। समाज की परिस्थितियाँ बदलीं और इतनी बदल गईं कि यह अखण्ड मानवजाति टुकड़े-टुकड़े हो गई और न जाने कितने हिस्सों में बँट गई।

भगवान् ऋषभदेव के समय में जब समाज की स्थापना की गई तो हमारी मान्यता के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यह चारों वर्ग या वर्ण कायम हुए। इन वर्गों का आधार सिर्फ धंधा था। समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने के

लिए ही यह वर्ग स्थापित किये गये थे।

एक वर्ग का काम था कि वह अध्यापक का काम करे, जनता को रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे और जब-जब समाज में गलतियाँ आवें तो उन्हें ठीक ढंग से दुरुस्त करे। वह वर्ग ब्राह्मण वर्ग कहलाया। ब्राह्मणवर्ग न्यौता देकर जिमाने के लिए तैयार नहीं किया गया था और न यह कहने के लिए कि—'मैं बहुत ऊँचा एवं पवित्र हूँ और सब मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं। संसार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है वह देने का नहीं, सिर्फ लेने ही लेने का है।' इस सिद्धान्त पर ब्राह्मणवर्ग की स्थापना नहीं हुई थी।

जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार शक्तिशाली लोग अशक्तों और असमर्थों का शोषण करना चाहते हैं। शक्तिमान् लोग न्याय और अन्याय को तोलते भी हैं तो तराजू उनकी अपनी बुद्धि होती है और बाँट अपना स्वार्थ होता है। अपनी बुद्धि की तराजू पर, अपने स्वार्थ के बाटों से तोलने वाला कब न्याय-अन्याय को सही तौर पर तोल सकता है? वह न्याय की रक्षा नहीं कर सकता और उचित-अनुचित के विवेक के साथ नहीं चल सकता। इस कारण समाज की स्थापना के साथ ही साथ राजनीति का भी रूप आ गया। सबलों द्वारा दुर्बल पीड़ित न किये जाएँ, दुर्बलों को भी रहने का उतना ही अधिकार है जितना बलवानों को, अतः उनकी समुचित रक्षा की जाय। इस प्रयोजन से क्षत्रियवर्ग की स्थापना हुई, राजा

उनका संरक्षक बन कर आया, पहरेदार बन कर आया। क्षत्रियवर्ग और उनका मुखिया राजा महलों में बैठ कर ऐश-आराम भोगने के लिए नहीं था। देश के किसी भी कोने में अत्याचार होता हो और कोई प्राणी कुचला जाता हो तो वह अपने प्राणों को निछावर करके भी उसकी रक्षा करे, क्षत्रियों की स्थापना में यही दृष्टि थी। महाकवि कालीदास ने भी यही कहा है:—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।

—रघुवंश महाकाव्य

इसके बाद वैश्यवर्ग स्थापित हुआ। वह इसलिए नहीं कि दुनिया भर का शोषण करके अपना पेट भरे और दुनियाँ की ज़ेब खाली करके अपनी जेब भरे। उसकी स्थापना का उद्देश्य था कि प्रजा को जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध की जा सके। कोई वस्तु कहीं बहुतायत से पैदा होती है और कहीं कम होती है या होती ही नहीं है। जहाँ बहुतायत से होती है वहाँ वह उपयोग करने के बाद भी पड़ी सड़ती रहती है और जहाँ नहीं होती वहाँ के लोग उसके अभाव में असुविधा अनुभव करते हैं और कष्ट भोगते हैं। इस परिस्थिति को दूर करना और यथावश्यक वस्तुएँ सर्वत्र सुलभ कर देना वैश्यवर्ग का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह

उचित पारिश्रमिक ले लिया करता था। वैश्यवर्ग की स्थापना में यही मूल उद्देश्य सन्निहित था।

और चौथा शूद्रवर्ग था, जिसका कार्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था। समाज की सेवा करना उसका दायित्व था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्रवर्ग की स्थापना में किसी प्रकार की हीनता की भावना नहीं थी। कल्पना की जा सकती है कि वर्णव्यवस्था कायम करते समय शूद्रवर्ग को अगर किसी भी अंश में और वर्णों की अपेक्षा हीन माना गया होता तो कौन व्यक्ति इस वर्ण में सम्मिलित होने को तैयार होता? वस्तुत. उस समय ऐसी कोई बात नहीं थी। जैसे अन्यान्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ग भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

प्राचीन साहित्य में ब्राह्मणों को मुख कहा है। आम तौर पर यह उक्ति प्रचलित है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से वैश्य पेट से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। यजुर्वेद में, पुरुषसूक्त में कहा है:—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:,
>
> उरू तदस्यासीद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्र अजायत।

आज ब्राह्मण लोग यह बात तो बड़े गौरव के साथ दोहराते

उनका संरक्षक बन कर आया, पहरेदार बन कर आया। क्षत्रियवर्ग और उनका मुखिया राजा महलों में बैठ कर ऐश-आराम भोगने के लिए नहीं था। देश के किसी भी कोने में अत्याचार होता हो और कोई प्राणी कुचला जाता हो तो वह अपने प्राणों को निछावर करके भी उसकी रक्षा करे, क्षत्रियों की स्थापना में यही दृष्टि थी। महाकवि कालीदास ने भी यही कहा है:—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।

—रघुवंश महाकाव्य

इसके बाद वैश्यवर्ग स्थापित हुआ। वह इसलिए नहीं कि दुनिया भर का शोषण करके अपना पेट भरे और दुनियाँ की जेब खाली करके अपनी जेब भरे। उसकी स्थापना का उद्देश्य था कि प्रजा को जीवन-निर्वाह की सामग्री सर्वत्र सुलभता से उपलब्ध की जा सके। कोई वस्तु कहीं बहुतायत से पैदा होती है और कहीं कम होती है या होती ही नहीं है। जहाँ बहुतायत से होती है वहाँ वह उपयोग करने के बाद भी पड़ी सड़ती रहती है और जहाँ नहीं होती वहाँ के लोग उसके अभाव में असुविधा अनुभव करते हैं और कष्ट भोगते हैं। इस परिस्थिति को दूर करना और यथावश्यक वस्तुएँ सर्वत्र सुलभ कर देना वैश्यवर्ग का कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह

उचित पारिश्रमिक ले लिया करता था। वैश्यवर्ग की स्थापना में यही मूल उद्देश्य सन्निहित था।

और चौथा शूद्रवर्ग था, जिसका कार्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था। समाज की सेवा करना उसका दायित्व था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्रवर्ग की स्थापना में किसी प्रकार की हीनता की भावना नहीं थी। कल्पना की जा सकती है कि वर्णव्यवस्था कायम करते समय शूद्रवर्ग को अगर किसी भी अंश में और वर्णों की अपेक्षा हीन माना गया होता तो कौन व्यक्ति इस वर्ण में सम्मिलित होने को तैयार होता? वस्तुतः उस समय ऐसी कोई बात नहीं थी। जैसे अन्यान्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य से कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ग भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था।

प्राचीन साहित्य में ब्राह्मणों को मुख कहा है। आम तौर पर यह उक्ति प्रचलित है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से वैश्य पेट से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। यजुर्वेद में, पुरुषसूक्त में कहा है:—

> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः,
> उरू तदस्यासीद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्र अजायत।

आज ब्राह्मण लोग यह बात तो बड़े गौरव के साथ दोहराते

हैं कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं, मगर इसका वास्तविक अभिप्राय क्या है, इस बात को समझने का कौन प्रयत्न करता है? ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का अर्थ यह है कि आप जो चिन्तन और मनन करते हैं उसका उपयोग मुख द्वारा कीजिए। आप अपने ज्ञान को पवित्र वाणी के द्वारा प्रकाशित करके मानव-समाज की सेवा कीजिए। यह बात नहीं है कि ब्राह्मण मुख में से बाहर निकल पड़े हों। अन्य लोग जिस तरीके से पैदा होते हैं उसी तरीके से ब्राह्मण भी पैदा होते हैं। यह बात कौन नहीं जानता? मुख से पैदा होने की बात तो केवल अलंकार है और उसका आशय यही है कि ब्राह्मणों का मुख्य कर्त्तव्य ज्ञान के द्वारा समाज की सेवा करना है। वह अलंकार जीवन की पवित्रता का सन्देश लेकर आया था।

क्षत्रिय भुजाओं से उत्पन्न हुए, यह भी आलंकारिक भाषा है। इसका अर्थ यह है कि क्षत्रियवर्ग अपनी भुजाओं के बल से, सबलों द्वारा सताये जाने वाले निर्बलों की रक्षा करे और अन्याय और अत्याचार करने वालों की भुजाओं को पकड़े। जहाँ अन्याय-अत्याचार के हाथ बरस रहे हों वहाँ तुम्हारे हाथ चोट पहुँचाने के लिए नहीं, उन दुर्बलों पर छाया बन कर पहुँच जाने चाहिएँ।

हम लोग जो भोजन करते हैं, वह पेट में जमा हो जाता है। मगर पेट में जमा हुआ भोजन रस के रूप में सारे शरीर में पहुँचता है यह नहीं कि पेट में पहुँचा हुआ भोजन पेट में ही रह जाय और पेट

ही उसे पूरे का पूरा हज़्म कर जाय और किसी दूसरे अवयव को वह न मिलने पावे। हमारे शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा जो चल रहा है वह पेट में पहुँचे भोजन की बदौलत ही तो है। पेट अगर सम्पूर्ण शरीर को शक्ति न दे, तो हमारे शरीर का अस्तित्व टिक ही नहीं सकता। और जब शरीर नष्ट हो जायगा तो क्या अकेला पेट टिक सकेगा? पेट की बदौलत अगर सारा शरीर टिका हुआ है तो सारे शरीर की बदौलत पेट भी टिका हुआ है। तो आशय यह है कि पेट में जो भोजन पहुँचता है, वह रस, रक्त, माँस चर्बी, आदि के रूप में परिणत होकर सारे शरीर को जीवन प्रदान करता है और शक्ति पहुँचाता है।

वैश्य समाज का उदर है। कृषि वाणिज्य उसका प्रधान धंधा बतलाया गया है। कृषि के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुएँ उत्पन्न करके और वाणिज्य के द्वारा स्थानान्तरित करके समस्त समाज को भोजन देना, शक्ति पहुँचाना और जीवित रखना उसका कर्त्तव्य है। उसके इसी महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य को सुन्दर ढंग से प्रतिपादित करने के लिए यह कहा गया है कि वैश्य ब्रह्मा के पेट से उत्पन्न हुआ है।

वैश्य वर्ग की स्थापना का यह आशय कितना पवित्र था! किन्तु समाज का दुर्भाग्य है कि वैश्य अपनी पवित्र प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सका। वह लालच के चंगुल में बुरी तरह फँस गया है। बंगाल और बिहार में जब भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था, सर्वत्र हाहाकार मच रहा था और वहाँ की सड़कों पर भूखे बच्चे और बूढ़े

इस तरह गिर जाते थे कि फिर उठना मुश्किल हो जाता था, उसी समय में एक व्यापारी के विषय में मुझे बतलाया गया था। बड़ी तादाद में उसके पास चावलों का संग्रह था। उसने जगह-जगह से खरीद कर बड़ा भारी स्टोक जमा कर लिया था। उसके मुनीम बाजार में चक्कर लगा कर आते और कहते—तीस रुपया मन चावल बिकते हैं, क्या बेच दिये जाएँ ?

सेठ कहता—अभी नहीं, प्रभु की कृपा हो रही है।

मुनीमों ने कुछ ही दिनों बाद चालीस रुपया मन का भाव बतलाया।

सेठ बोला—मन्दिर में घी के दिये जलाओ।

जब चावलों का भाव चढ़ते-चढ़ते सत्तर रुपया हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—गोशाला में घास डलवा दो।

कितना अज्ञान और कितनी जड़ता! इस क्रूरता की कोई सीमा है! स्वार्थलिप्सा की हद हो गई! भूखों का भोजन चारों ओर से बटोर कर इकट्ठा कर लिया है और जब भाव चढ़ते जाते हैं तो खुशियाँ मनाते हैं, उल्लास का अनुभव करते हैं और धर्म करने दौड़ते हैं। मन्दिर में दिये जला रहे हैं! मैं पूछता हूँ दिये जलेंगे किन्तु किन से ? उनसे ही जलेंगे न, जिनका शोषण किया जा रहा है ? इस प्रकार के दियों में घी नहीं, भूखों की चर्बी जला करती है।

व्यापारी वर्ग संसार में इसलिए नहीं आया कि वह जनता का शोषण करे। पर आज यही हो रहा है। सेठजी की हवेली से जूठन का पानी डाला जाता है सड़क पर और उस जूठन में चावलों के जो कण मिले हुए हैं, उन्हें उठाने के लिए भूखे गरीब कुत्तों की तरह दौड़ते और झगड़ते हैं। यह सारी परिस्थिति वे अपनी आँखों देखते हैं, फिर भी उन्हें तरस नहीं आता। वे अपने हिसाब में मस्त रहते हैं—दो लाख से पाँच लाख हो गये और पाँच लाख से दस लाख हो गये। मन्दिर में घी के दिये जलाते हैं मगर किसी भूखे को अन्न का एक दाना नहीं देते।

ठीक है, व्यापारी व्यापार करेगा तो धन का संग्रह भी उसके पास होगा। परन्तु आचार्यों ने कहा है:—

शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर।

अर्थात्—तू सौ हाथों से बटोर और हजार हाथों से बिखेर दे! यानी संग्रह करने की जो शक्ति तुझ में है, उससे दस गुनी शक्ति उस संग्रह को बाँट देने की होनी चाहिए। जब सौ हाथों से कमाने की शक्ति है तो हजार हाथों से बाँटने की शक्ति भी प्राप्त कर।

जब इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जाता है और स्वार्थ ही एक मात्र जीवन का केन्द्रबिन्दु बन जाता है तो वहाँ सामाजिक हिंसा आ जाती है।

चौथा वर्ग शूद्रों का है। उनकी उत्पत्ति पैरों से मानी गई है।

और इसका दुष्परिणाम यह आया कि आज तो शूद्र शब्द घृणा और तिरस्कार का पर्यायवाची-सा बन गया है। शूद्र का नाम लिया कि लोगों का त्यौरियाँ चढ़ जाती हैं और अपने आपको ऊँचा मानने वाले लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं। आप समाजसेवा के अपने पवित्र दायित्व को भुला कर सिर्फ व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते हैं तब अधिकांश शूद्र आज भी समाज-सेवा का कठोर उत्तरदायित्व वहन कर रहे हैं। किन्तु जब वह इन्सान की तरह बैठना चाहते हैं तो आप उन्हें पास में बैठाना भी नहीं चाहते। गजब की बात है!

आपकी मोटरों में बिल्ली को जगह मिल सकती है। आपकी बगल में और गोद में कुत्ते को स्थान मिल सकता है। बिल्ली, भले ही कितने ही चूहों को मार कर आई हो, पर वह आपके चौके के कौने-कौने में चक्कर लगा सकती है और आप उसे प्यार कर सकते हैं, मगर इन्सान को-शूद्र को यह हक़ हासिल नहीं है! इन्सान को अपने पास बैठने का भी हक़ नहीं देते! हक़ नहीं देते हैं तो उसका फ़ैसला बाद में करेंगे, किन्तु आप तो धर्मस्थान में भी उसे नहीं बैठने देते! जब यह बात है तो मैं सोचता हूँ कि इससे बढ़ कर और क्या सामाजिक हिंसा होगी कि आप अपनी पवित्रता का ढोल पीट रहे हैं और दूसरों की छाया से भी नफ़रत करते हैं।

एक जगह एक हरिजन भाई आता है और बड़े प्रेम का विचार लेकर आता है। उसने मांस खाना और मदिरा पीना छोड़

दिया है। वह अष्टमी और चतुर्दशी का व्रत भी करता है। आपके धार्मिक जीवन के जो प्रधान अङ्ग हैं सामायिक और पौषध, उन्हें भी वह करता है। सन्तों के दर्शन भी करता है। जब वह व्याख्यान सुनने आता है तो उसे कहा जाता है–'नीचे बैठकर सुनो!'

वह बेचारा नीचे बैठकर सुनता है और आप चौक की उँचाई पर बैठ जाते हैं। अब इसमें अन्तर क्या पड़ा? हवा उसे छूकर आपको लग रही है। तो आप ईश्वर के दरबार में फरियाद ले जाइये कि हवा हमें भ्रष्ट कर रही है, इसे बहने से रोक दीजिए! सूर्य का वही प्रकाश उस पर पड़ रहा है और आपके ऊपर पड़ रहा है! सन्त की वाणी उसके भी कानों में पड़ रही है और आपके भी कानों में पड़ रही है! शास्त्र का पाठ बोला जा रहा है और वह इतना पवित्र है कि जिसका ठिकाना नहीं। तो पाठ की वह ध्वनि आप अपने ही कानों में सुरक्षित रख लीजिए। दीवार खींच कर दीजिये कि वह उसके कानों में पड़ कर अपवित्र न हो जाय। भला यह भी कोई बात है।

तो मैंने प्रयत्न किया कि उस हरिजन भाई को भी वहाँ बैठने की जगह मिल जाय। यह भगवान् महावीर की वाणी का अपमान है कि वह जूतियों में बैठकर सुने और आप दरियों पर बैठ कर सुनें। मेरे कहने पर उन भाइयों में चेतना हुई और उन्होंने भगवान् महावीर की वाणी की इज्जत की और उसे दरी पर बिठलाना शुरु किया।

फिर भी कुछ भाई ऐसे थे जो उसे दरी पर बैठा देख आप नीचे बैठते और नीचे बैठे-बैठे ही व्याख्यान सुनते थे। चलो कोई हर्ज नहीं है, कोई आपत्ति नहीं है। आज नहीं तो कल वे पूरी तरह सुधर जाएँगे। मैंने तो ऐसे लोग भी देखे हैं इस जमाने में भी कि हरिजन आया और सन्त के पैर छू गया तो वे दूर खड़े-खड़े ही वन्दना कर लेते हैं, चरण नहीं छूते हैं, क्योंकि वे चरण अछूत जो हो गए हैं। मगर इसी बीच यदि कोई दूसरा आ गया और उसने चरण छू लिये तो वही सेठजी आये और वही चरण छू लिए। बीच में दूसरे के छूने से उनकी अछूत उतर गई और अब वह चरण छूने योग्य हो गये!

इन्सान अपने मन की बातों में कितनी बुरी तरह उलझा हुआ है? भगवान् महावीर ने अपने युग में उसे सुलझाया, किन्तु वह पूरी तरह नहीं सुलझा। उनके बाद २५ सौ वर्ष की परम्परा गुजर चुकी और आचार्यों ने अस्पृश्यता का विरोध किया फिर भी वह उलझन आज तक भी बनी हुई है। दुर्भाग्य से हम में से कई ऐसे आये कि उन्होंने जनता की आवाज में आवाज मिला ली और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन दिया। जिस चीज के लिए जैन संस्कृति को घोर संघर्ष करना पड़ा, जिसके लिए नास्तिकता का उपालम्भ तक सहना पड़ा, वही संस्कृति अस्पृश्यता के दलदल में फँस गई। और फिर तो शास्त्रों के प्रमाण भी आने लगे, कहा जाने लगा कि वह ऊँचा है, वह नीचा है और जो नीचा है वह अपने कुकर्मों का फल भोग रहा है। शास्त्र ने

तो इतनी बड़ी बात कह दी थी कि–'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मो-दयोद्भवा ।' अर्थात् सब मनुष्यों की जाति एक ही है। मनुष्यों में दो जातियाँ ही नहीं हैं। फिर भी उसमें से ओसवाल और अग्रवाल-पन खोजा जाने लगा। अखण्ड मानव जाति छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई और जातिमद ऐसा चढ़ा कि शास्त्रों की आवाज क्षीण हो गई, हमने वास्तविकता को भुला दिया और मनुष्य मनुष्य का अपमान करने लगा।

एक भाई आपके विचारों का अनुयायी हो चुका है। वह भगवान् महावीर के उपदेशों को स्वीकार कर चुका है, उसके हृदय में जैनधर्म के प्रति श्रद्धा और प्रीति जाग चुकी है, फिर भी आप उसकी कोई परवाह नहीं करते और इन्सान की तरह बैठने का हक भी उसे नहीं देना चाहते। यही आपका वात्सल्य भाव है? भगवान् महावीर ने आपको साधर्मी के साथ क्या ऐसा ही व्यवहार करना सिखलाया था? जब साधर्मी के प्रति आप ऐसा व्यवहार कर सकते हैं तो दूसरों के साथ आप कितना कटु व्यवहार न करेंगे?

उत्तर प्रदेश में पहले ओसवाल, अग्रवाल के यहाँ और अग्रवाल, ओसवाल के यहाँ भोजन नहीं करते थे। अब कुछ ठीक-ठीक समझौता होता जा रहा है। रोग तो यहाँ तक फैला हुआ है कि ओसवालों और अग्रवालों में भी अनेक टुकड़े हो गये हैं और वे एक वर्ग के होते हुए भी एक दूसरे के हाथ का भोजन नहीं करते हैं।

हमारी मध्यकालीन संस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गई कि वह सब जगह से हट कर एक मात्र चौके में बंद हो गई। लोग न जाने कैसे समझ बैठे कि मैंने अमुक का छुआ खा लिया तो धर्म चला जायगा। एक तरफ इस प्रकार की गलत परम्पराएँ पैदा हो गईं और दूसरी तरफ बड़े-बड़े आचार्य वेदान्त के सूत्र भी जनता के सामने लाते रहे कि सारा संसार परमब्रह्म का ही रूप है और—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' अर्थात् एक ब्रह्म ही सत्य है और संसार के अन्य सब रूप मिथ्या हैं।

पानी भरे हजार घड़े रक्खे हैं। उनमें कुछ सोने के हैं, कुछ चांदी के हैं, कुछ पीतल और तांबे के हैं और कुछ मिट्टी के हैं। मगर उन सब में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब एक सरीखा पड़ता है। इसी प्रकार सारे संसार के पदार्थों में समान रूप से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है।

हमारे साथी इतने क्रान्तिकारी हैं। जब कभी वे बातें करते हैं और उमङ्ग में आते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि सच्चा ब्रह्मज्ञान इन्हें मिल गया है और वे हिमालय के ऊपर बैठे हैं। और जब खान-पान की बात सामने आती है तो उनका ब्रह्मज्ञान न जाने कहाँ गायब हो जाता है? उस समय जान पड़ता है, उनकी एक टांग हिमालय की ऊँची चोटी पर है और दूसरी किसी गहरे गड्ढे में। यह प्रगति की स्थिति नहीं है। जीवन इस तरह अग्रसर नहीं

हो सकता।

इस प्रकार एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक समूह का दूसरे समूह पर घृणा-द्वेष होना सामाजिक हिंसा है। सामाजिक हिंसा को, आश्चर्य है कि आज बहुतेरे लोग पाप या अधर्म न समझ कर उलटा धर्म मानते हैं। गृहस्थों की तो बात दूर, साधु भी इस बुराई से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। उनकी गोचरी के विषय में भी यह सब खटराग चल रहा है। शास्त्रों की सूचनाएँ हमें प्रकाश पर प्रकाश दे रही हैं फिर भी सारा समाज एक प्रकार के अंधकार में भटका हुआ है।

मेरे एक ब्राह्मण प्रेमी हैं। वे मिल मालिक हैं। पहले वे जैनधर्म के कट्टर विरोधी समझे जाते थे, किन्तु वे मेरे सम्पर्क में आये तो उनका वह विरोधी भाव नहीं रह गया। मैं जहां कहीं होता हूँ, अक्सर वे आया करते हैं। वे एक बार विहार से लौटकर मेरे पास आये तो बोले-महाराज, धर्म का तो नाश होगया। कुछ रहा ही नहीं।

मैंने पूछा-क्या बात हुई ?

वे बोले—कुछ पूछिये ही मत। स्टेशन पर मैंने पूछा—पानी ? तो पानी वाले ने कहा—लीजिए पानी ! मैंने पूछा—कैसा पानी है ? तब उसने कहा—साफ पानी है। मैंने फिर पूछा—अरे भाई, साफ तो है मगर है कैसा ? वह बोला—ठंडा पानी है साहब ! विवश होकर मुझे पूछना पड़ा—किसका पानी है ? उसने धीरे से कह दिया—कुए का है और ताज़ा है। मैंने साफ शब्दों में कहा—मैंने कुए या तालाब

का नहीं पूछा है—मैं पूछता हूँ हिन्दू का है या मुसलमान का ? तब वह बोला—कौन होता है पानी ? पानी तो न हिन्दू होता है, न मुसलमान ही होता है। पानी तो पानी है। अतएव आप यह पूछ सकते हैं कि नदी, तालाब का है या कुए का ? ठंडा है या गरम है ? साफ है या गन्दा है ? किन्तु पानी न हिन्दू होता है न मुसलमान। तो महाराज, जब उसने यह कहा तो मैंने पानी नहीं लिया। दो, तीन, चार स्टेशनों तक मैं प्यासा ही रहा, फिर पानी पीना पड़ा।

मैंने उन सज्जन से पूछा—अब क्या करेंगे आप ?

वे बोले—गङ्गाजी जाएँगे और स्नान करके आएँगे।

मैंने कहा—गङ्गाजी जाने से क्या होगा ? वह पानी तो अन्दर चला गया और पेशाब में बाहर भी निकल गया और आपकी मान्यता के अनुसार तो संस्कार चिपक ही गये हैं। फिर क्या करेंगे ? और भाई, इस जमीन पर चलना कब छोड़ेंगे, जिस पर शूद्र चला करते हैं ? शूद्रों की चली जमीन पर चलने से भी तो बुरे संस्कार चिपक जाते हैं न ?

जब उन्हें खयाल आया तो बोले—क्या पुरानी परम्पराएँ गलत थीं ? मैंने कहा—हाँ, ऐसी परम्पराएँ निस्सन्देह गलत हैं।

हम अपनी गलतियों को एक हो या हजार हों, सब के सामने स्पष्टतः स्वीकार करेंगे। साधुओं में भी यह दुर्बलता है जो उन्हें आगे नहीं बढ़ने देती। गृहस्थों की गलतियाँ और भूलें उन्हें भी तंग कर

रही हैं। इस तरह समाज टुकड़ों-टुकड़ों में बँट जाता है और परिणाम यह होता है कि हम बहुत बार धर्मात्माओं का भी आदर नहीं कर पाते। कई वर्ष हो जाते हैं, वे मांस और शराब को हाथ नहीं लगाते। हमारे हरेक धार्मिक उत्सव में शामिल होते हैं। फिर भी उनके साथ कोई सम्बन्ध कायम नहीं किया गया। यहाँ तक कि पानी और रोटी का भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ। और फिर भी हम उस धर्म को विश्वधर्म होने का दावा रखते हैं और कहते हैं कि नरक में, स्वर्ग में और तिर्यञ्च योनि में भी समकिती भाई उस धर्म का पालन कर रहे हैं।

एक तरफ तो हमारी यह व्यापक धारणाएँ हैं और दूसरी तरफ हमारा यह संकीर्ण मनोभाव और व्यवहार है। दोनों में कहाँ सामंजस्य है? नरक और स्वर्ग के धर्मात्माओं की, साधर्मी भाइयों की, बातें करने वालों की बगल में जो इन्सान बैठा है और जो धर्माराधन कर रहा है, उसे अपनाने में ही वे गड़बड़ा जाते हैं! अरे, वह तो स्वधर्मी बन्धु हो जाना चाहिए। अगर आपके हृदय में उसके प्रति कोई प्रेम नहीं जागा और दुरदुराते रहे तो समझना चाहिए कि आपके हृदय में अभी तक सच्चे धर्म के प्रति प्रेम जागृत नहीं हुआ है। जो धर्म से प्रेम करता है वह धर्मात्माओं से प्रेम किये बिना नहीं रह सकता।

इस प्रसंग पर मुझे बुद्ध के एक शिष्य आनन्द की बात याद आती है। आनन्द किसी गाँव में गये तो उन्हें प्यास लग आई।

उन्होंने देखा कि एक लड़की कुए पर पानी भर रही है। वे उसके पास पहुँचे और बोले—बहिन, पानी पिला दो।

लड़की ने कहा—मैं चाण्डाल की कन्या हूँ।

लड़की के इस कथन के उत्तर में आनन्द ने बड़ी ही सुन्दर बात कही। ऐसी सुन्दर कि २५०० वर्षों में फिर कभी वैसी बात सुनने को नहीं मिली। आनन्द ने सहज भाव से कहा—बहिन, मैंने जात नहीं माँगी है, पानी माँगा है। मुझे तुम्हारी जात नहीं पीना है, पानी पीना है।

आनन्द ने आनन्दपूर्वक पानी पिया। लड़की सोचने लगी—भारतवर्ष में ऐसे भी व्यक्ति मौजूद हैं जो जाति नहीं, पानी पूछते हैं। और तब लड़की ने कहा—क्या कोई ऐसी जगह है जहाँ हम भी बैठ कर विचार कर सकते हैं?

आनन्द ने कहा—क्यों नहीं? जितनी दूर एक ब्राह्मण जा सकता है उतनी दूर तुम भी जा सकती हो। बुद्ध के समवसरण में ऐसी जगह है कि वहाँ जितना आदर ब्राह्मण को मिलता है उतना ही चाण्डाल को भी मिलता है।

अन्त में चाण्डालकन्या बुद्ध की शरण में जाती है और साध्वी बन जाती है।

जब ऐसी बातें आती हैं तो हृदय गद्‌गद् हो जाता है। हम जैन संघ की गौरव-गाथाएँ भी सुनते हैं और जानते हैं कि उसने

कितना उदार दृष्टि-कोण अपनाया था। महात्मा हरिकेशबल और मुनिवर मेतार्य की कथाएँ जैनधर्म और जैनसंघ की महान् से महान् उज्ज्वल गाथाएँ हैं, जो हमें आज भी प्रकाश दे रही हैं। किन्तु दुर्भाग्य से हमने अपनी आँखें बन्द कर ली हैं और हम अन्धकार में भटकने में ही अपना कल्याण समझ रहे हैं। हमने अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर कभी नज़र नहीं डाली और इसी कारण इस सामाजिक हिंसा से चिपके हुए हैं। अब हमें सोचना चाहिए, समझना चाहिए और इस हिंसा से बचना चाहिए।

२६-६-५०

जातिवाद का भूत

पहले कहा जा चुका है कि जीवन में हिंसा का रूप एक नहीं है। वह सामाजिक क्षेत्र में तथा राष्ट्रीय क्षेत्र में या अन्य क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप से चल रही है। अतएव जहाँ-जहाँ जिस-जिस रूप में हिंसा हो रही है, उसे वहाँ उसी रूप में समझने की आवश्यकता है। ऐसा किये विना अहिंसा के मार्ग पर ठीक तरह नहीं चला जा सकता है। जो अन्धकार को अन्धकार मालूम कर लेते हैं और साथ ही यह भी जान लेते हैं कि यह हमारे जीवन के अनुकूल नहीं है, वही प्रकाश में आने का प्रयत्न कर सकते हैं और फिर अपना रास्ता अच्छी तरह तय कर सकते हैं। जहाँ अन्धकार होता है वहाँ तरह-तरह की गड़बड़ी होती है। घर में चोरों के घुस आने पर घर वाले लड़ने को तैयार होते हैं चोरों से, मगर बरसाते हैं लाठियाँ अपने ही घर वालों पर ! अन्धकार में अपने-पराये का कोई भेद मालूम नहीं

होता। इस प्रकार अंधकार जीवन के अनुकूल नहीं है । जीवन के लिए तो प्रकाश चाहिए।

हिंसा भी एक प्रकार का अंधकार है और वह जीवन के हर कोने में फैला हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि जब तक वह स्पर्श किये हुए रहेगा, जीवन का सही मार्ग नहीं मिलेगा। अतएव यदि प्रकाश में आना है तो इसके लिए अंधकार का भी पता लगाना होगा। जब तक हम हिंसा के अंधकार को भली-भाँति न समझ लें, अहिंसा के प्रकाश की उज्ज्वल किरणें हमें प्राप्त नहीं हो सकतीं।

कल मैंने सामाजिक हिंसा का विवेचन करते हुए बतलाया था कि मनुष्य जाति एक है और वह संसार की सब से ऊँची जाती है। मनुष्य का जीवन बहुत बड़े सौभाग्य की चीज़ है । जैनशास्त्र और दूसरे शास्त्र भी कहते हैं कि देवता बनना आसान है किन्तु मनुष्य बनना कठिनाई है। चौरासी लाख जीवयोनियों में भटकते-भटकते बड़ी कठिनाई से मनुष्य का चोला मिलता है। इन्सान की ऊँचाई बहुत बड़ी ऊँचाई है।

ज्यों ही मानव-जीवन की महत्ता का विचार हमारे मन में आता है त्यों ही एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आ जाता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? इन्सान अगर इन्सानियत की कीमत समझता है तो उसे दूसरे इन्सानों के साथ कैसा सलूक करना चाहिए?

इन्सान का चोला मिल जाने पर भी इन्सान को अगर इन्सान की आत्मा नहीं मिली, हाथ-पैर आदि अवयव इन्सान के मिल गये किन्तु भीतर हैवानियत भरी रही तो यह बाहर का चोला मात्र किस काम का? घृणा, द्वेष, अहंकार, यह सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की नहीं। तो मनुष्य के चोले में भी यदि यह सब भावनाएँ भरी हैं तो समझ लेना चाहिए कि वहाँ वास्तविक मनुष्यता नहीं आ पाई है।

अखण्ड मानव-जाति पहले-पहल धंधों की भिन्नता के कारण अनेक टुकड़ों में विभक्त हुई। कि बल्कि कहना तो यह चाहिए कि मनुष्य जाति के सुभीते के लिए धंधे ही अलग-अलग रूपों में बँटे थे और अलग-अलग धंधे करते हुए भी मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं था। मगर जब द्वेष और अंहकार की भावनाएँ तीव्र हुई तो धंधों के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों में ऊंच-नीच की भावना अंकुरित होने लगी। फिर वह फूली और फली। उसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होंने मानव-जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया। मनुष्य समझ बैठे कि अमुक धंधा करने वाला वर्ग ऊँचा और अमुक धंधा करने वाला वर्ग नीचा है।

मगर यह भेदभाव क्या यहीं खत्म हो गया? नहीं, वह बढ़ता चला और बढ़ते-बढ़ते उसने नया रूप ग्रहण कर लिया। धीरे-धीरे धंधों की बात भी उड़ गई और जन्म से ही उच्चता और

है। उसमें जाति-पांति का किसी भी प्रकार का कोई नैसर्गिक भेद नहीं है। वह भूत-पिण्ड आत्मा को रहने के लिए मिल गया है और आत्मा रहने के लिए उसमें आ गया है। वह अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं है। पवित्रता और अपवित्रता का आधार आचरण की शुद्धता और अशुद्धता है। आचरण ज्यों-ज्यों पवित्र होता जाता है, शुद्धि बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों अपवित्र होता जाता है, अशुद्धि बढ़ती जाती है।

यह आवाज, आज की नयी आवाज नहीं है। भारतवर्ष में जब जन्मगत उच्चता-नीचता की भावनाएँ घर बनाये बैठी थीं, तब भी विचारक लोग यही कहते थे और तब से आज तक वे यही कहते आ रहे हैं। उक्त आचरणमूलक उच्चत्व की प्रेरणा का ही यह फल हुआ कि इन्सान ने किसी भी ऊँची-नीची जाति में जन्म लिया हो, फिर भी उसने ऊँचा बनने के लिए उच्च प्रयत्न किया। उसने विचार किया कि मैं जन्म से ऊँचा नहीं बन गया हूँ। यदि मैं सत्प्रयत्न करूँगा, जीवन को सदाचार के पथ पर अग्रसर करूँगा, और अपनी सामग्री को अपने आप में ही समेट कर नहीं रक्खूँगा किन्तु दूसरों के कल्याण में उसका उपयोग करूँगा तो जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सकूँगा। वह पवित्रता मेरे कर्मों द्वारा ही प्राप्त होगी, जन्म से नहीं। यह आवाज भारत की जनता के दिलों में गूंजती रही और वह उस पवित्रता की ओर दौड़ लगाती रही। जो ब्राह्मण के कुल में जन्मा था वह

ी दौड़ा और जो क्षत्रियकुल में पैदा हुआ था वह भी दौड़ा। क्योंकि उसे मालूम था कि पवित्रता जन्म लेने से नहीं आएगी, उसे प्राप्त करना होगा उच्च कर्त्तव्यों द्वारा। वह प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

आप इन्सान के रूप में ही जन्मे हैं और मैंने भी इन्सान के रूप में ही जन्म ग्रहण किया था। क्या आपका श्रावकपन और मेरा साधुपन शरीर के साथ आया था? नहीं, शरीर उसे साथ में लाद कर नहीं लाया। उसे तो आचरण के द्वारा और साधना के द्वारा यहाँ पर ही तैयार करना पड़ता है।

इस प्रकार उस समय कोई किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न रहा हो, प्रायः सब ने तत्कालीन पुरुषार्थ और मर्यादा के द्वारा पवित्रता प्राप्त करने का उद्योग किया और सभी पवित्रता प्राप्त करने के लिए सदाचार के पथ पर दौड़ लगाते रहे। किन्तु दुर्भाग्य से विचार उलट गये और विचारों का प्रवाह, जो ऊँचाइयों के द्वारा जाना था, वह पलट गया और ऐसी धारणा बन गई कि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेने से पवित्रता प्राप्त हो गई और जैनकुल में जन्म लेने मात्र से ही जैनत्व मिल गया। और जब इस प्रकार जन्म लेने मात्र से पवित्रता मिल जाने का ख्याल हो गया तो फिर कौन नैतिक पवित्रता के लिये प्रयत्न करता? फिर पवित्रता के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या थी? हमारे यहाँ कहा गया है:—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्?

शहद के लिए पुराने जमाने में पर्वत पर टक्करें खानी पड़ती थीं। वहुत कठिनाई से शहद प्राप्त किया जाता था। उस समय के एक आचार्य कहते हैं कि यदि गाँव के वाहर खड़े हुए अकौवा (आकड़े) के पौधे की टहनियों पर शहद का छत्ता मिल जाय तो नदी नालों को कौन लाँघे ? पर्वतों पर जाकर कौन टक्करें खाय ?

मनुष्य का स्वभाव है कि पुरुषार्थ किये विना ही यदि चीज मिल सकती हो तो फिर वह पुरुपार्थ नहीं करेगा। यह एक लोक-स्वभाव के सत्य सिद्धान्त की वात है। हम साधु भी जव अनजान गाँवों में गोचरी के लिए जाते हैं, तव यदि सीधे रूप में, अनायास ही कुछ घरों से गोचरी मिल जाय और गोचरी के लिए कदम रखते ही 'पधारिये महाराज' कहने वाले खड़े मिल जायँ तो व्यर्थ ही दूर-दूर के गली-कूचों में चक्कर क्यों लगाते फिरेंगे ? जगह-जगह भटक कर अलख क्यों लगायेंगे ? अभिप्राय यह है कि जव सहज रूप से, गम्भीर पुरुषार्थ किये विना ही साधु मर्यादा में चीज मिलती है तो व्यर्थ ही दूर नहीं जाने वाले हैं। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिए इतना पुरुषार्थ करना पड़ता है कि सारा का सारा जीवन ही उसके लिए खर्च कर देना पड़ता है, वही चीज जव विना पुरुषार्थ के ही प्राप्त हो जाय तो किसे पागल कुत्ते ने काटा है जो उसके लिए भटकता फिरे, कठिनाइयाँ झेलता रहे और साधना की मुसीवतें उठावे ?

इस मानव-स्वभाव के अनुसार जव से हमने पवित्रता का नाता

जन्म के साथ जोड़ दिया, तभी से हमारे ऊँचाई प्राप्त करने के प्रयत्न ढीले पड़ गए। तभी से जनता का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। तभी से मनुष्य गिरा है पर ऊँचा नहीं उठा।

वैदिक धर्म में एक कहानी आती है। एक वेश्या थी। उसकी कोई जात-पाँत नहीं। वह संसार की उलझनों में उलझी हुई थी। उसने एक तोता खरीद लिया और उसे 'राम-राम' रटाना शुरु किया। इसलिए कि आने वालों का मनोरंजन हो। पुराणकार कहते हैं—वह वेश्या जब मरी तो यम के दूत भी उसे लेने को आये और स्वर्ग के दूत भी। यम के दूत नरक का परवाना लेकर आये कि इसने दुनिया भर के पाप किये हैं और अपनी तथा दूसरे की तरुणाई को नरक की राह पर डाला है, इस कारण इसे नरक में ले जाना है।

स्वर्ग के दूत उसे स्वर्ग में ले जाने का परवाना लेकर आये। वे उसे स्वर्ग में इसलिए ले जाना चाहते थे कि वह प्रभु की भक्त है। वह तोते को 'राम-राम' रटाती रही है और उसकी सीट स्वर्ग में रिजर्व हो चुकी है।

दोनों तरफ के दूतों में संघर्ष हो गया। यम के दूतों ने कहा—तुम करते क्या हो ? पागल तो नहीं हो गये ? अरे यह तो वेश्या है, दुराचारिणी ! इसको स्वर्ग में कौन बुलाता है ?

स्वर्ग के दूत कहने लगे—इस वेश्या ने इतना राम-राम बोला है। सो वह सब क्या वृथा ही जायगा ? राम के भक्तों के लिए तो

स्वर्ग है, नरक नहीं। भगवान् विष्णु इसको स्वर्ग में बुला रहे हैं।

यमदूत बोले—तुम बड़े नादान मालूम होते हो! इसने 'राम-राम' जपा कहाँ है? यह तो सिर्फ तोते को रटाती थी और वह भी इसलिए कि इसका पापमय व्यवसाय सफलता के साथ चलता रहे! यदि तुम इतने सस्ते भाव में आदमी को स्वर्ग में ले जाओगे तो स्वर्ग को भी नरक बना डालोगे।

आखिर यमदूतों और स्वर्ग के दूतों में युद्ध छिड़ गया किन्तु स्वर्ग के दूत बलवान् थे, अतः उन्होंने यमदूतों को भगा दिया और वे वेश्या को स्वर्ग में ले गये। कहते भी हैं:—

सुआ पढ़ावत गणिका तारी।

इसी तरह किसी तीर्थ में पहुँचने मात्र से अगर स्वर्ग मिल जाय तो फिर कोई कर्त्तव्य क्यों करे? मुँह से भगवान् का जरा नाम ले लिया और स्वर्ग में स्थान सुरक्षित हो गया! बस, छुट्टी पाई। धर्म और स्वर्ग जब इतने सस्ते हो गये हों तो कौन उनके लिए बड़ा मूल्य चुकाए? क्यों प्रबल पुरुषार्थ किया जाय? साधना का संकट कौन झेले?

मानव-समाज में यह जो भ्रमपूर्ण धारणा बैठ गई, उसका परिणाम क्या हुआ? पवित्रता स्वयं नीचे गिर गई और पवित्रता के बदले में मनुष्यों के हृदयों में अभिमान, अहंकार, द्वेष, तृष्णा आदि विकार पैदा हो गये। भगवान् महावीर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:—

न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं ।
वायावीरियमित्तेण समासासेति अप्पयं ।

—उत्तराध्ययन—

तुम जो संस्कृतभाषा और प्राकृतभाषा के फव्वारे अपने मुख से छोड़ रहे हो और समझ रहे हो कि इनका पाठ कर लेने भर से मोक्ष मिल जायगा सो नहीं होगा। सारे संसार की नाना प्रकार की विद्याएँ और भाषाएँ सीख लेने पर भी तुम्हारा त्राण नहीं हो सकता। अगर तुम त्राण चाहते हो और निर्वाण पाने की अभिलाषा रखते हो तो तुम्हें आचरण करना पड़ेगा। कोई बीमार किसी वैद्य से एक नुस्खा लिखवा लाए, जिसमें उत्तम से उत्तम औषधियाँ लिखी हों और उसे सुबह-शाम पढ़ लिया करे तो क्या उसकी बीमारी दूर हो जायगी ? नहीं, नुस्खा पढ़ लेने मात्र से बीमारी दूर नहीं हो सकती। कहीं ऐसा होता देखा जाय तो यह भी माना जा सकता है कि शास्त्रों के पाठ घोख लेने और उगल देने से ही पवित्रता प्राप्त हो जायगी। मगर ऐसा होना कभी सम्भव नहीं है। एक साधक ने कहा है:—

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत् ?
चिकित्सापाठमात्रेण, न हि रोग: शमं व्रजेत् ॥

—बोधिचर्यावतार

जो भी शास्त्र मुझे पढ़ना है वह मैं जीवन से पढ़ूँगा, जबान से नहीं पढ़ूँगा। जबान से बोल लेने भर से क्या होने वाला है ?

आयुर्वेद की पुस्तकों को रट लेने से और चरक तथा सुश्रुत को घोख लेने मात्र से कोई निरोग नहीं हो सकता। हजार वर्ष तक घोखा करो तो भी उससे मामूली बुखार और जरा-सा सिर दर्द भी दूर नहीं होगा, उलटा शरीर गलता जायगा और सड़ता जायगा।

तो यह बात हम भलीभाँति समझते हैं कि आयुर्वेद को कंठस्थ कर लेने मात्र से रोग दूर नहीं होता। यही बात संसार के धर्मशास्त्रों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। जितने भी धर्मशास्त्र हैं वे भी हमारी चिकित्सा करने के लिए हैं। आयुर्वेद से शरीर की चिकित्सा की विधि जानी जाती है और धर्मशास्त्र से मन और आत्मा की चिकित्सा होती है। हमारे भीतर पैठी हुई वासना ही मन और आत्मा की बीमारी है, किसी को क्रोध की, किसी को मान की, किसी को माया की, और किसी को लोभ की बीमारी सता रही है। किसी भी धर्मशास्त्र को लीजिये, उसमें इन बीमारियों की चिकित्सा का विधान है, परन्तु उन शास्त्रों को पढ़ लेने मात्र से कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। शास्त्रों की बातों को जीवन में उतारने से ही लाभ हो सकता है। हरिश्चन्द्र की कथा पढ़ लेने से सत्यवादी नहीं बना जा सकता, किन्तु हरिश्चन्द्र ने जैसा आचरण किया था वही करेंगे तो सत्यवादी बन सकेंगे।

आपने सुदर्शन की कथा सुनी है न? उसने अपने जीवन की पवित्रता के लिए क्या नहीं किया? सती सीता और सती मदनरेखा

ने कितनी आपत्तियाँ सहन की ? फिर भी उन्होंने सही रास्ता पकड़ा और सही रास्ते को तय किया तो आज भी उनकी गुणगाथा गाई जाती है।

अभिप्राय यह है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता जिन्होंने प्राप्त की है और जिनकी स्तुति और आराधना करके हम अपने आपको आज कृतार्थ समझते हैं, उन्होंने महान् पुरुषार्थ किया था, बड़ी-बड़ी साधनाएँ की थीं। वे अहिंसा और सत्य आदि का आचरण करके ही महत्ता, गुरुता, उच्चता और पवित्रता को प्राप्त कर सके थे। जन्म से किसी को पवित्रता और उच्चता प्राप्त नहीं हुई और हो भी नहीं सकती। साधना के सिवाय महत्ता प्राप्त करने का और कोई मार्ग नहीं है।

जो लोग अमुक कुल में जन्म लेने मात्र से पवित्रता प्राप्त हो जाने के भ्रम में हैं, वे अपने को और दूसरों को ठगते हैं। जो धन को उच्चता प्राप्त करने का साधन मानते हैं वे भी गलत राह पर चल रहे हैं। इन गलत विचारों का नतीजा यह आया है कि समाज में से उच्च चारित्र का प्रायः लोप हो गया और जो सत्कर्म किये जाते थे, उन्हें लोगों ने छोड़ दिया। आज मुख्य रूप से एक ही व्यापक मनोवृत्ति सर्वत्र दिखाई दे रही है और वह यह कि अगर बड़ा बनना है, तो धन कमाओ, तिजोरियाँ भरो ! जो जितना धन कमा लेगा वह उतना ही बड़ा माना जायगा। इस तरह परमात्मा की उपासना का

तो नाम रह गया और सर्वत्र धन की उपासना होने लगी ! चाहे न्याय से मिले या अन्याय से, किसी की जेब काटने से मिले या गला काटने से मिले, धन मिलना चाहिए। धन मिल गया तो बड़प्पन मिल गया। समाज में और बिरादरी में सम्मान बढ़ गया और ऊँचा आसन प्राप्त हो गया। इस प्रकार धन ने आज भगवान् का आसन छीन लिया है और भगवान् का नाम लेकर लोग धन की ही उपासना में लीन हो रहे हैं।

औरों की बात जाने भी दीजिए, हमारे समाज की शिक्षा-संस्थाओं की ही तरफ दृष्टि डालिए। समाज में जो गुरुकुल, विद्यापीठ, विद्यालय या विश्वविद्यालय चल रहे हैं, उनका उद्देश्य विद्या की वृद्धि करना और धर्म का उद्योत करना होता है। पर प्रायः उनके अधिकारी भी धन की पूजा से ऊँचे नहीं उठ पाते। जब कभी इन संस्थाओं में कोई उत्सव या समारोह होता है तो सर्वप्रथम धनवान् की तरफ ही नज़र दौड़ती है। सभापति बनाना है तो ज्ञान को कोई नहीं पूछेगा। यह जानने की कोई परवाह नहीं करेगा कि वह जनता को क्या देने चला है या सिर्फ धन की ही आग लेकर खड़ा है! बड़प्पन और छोटेपन को नापने का आज एक मात्र गज धन रह गया है। जिसके पास ज्यादा धन है वही ज्यादा बड़ा है। हजार बार प्रयत्न करके संस्थाओं के अधिकारी उसी के पास जाएँगे, उसे ही सभापति बनाएँगे। उसके आचरण के सम्बन्ध में कुछ मालूम ही

नहीं करेंगे और यहाँ तक कि उसके सारे बुरे आचरणों पर राख डाल देंगे, उसकी गन्दी बुराइयों को फूलों के ढेर से ढँक देने की कोशिश करेंगे।

मगर गन्दगी क्या फूलों से ढँक देने से पवित्र बन जायगी? एक जगह मैला पड़ा है। किसी ने उसे फूलों से ढँक दिया है। थोड़ी-सी देर के लिए वह भले ही छिप गई है, मगर आखिर उसकी बदबू छिपेगी नहीं और वह फूलों को भी गन्दा करके ही रहेगी। आचरणहीन व्यक्ति के विषय में भी यही बात है। फिर जो व्यक्ति आचरणहीन है, उसे धन की बदौलत सम्मान देकर और उसकी तारीफ के पुल बाँध कर आप भले ही आसमान पर चढ़ा दें, मगर इससे उसका या समाज का भला नहीं होगा। वह सम्मान मिलता देखकर अपने अवगुणों के प्रति असन्तोषशील नहीं बनेगा, अपने दोषों को हिकारत की निगाह से नहीं देखेगा, उन्हें त्यागने के लिए तत्पर नहीं होगा, बल्कि अपने दोषों के प्रति सहनशील बनता जायगा। इस प्रकार उसके दोषों को और आचरणहीनता को प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा मिलेगी तो समाज में वे दोष घर कर जाएँगे।

आशय यह है कि आज समाज में व्यक्तित्व को नापने का गज पैसा बन गया है। जिसके पास जितना पैसा है वह उतना ही बड़ा आदमी है। साधारण आदमी, जिसके पास पैसा नहीं है किन्तु जीवन की पवित्रता है और अच्छे विचार हैं और विवेक है, उसे क्या

कभी कुर्सी पर बैठे देखा है ? सभापति बनते देखा है ? समाज में आदर पाते देखा है ? इसका एक मात्र कारण यही है कि समाज में धन की कसौटी पर ही बड़प्पन को परखा जाता है और निर्धन की कोई पूछ नहीं होती।

मैंने देखा है और आये दिन इस तरह की घटनाएँ कोई भी देख सकता है। एक व्यक्ति के घर में पत्नी मौजूद है, सारी व्यवस्था है और सब कुछ ठीक चल रहा है। उसने किसी तरह पैसा कमा लिया तो दूसरा विवाह कर लिया। समाज में हलचल मची तो किसी सभा या समिति को दस-बीस हजार रुपया फेंक दिया। बस, सब ठीक हो गया। जितनी हवाएँ उसके विपरीत चल रही थीं, खत्म हो गईं और उसे आदर-सम्मान मिलने लगा। उसकी पहली पत्नी किस दशा में आँसू पोंछ रही है और उसको क्या व्यवस्था चल रही है और दूसरी पत्नी क्या तमाशे कर रही है, इन सब बातों को अब कोई नहीं पूछता।

तो अभिप्राय यह है कि मनुष्य के सामने उँचाई को नापने का गज धन ही रहा है। जिसने धन कमा लिया वही ऊँचा बन गया। मगर धन यदि न्याय से प्राप्त किया जा सकता है तो अन्याय से भी प्राप्त किया जाता है। मगर सद्बुद्धि और सदाचार क्या अन्याय से प्राप्त किया जा सकता है ? इन्हें प्राप्त करने की एक ही राह है और वह काँटों की राह है। जो अपने जीवन को जितना-जितना इस राह

र बढ़ाता जायगा वह उतना ही ऊँचा उठता जायगा। सत्य की ाह पर जाने वालों को शूली की सेज मिलेगी और उन्हें अपना सारा जीवन काँटों की राह तय करते-करते गुजारना पड़ेगा।

कोई अपरिचित व्यक्ति सामने आता है तो सवाल किया जाता है--कौन हैं आप? वह झटपट उत्तर देता है--ब्राह्मण हूँ या, क्षत्रिय हूँ या वैश्य हूँ या अग्रवाल अथवा ओसवाल हूँ। मैं यह पूछता हूँ कि तुम अपने को ब्राह्मण या अग्रवाल कहते हो तो यह ब्राह्मणपन या अग्रवालपन क्या आपकी आत्मा के साथ अनादिकाल से चला आया है? अनन्त काल तक चला जायगा? और जब मोक्ष प्राप्त होगा तो जाति की यह गठरियाँ क्या वहाँ भी सिर पर लाद कर ले जाओगे?

वैदिक धर्म जाति-पाँति का प्रमुख समर्थक समझा जाता है, पर वहाँ भी हमें ऐसे उदात्त विचार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनमें जाति या वर्ण की निस्सारता प्रकट की गई है। गुरु और शिष्य का एक छोटा-सा संवाद वहाँ आता है। वह इस प्रकार है:--

संसार-सागर से तिरने की इच्छा रखने वाला कोई मुमुक्षु, शिष्य किसी गुरु के पास जाता है। गुरु उससे पूछते हैं--सौम्य, तुम कौन हो? और क्या चाहते हो?

शिष्य--मैं ब्राह्मण का पुत्र हूँ। अमुक वंश में मेरा जन्म हुआ है। मैं संसार-सागर से तिरना चाहता हूँ।

गुरु—वत्स, तुम्हारा शरीर तो यहीं भस्म बन जायगा, फिर संसार-सागर से किस प्रकार तिरोगे? नदी के इसी किनारे पर जो भस्मीभूत हो गया हो वह तिर कर उस किनारे कैसे पहुँच सकता है?

गुरु के इस प्रकार कहने पर शिष्य का ध्यान आत्मा की ओर गया। उसने कहा—देव, मैं अलग हूँ और शरीर अलग है। मृत्यु आने पर शरीर भस्म होगा, मैं अर्थात् आत्मा तो नित्य है। वह भस्म नहीं होगा। शरीर जनमता और मरता है और मिट्टी बन जाता है। शस्त्र और अग्नि आदि का उस पर असर होता है आत्मा तो सनातन है। जैसे पक्षी घौंसले में रहता है, उसी प्रकार मैं इस शरीर में रहता हूँ। जैसे पक्षी एक घौंसला छोड़ कर दूसरे घौंसले में रहने लगता है, उसी प्रकार मैं एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में रहने लगता हूँ। शरीर आते और जाते रहते हैं, मैं (आत्मा) ज्यों का त्यों रहता हूँ।

इस प्रकार शिष्य ने जब शरीर और आत्मा का भेद समझ लिया तो गुरु कहते हैं—वत्स, तुम ठीक कहते हो। तुम शरीर नहीं, आत्मा हो, तुम घौसला नहीं, पक्षी हो। फिर तुमने पहले मिथ्या भाषण क्यों किया था कि मैं ब्राह्मण हूँ और अमुक वंश में मेरा जन्म हुआ है?

आखिर शिष्य समझ जाता है कि—'मैं ब्राह्मण हूँ' यह खयाल गलत है और जब तक जाति का अभिमान बना रहेगा,

आत्मा संसार-सागर से नहीं तिर सकता।

हमारे यहाँ भी जाति और कुल के मद को त्याज्य बतलाया गया है और जब तक इनका मद नहीं दूर होता तब तक पूरी तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। मगर इस तथ्य को आप कब समझेंगे?

कहा जा सकता है कि जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है। वह जात-पांत को भी मोक्ष का कारण मान सकता है। मगर ऐसा कहना अनेकान्तवाद को न समझने या गलत समझने का परिणाम है। अनेकान्तवाद क्या यह भी सिद्ध करेगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी हैं और नहीं भी होते हैं? और मैं कहूँ कि नहीं होते तो क्या मुझे एकान्तवादी बताया जायगा? कोई मुझसे प्रश्न करे कि साधु के लिए व्यभिचार करना अच्छा है या बुरा है? तो क्या आप चाहेंगे कि यहाँ भी मैं आपके अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर कहूँ कि व्यभिचार करना अच्छा भी है और बुरा भी है? अगर कोई साधु पैसा रखता है और मैं कहता हूँ कि यह गलत चीज है तो क्या आप वहाँ भी आपका अनेकान्तवाद बघारेंगे?

वास्तव में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सच और झूठ को एक रूप में स्वीकार कर लेना नहीं है। जिन महापुरुषों ने अनेकान्तवाद की प्ररूपणा और प्रतिष्ठा की है, उनका आशय यह नहीं था। उन्होंने अनेकान्तवाद को भी अनेकान्त कह कर स्पष्ट कर दिया है कि

हम सम्यक् अनेकान्त को स्वीकार करते हैं और मिथ्या अनेकान्त को स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार सम्यक् एकान्त को भी स्वीकार करते हैं किन्तु मिथ्या एकान्त को अस्वीकार करते हैं।

अगर जैन धर्म में जाति और कुल का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है तो शास्त्र में जाइसंपन्ने और कुलसंपन्ने पाठ क्यों आया है ? इस प्रश्न पर अपनी बुद्धि और विवेक के साथ विचार करना है। "जाइसंपन्ने" और "कुलसंपन्ने" का अर्थ यह है कि संस्कार और वातावरण से कोई जातिसंपन्न और कुलसंपन्न हो भी सकता है। कोई जाति ऐसी होती है जिसका वातावरण ही ऐसा बन जाता है कि उस जाति में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति मांस नहीं खाता और शराब नहीं पीता है। ऐसी जाति में से अगर कोई प्रगति करना चाहता है तो वह जल्दी आगे बढ़ जाता है, क्योंकि उसे प्राथमिक तैयारी वातावरण में से ही मिल गई है। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिये कि ऐसे व्यक्ति का जो भी महत्त्व है वह मांस न खाने और मदिरा न पीने के कारण है, उस जाति में जन्म लेने के कारण नहीं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिलते हैं जो मांस-मदिरा का सेवन न करने वाली जाति में जन्म लेकर भी संगति-दोष आदि कारणों से मांस-मदिरा का सेवन करने लगते हैं। उन्हें वह महत्त्व नहीं मिल सकता।

यह समझना गलत है कि वातावरण के द्वारा ब्राह्मण का लड़का विना पढ़े ही संस्कृत का ज्ञाता बन जायगा। हजारों ऐसे

ब्राह्मण हैं जो गलत रास्ते पर भटक रहे हैं और महामूर्ख हैं। उनमें शूद्र के बराबर भी संस्कृति, सदाचार और ज्ञान नहीं है। इससे यही नतीजा निकलता है कि जातिगत वातावरण या संस्कार एक हद तक व्यक्ति के विकास में सहायक होते हैं, किन्तु वही सब कुछ नहीं है।

बहुतेरे ओसवाल, अग्रवाल और जन्म के जैन, वातावरण न मिलने के कारण गाँव के गाँव आर्य समाजी बन गये या दूसरे धर्म के अनुयायी हो गये हैं। हम वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि तीस-तीस वर्ष हो गए और कोई जैनधर्म का उपदेशक वहाँ नहीं पहुँचा। उन्हें जैसा वातावरण मिल गया वैसे ही वे बन गये! आप विचार कर सकते हैं कि उनमें भी जाति के संस्कार आ रहे थे, फिर वे कहाँ भाग गये? उन्हें जातीय संस्कार तो मिले थे किन्तु वातावरण न मिलने के कारण वे पथभ्रष्ट हो गये।

इसके विपरीत किसी भी जाति में जन्म क्यों न हुआ हो, अगर वातावरण अनुकूल मिल गया तो मनुष्य प्रगति कर लेता है। इस प्रकार जाति को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि हड्डी, मांस और रक्त में कोई फर्क नहीं है। वह तो प्रत्येक जाति सरीखा ही होता है।

आइए, हम जरा जैनधर्म की बारीकी में चलें। जैनधर्म के अनुसार दया, अहिंसा या कोई दूसरे पवित्र गुण हड्डियों में रहते या आत्मा में रहते हैं? और एक जाति में जन्म लेने

आत्मा यदि एक से सद्गुणों से सम्पन्न हैं तो उनमें विभिन्नता क्यों दिखाई देती है ? पवित्र जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा पवित्र क्यों नहीं होते ? और जिसे अपवित्र कहते हैं उस जाति में जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यों नहीं होते ? हरिकेशीय जाति से चाण्डाल थे । उन्हें अपने माता-पिता से कौन-से उच्च संस्कार मिले थे ? वे क्या हड्डियों में पवित्रता लेकर जनमे थे ? नहीं, उनके जीवन का मोड़ चिन्तन मनन के अच्छे वातावरण से हुआ, जन्म के संस्कारों से नहीं । वास्तव में मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगड़ता भी है । मनुष्य के बनाव-बिगाड़ के लिए अगर किसी को महत्त्व दिया जा सकता है तो वह वातावरण ही है । जन्म से पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है ।

जैनधर्म की परम्परा में हम देखते हैं कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता तय कर सकता है । सैकड़ों शूद्रों के मोक्ष प्राप्त करने की कथाएँ हमारे यहाँ आज भी मौजूद हैं । अभिप्राय यह है कि हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बन कर भी जीवन की पवित्रता कायम नहीं रख सके और पथ-भ्रष्ट हो गये तो 'जाइसंपन्ने' होने से भी क्या हुआ ? और इसके विरुद्ध हरिकेशीय और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र वातावरण में आकर अगर जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के भी अधिकारी बन सके तो 'जाइसंपन्ने' न होने पर भी क्या कभी उनमें

रह गई ? जैनधर्म किसे वन्दनीय और पूजनीय मानता है ?

'जाइसंपन्ने' और 'कुलसंपन्ने' पदों में जाति और कुल का अर्थ वह नहीं है जिसे आजकल सर्व साधारण लोग जाति और कुल समझते हैं। ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकड़े शास्त्र में जाति नहीं कहलाते। शास्त्र में जाति का अर्थ है—मातृपक्ष और कुल का अर्थ है पितृपक्ष। कहा है—

जातिर्मातृपक्षः, कुलं पितृपक्षः ॥

माता के यहाँ का वातावरण अच्छा होना चाहिये। जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है। माता के उठने, बैठने, खाने पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पड़ता है। इसी प्रकार [illegible] पितृ पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिये। जिस बालक के [illegible] पक्ष का और पितृपक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणों से बचकर सद्गुणशील बन सकता है, हालांकि एकान्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा और दुर्गुणी कभी भी नहीं होगा। कई जगह अपवाद भी हो सकते हैं और होते देखे भी जाते हैं। फिर भी आम तौर पर यह होता है कि जिस बालक के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं, वह जल्दी प्रगति कर सकता

आत्मा यदि एक से सद्गुणों से सम्पन्न हैं तो उनमें विभिन्नता क्यों दिखाई देती है? पवित्र जाति में जन्म लेने वाले सब आत्मा पवित्र क्यों नहीं होते? और जिसे अपवित्र कहते हैं उस जाति में जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र क्यों नहीं होते? हरिकेशीय जाति से चाण्डाल थे। उन्हें अपने माता-पिता से कौन-से उच्च संस्कार मिले थे? वे क्या हड्डियों में पवित्रता लेकर जन्मे थे? नहीं, उनके जीवन का मोड़ चिन्तन मनन के अच्छे वातावरण से हुआ, जन्म के संस्कारों से नहीं। वास्तव में मनुष्य वातावरण से बनता है और वातावरण से ही बिगड़ता भी है। मनुष्य के बनाव-बिगाड़ के लिए अगर किसी को महत्त्व दिया जा सकता है तो वह वातावरण ही है। जन्म से पवित्रता या अपवित्रता मानना बहुत बड़ी भूल है।

जैनधर्म की परम्परा में हम देखते हैं कि शूद्र भी साधु बन सकता है और वह आगे का ऊँचा से ऊँचा रास्ता तय कर सकता है। सैकड़ों शूद्रों के मोक्ष प्राप्त करने की कथाएँ हमारे यहाँ आज भी मौजूद हैं। अभिप्राय यह है कि हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य साधु बन कर भी जीवन की पवित्रता कायम नहीं रख सके और पथ-भ्रष्ट हो गये तो 'जाइसंपन्ने' होने से भी क्या हुआ? और इसके विरुद्ध हरिकेशीय और मेतार्य जैसे शूद्र पवित्र वातावरण में आकर अगर जीवन की पवित्रता प्राप्त कर सके और मुक्ति के भी अधिकारी बन सके तो 'जाइसंपन्ने' न होने पर भी क्या कमी उनमें

रह गई ? जैनधर्म किसे वन्दनीय और पूजनीय मानता है ?

'जाइसंपन्ने' और 'कुलसंपन्ने' पदों में जाति और कुल का अर्थ वह नहीं है जिसे आजकल सर्व साधारण लोग जाति और कुल समझते हैं। ओसवाल या अग्रवाल आदि टुकड़े शास्त्र में जाति नहीं कहलाते। शास्त्र में जाति का अर्थ है—मातृपक्ष और कुल का अर्थ है पितृपक्ष। कहा है—

जातिर्मातृपक्षः, कुलं पितृपक्षः ॥

माता के यहाँ का वातावरण अच्छा होना चाहिये। जिस माता के यहाँ सुन्दर वातावरण होता है, उसके बालक का निर्माण सुन्दर होता है। माता के उठने, बैठने, खाने पीने और बोलने आदि प्रत्येक कार्य का बच्चे पर अवश्य ही असर पड़ता है। इसी प्रकार कुल अर्थात् पितृ पक्ष का वातावरण भी अच्छा होना चाहिये। जिस बालक के मातृ पक्ष का और पितृपक्ष का वातावरण ऊँचा, पवित्र और उत्तम होता है वह बालक अनायास ही अनेक दुर्गुणों से बचकर सद्गुणशील बन सकता है, हालांकि एकान्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा बालक सद्गुणी ही होगा और दुर्गुणी कभी भी नहीं होगा। कई जगह अपवाद भी हो सकते हैं और होते देखे भी जाते हैं। फिर भी आम तौर पर यह होता है कि जिस बालक के माता और पिता का पक्ष सुन्दर, सदाचारमय वातावरण से युक्त होता है और जिसे दोनों तरफ से अच्छे विचार मिलते हैं, वह जल्दी प्रगति कर सकता

हैं और वही जातिसम्पन्न तथा कुलसम्पन्न कहलाता है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, यह एक व्यावहारिक बात है। ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि जिसकी जाति अर्थात् मातृपक्ष अर्थात् ननिहाल उत्तम वातावरण वाला है उसका व्यक्तित्व उत्तम ही होगा और जिसका मातृपक्ष गिरा हुआ होगा उसका व्यक्तित्व भी गिरा हुआ ही होगा। किसी बालक और युवा पुरुष का व्यक्तित्व इतना प्रबल और प्रभावजनक होता है कि उस पर मातृपक्ष का और पितृपक्ष का प्रभाव नहीं पड़ पाता और वह स्वयं अच्छे या बुरे वातावरण का निर्माण कर लेता है। इस प्रकार कभी-कभी उलटे पासे भी पड़ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं कि हजार वातावरण तैयार किये जाएँ, वे उनमें आते ही नहीं और उनके विरुद्ध ही चलते हैं। हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद को बदलने के लिए कितनी कोशिश की थी? उसने सोचा था कि मैं जैसा नास्तिक और राक्षस हूँ, प्रह्लाद को भी वैसा ही बना लूँ। इसे ईश्वर का नाम सुनने को भी न मिले। इसके लिए हिरण्यकश्यपु ने कितना प्रयत्न किया? किन्तु प्रह्लाद ऐसे प्रगाढ़ संस्कार लेकर आया था कि वह बदल नहीं सका, उसकी ईश्वरपरायणता में कोई दखल नहीं दे सका और वह अपनी दिशा में निरन्तर बढ़ता ही चला गया। इस प्रकार प्रह्लाद उस दैत्य के कुल में देवता के रूप में जन्म लेकर आया था। उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म लेना भी इसी प्रकार का, मगर इससे विपरीत

अपवाद है। कंस और कंस के समान और भी अनेक व्यक्ति ऐसे हुए जिनके माता-पिता के यहाँ का वातावरण बहुत उत्तम रहा, अनेक कोशिशें रहीं, फिर भी ऐसे बालकों ने जन्म लिया कि उन्होंने सब को अपवित्र बना दिया और अपनी जाति और कुल को दियासलाई लगा दी।

अभिप्राय यह है कि जाति (ननिहाल) और कुल का वातावरण अगर पवित्र है तो व्यक्ति जल्दी प्रगति कर सकता है। यही जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न का मतलब है।

शास्त्र में जीवों का वर्गीकरण करने के लिए भी 'जाति' शब्द का प्रयोग किया गया है। और शास्त्रकारों ने संसार के समस्त जीवों को पाँच जातियों में विभक्त किया है। वह जातियाँ हैं—एकेन्द्रिय-जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रिय-जाति। शास्त्र के इस वर्गीकरण के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र हो, एक ही जाति में आता है।

इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टिकोण से जब विचार किया जाता है तो मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेदभाव नहीं रहता। फिर भी कुछ लोगों ने एक वर्ग को जन्म से ही पवित्र और ऊँचा समझ लिया है चाहे उसका आचरण कितना ही गया-बीता क्यों न हो? और दूसरे वर्ग को जन्म से ही अपवित्र और नीचा मान लिया है चाहे उसका आचरण कितना ही उत्तम क्यों न हो! इस प्रकार जो उच्चता सदाचार में

रहनी चाहिए थी, उसे जाति या वर्ण में कैद कर दिया है! यह सामाजिक हिंसा है। इस प्रकार की सामाजिक हिंसा व्यक्ति की हिंसा से जरा भी कम भयानक नहीं है। इस हिंसा के शिकार आज भी अधिकांश लोग बने हुए हैं। जब आप हिंसा के स्वरूप का विचार करें तो इस हिंसा का न भूल जाएँ।

३०-६-५०

३

मानवता का भीषण कलंक-अस्पृश्यता

कहा जा चुका है कि अहिंसा का रूप बहुत व्यापक है। व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में विविध रूपों में हिंसा होती है। जिस किसी भी क्षेत्र में, जिस किसी भी रूप में; जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा हो रही है, उस क्षेत्र में और उस रूप में उसका विरोध या निरोध होना ही अहिंसा है। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि अहिंसा का स्वरूप भी बड़ा व्यापक है और उसके रूप भी अनेक हैं। यही कारण है कि पिछले दिनों मैंने अहिंसा के अनेक प्रकार के वर्गीकरण करके आपके समक्ष उसके अनेक रूप उपस्थित किये हैं। अहिंसा के विराट स्वरूप को देखते यह तो संभव नहीं कि उस पर कोई परिपूर्ण प्रकाश डाल सके फिर भी जब हमने अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है और अहिंसा को अपने जीवन का आदर्श माना है और उसकी परिधि में

रहकर ही जीवनव्यवहार करने का संकल्प किया है और यह माना है कि अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति का समाज का और विश्व का त्राण होना संभव है, तो हमारा यह कर्त्तव्य और दायित्व हो जाता है कि हम अहिंसा को अधिक से अधिक गहराई में उतर कर समझें और समझाएँ।

अहिंसा को समझाने के लिए हमें उसके दो पहलू पहले समझ लेने होंगे। एक पहलू वह है जिसे हम आन्तरिक कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि एक हिंसा ऐसी होती है जो क्रोध, मान, माया, लोभ, एवं वासना के रूप में हमारे भीतर ही भीतर चलती रहती है। हम अपने ही प्रयत्नों से अपने आत्मा की हत्या करते रहते हैं। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति दूसरे के बड़प्पन को नहीं देख सकता है। वह मन ही मन उसे देख-देख कर जलता है और जब जलता है तो अपनी हिंसा करता है। किसी के सद्गुणों को देखता है और किसी की प्रशंसा सुनता है तो भी वह मन ही मन में जलता है और उसके सद्गुणों को स्वीकार नहीं करता है। यही नहीं, वह उसके सद्गुणों से घृणा करता है। ऐसा करने वाला आत्महत्या कर रहा है।

कोई आदमी बंदूक या पिस्तौल से गोली मार लेता है तो समझा जाता है कि आत्महत्या हो गई है; परन्तु वह तो शरीर-हत्या होती है। किन्तु पुरुष जब किसी बुराई को अपने अन्दर डाल लेता है और उसमें गलता रहता है और सड़ता रहता है तो यह क्या है?

यह बन्दूक या पिस्तौल मार लेने की अपेक्षा भी बड़ी हिंसा है, जो हमारे सद्गुणों का सर्वनाश कर डालती है। इस प्रकार भीतर ही भीतर होने वाली हिंसा आन्तरिक हिंसा है और यह भावहिंसा कहलाती है।

हिंसा का दूसरा पहलू बाहरी है। वास्तव में हमारे अन्दर की बुराई ही बाहर की हिंसा करने को तैयार होती है।

इस प्रकार जैनधर्म के अनुसार हिंसा के दो नाले, दो प्रवाह हैं। एक प्रवाह भीतर-भीतर और दूसरा बाहर बहता रहता है। हिंसा को यदि आप समझ लिया जाय तो कहना चाहिए कि हिंसा की आग भीतर भी जल रही है और बाहर भी जल रही है।

इस दृष्टिकोण को सामने रख कर विचार करते हैं तो अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक प्रतीत होने लगता है। किन्तु यह जितना व्यापक है उतना ही जटिल भी है। जो सिद्धान्त जितना ज्यादा व्यापक बन जाता है वह उतना ही अटपटा भी हो जाता है और उलझ भी जाता है। यही कारण है कि जीवन-क्षेत्र में कभी-कभी अहिंसा के सम्बन्ध में विचित्र-विचित्र भ्रान्तियाँ होती देखी जाती हैं। लोग कभी हिंसा को अहिंसा और अहिंसा को हिंसा समझ बैठते हैं। इस प्रकार की भ्रान्ति ने प्राचीन काल में भी और आधुनिक काल में भी अनेक प्रकार के मत-मतान्तरों को जन्म दिया है। जहाँ सेवा है, अहिंसा है, करुणा और दया है, वहाँ हिंसा समझ ली जाती है

और एकान्त पाप समझा जा रहा है! वास्तव में सिद्धान्त में जो अहिंसा है, उसी को मनुष्य के मन ने हिंसा समझ लिया है।

इसके विपरीत कभी-कभी ऐसा होता है कि हिंसा होती है, बुराई होती है और गलत काम से किसी को दुःख और कष्ट पहुँचता है और इस प्रकार दूसरे प्राणियों के अन्दर हिंसा की लहर पैदा हो जाती है, मगर दुर्भाग्य से उसे अहिंसा समझ लिया जाता है। यही कारण है कि जब धर्म के नाम पर या जात-पाँत के नाम पर हिंसा होती है तो हम उसे अहिंसा समझने लगते हैं। इस तरह मानव-जाति का चिन्तन इतना उलझ गया है कि कितनी ही दफा हिंसा के कामों को अहिंसा का और अहिंसा के कामों को हिंसा का रूप दे दिया गया है।

इस तरह हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी उलझनें होने पर भी हमें आखिर विचार तो करना ही पड़ेगा। बल्कि यह उलझनें हैं, इसी कारण इस विषय में विचार करना और भी जरूरी हो जाता है। हम इन विचारों को अपने आपमें सोच लेना चाहते हैं। हालांकि हमारी बुद्धि बहुत सीमित है, किन्तु जहाँ तक शास्त्रों का सहारा काम देता है और हमारा चिन्तन-मनन हमारी सहायता करता है, वहाँ तक तो हमें आगे बढ़ना ही चाहिए। और यदि हम अपनी बुद्धि, विवेक और शास्त्रों का सहारा न लेकर यों ही खड़े हो जाएँ तो हमें न शास्त्रों का पता चलेगा, न अपना पता चलेगा और न हम देश और समाज

के प्रति अपनी पूरी जिम्मेदारी अदा कर सकेंगे।

हाँ, तो सामाजिक हिंसा का रूप आपके सामने रक्खा जा रहा है। आपके सामने जो इन्सानों की दुनिया है, मनुष्यों का जो बड़ा संसार आपके सामने है, उसके साथ आपका क्या सम्बन्ध है? आप मनुष्य के साथ और जनता के साथ क्या व्यवहार करते हैं? वह घृणा और द्वेष का व्यवहार है या सम्मान और सत्कार का? दूसरों को घायल करने का व्यवहार है या मरहम लगाने का व्यवहार है?

इन प्रश्नों पर हमें ईमानदारी के साथ विचार कर लेना चाहिए। वह हिंसा, जो समुदाय के रूप में होती है, विराट बन गई है और हम हिंसा करते हुए भी उसे हिंसा नहीं समझते। इस तरह हमारे जीवन में एक गलतफहमी फैलती है।

एक अखण्ड मानव-जाति अनेकानेक जातियों, उपजातियों और उप-उप- जातियों में बँट गई और उसके इतने टुकड़े हो गये कि गिनने चलें तो गिनते-गिनते थक जाएँ और फिर भी पूरे भेद-प्रभेदों को गिन न सकें। यद्यपि कहीं कहीं एक जाति का दूसरी जाति के साथ ऊपर से प्रेमभाव मालूम होता है किन्तु उनमें भी अन्दर-अन्दर ऊँच-नीच का भेद हैं! भीतर ही भीतर संघर्ष है और अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का अहंकार है। अन्दर के काँटे बराबर हैं। यों तो जीवन में साथ-साथ चलेंगे और एक दूसरे से सहयोग भी करते रहेंगे, किन्तु मन के काँटे दूर नहीं होते और वे निरन्तर एक

दूसरे को चुभते ही रहते हैं।

दूसरी साधारण जातियों को छोड़ दीजिए। एक ओसवाल और एक श्रीमाल जाति है जो एक डंठल के ही दो फूल हैं, किन्तु उनमें भी आपस में संघर्ष है और उन्हें लड़ते देखा है और साधु होने के नाते या कि अपने सम्प्रदाय के विशिष्ट साधु होने के नाते कभी-कभी मुझे भी दखल देना पड़ा है। ओसवाल, श्रीमाल को नीचा और अपने को ऊँचा समझ कर और श्रीमाल अपने को ऊँचा और ओसवाल को नीचा समझ कर कभी-कभी एक दूसरे के साथ रोटी और बेटी का व्यवहार भी तोड़ बैठते हैं।

भीतर की जलन कभी-कभी बाहर विस्फोट के रूप में आती है तो परिवार के परिवार लड़ पड़ते हैं और आपस के मीठे सम्बन्धों की भी परवाह नहीं की जाती। सब के सब द्वेष की आग में जलने लगते हैं। यह आग जहाँ भी जल रही है—ओसवालों में या अग्रवालों में या दूसरी जातियों में, वहाँ बड़े-बड़े विचारक भी उसमें हिस्सा लेने लगते हैं और उसे फूँक दे देकर और अधिक प्रज्वलित करने लगते हैं। इस प्रकार जाति के नाम पर हिंसा होती है और हम सोचते हैं कि जो लोग अपने जाति-भाइयों के साथ ऐसा सलूक करते हैं और उनसे भी लड़ते हैं, वे छह करोड़ अति शूद्रों या अछूतों के साथ इन्सानियत का व्यवहार किस प्रकार कर सकेंगे?

ऐसे लोग बड़ी गड़बड़ी में पड़े हुए हैं। भगवान् महावीर ने

जो महान् प्रयत्न किया और उनके प्रयत्न के फल के रूप में जो महान् क्रान्ति आई और इन्किलाब आया, उसमें बड़े-बड़े पुरोहितों ने अहंकार छोड़ दिया और भगवान् के चरणों में आकर सारे भेदभाव भुला दिये और उनके दिलों में अपार करुणा और दया बहने लगी। उस महान् चीज को जब आगे चल कर स्वयं जैनों ने भी नहीं पहचाना तो दूसरे क्या पहचानें ? दूसरों ने तो हमारा विरोध ही किया है और अछूतों का पक्ष लेने के कारण हमें भी अछूत करार दे दिया है।

मैं एक जगह ठहरा हुआ था। पास ही एक हलवाई की दूकान थी। वहाँ एक कुत्ता आया और मुँह लगाने लगा तो हलवाई ने डंडा उठाया और कहा—'दुर सरावगी !' यह शब्द सुनकर मैंने विचार किया—यह 'दुर सरावगी' क्या चीज है ? और इस हलवाई के मन में क्या प्रेरणा है ? इतिहास के पन्नों पर ध्यान देने पर मालूम हुआ कि किसी जमाने में हमने अछूतों के पक्ष में नारा लगाया था और कहा था कि इन्सान के साथ इन्सान का व्यवहार होना चाहिए इस पर हम भी अछूत करार दे दिये गये। और सरावगी (श्रावक) और कुत्ता बराबर हो गए।

इस प्रकार गहरे पैठकर आप सोचेंगे तो मालूम होगा कि आप अपने को भले ही ऊँचा समझते हों परन्तु दूसरे लोग आपको भी घृणा से देखते हैं और अपवित्र कहते हैं और चौके में बिठलाने

से परहेज करते हैं। यहाँ तक कि हम साधुओं को भी चौके में नहीं जाने देते। दिल्ली जैसे शहरों से दूर किसी देहात में जाने पर यही व्यवहार आ जाता है कि—अलग रहिए महाराज, हम बाहर ही लाकर दे देंगे।

जब इस प्रकार की भावनाएँ देखने को मिलती हैं तो हम सोचते है कि इसमें जनता का दोष नहीं। हम स्वयं भी तो इन्हीं भावनाओं के शिकार हैं।

यहाँ तक कि आप जिन्हें नफरत की निगाह से देखते हैं वे भी छूत-अछूत के भेदभाव से भरे हुए हैं। आप छोटी जाति से घृणा करते हैं और वह छोटी जाति भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जाति से घृणा करती है। यह सब देखकर दिल टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

हम देखते हैं कि यह एक ऐसा रोग है जो ऊपर से नीचे तक जोरों के साथ घुस गया है, जम गया है और इसका पूरी तरह परि-मार्जन करने के लिए बहुत बड़े तूफानी विचारों की जरूरत है। इस मसले को हल करने के लिये गांधीजी को अपना बलिदान देना पड़ा। गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था किन्तु दूसरों से प्रेम करने के कारण ही उन्हें हत्या का शिकार होना पड़ा। गांधीजी ही नहीं, हमारे अनेक पूर्वजों को भी इसी प्रकार आत्म-बलिदान देना पड़ा है।

हमारे अनेक साथी साधुओं में भी यही विचार, घर किये हुए हैं, फलतः वे भी इन्हीं गलतफहमियों में पड़कर जातिवाद का कट्टर समर्थन करते हैं। हाँ तो हमें उनके भी विचारों को साफ करना है।

मैंने जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और समूहगत इस घृणा और द्वेष की भावना को हिंसा का रूप दिया है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देखकर जात-पाँत के नाते घृणा और द्वेष की बुद्धि से देखना हिंसा नहीं तो क्या है ?

कभी-कभी मनुष्य गड़बड़ा जाता है। एक बालक ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ता है और आप उसे उठाने को चलते हैं। जब ओसवाल या अग्रवाल होने का पता चलता है तो आप खुशी-खुशी उठा लेते हैं, परन्तु यदि यह मालूम होता है कि यह तो भंगी का बालक है तो आपका मन दुविधा में पड़ जाता है। आप उसे उठा लेंगे या नहीं ? अगर कोई ऐसा माई का लाल है जो उसे उठा लेता है तो मैं उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखूँगा। मैं समझूँगा कि उसकी आँखों में इन्सान की आँखें पैदा हो गई हैं। किन्तु जहाँ इन्सान की आँखें नहीं हैं वहाँ आदमी गड़बड़ में पड़ जाता है और सोचने लगता है कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय ?

जो कष्ट में है और आपत्ति में है, तुम उसका उद्धार करने चले हो, किन्तु यदि जात-पाँत को पूछ कर चले हो तो तुम उसके कष्ट को नहीं देख सकोगे, उसकी जात-पाँत को ही देखोगे। और यह

ऐसी चीज है जिसने हमारे सामाजिक जीवन को एक सिरे से दूसरे सिरे तक विकृत कर दिया है। भगवान् महावीर का विचार एकदम स्पष्ट था। वे तो गुणों की पूजा करने चले थे, जाति की पूजा करने नहीं चले थे। उनके पास अगर ब्राह्मण आता है और गुणवान् है तो उसका स्वागत होता है, क्षत्रिय है और उसमें गुण है तो उसका भी आदर होता है। और यदि कोई साधारण जाति में जन्म लेने वाला है और शूद्र या अछूत है किन्तु अहिंसा और सत्य की सुगन्ध उसके जीवन में महक रही है तो शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य तो क्या, देवता भी उसके चरण छूने को आये। देवताओं ने भी उसके लिए जय-जयकार के नारे लगाये! और भ० महावीर ने भी उनका स्वागत किया।

हरिकेशी मुनि के सम्बन्ध में आगमों में जो वर्णन है, वह जैनों के पास बहुत बड़ी सम्पत्ति है, एक बड़ी नियामत है, एक सुन्दर खजाना है! हमने कितनी ही गलतियाँ की हैं और करते जा रहे हैं किन्तु हमारे पूर्वज उन गलतियों के शिकार नहीं थे। उन्होंने मनुष्य को मनुष्यता के नाते पहचाना, मनुष्य के गुणों की प्रशंसा की, धनवान् होने के नाते किसी का आदर नहीं किया और जात-पाँत के लिहाज से किसी का सत्कार-सम्मान नहीं किया। तभी तो उत्तराध्ययन की वाणी चमकी है:—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ ॥ —उत्तराध्ययन, १२, १

हरिकेशी मुनि श्रेष्ठ गुणों के धारक और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुकने वाले भिक्षु थे। उनके इन गुणों का उल्लेख करने के साथ ही साथ शास्त्रकार इस बात का उल्लेख करने से नहीं चूके कि वह मुनि श्वपाक-चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे। बल्कि सब से पहले इसी बात का उल्लेख किया है। यह उल्लेख हमें शास्त्रकार के हृदय तक ले जाता है और इसके सहारे हम समझ सकते हैं कि शास्त्रकार के मन में क्या भावना रही होगी। जिनके नेत्र हैं वे इस उल्लेख में भारतवर्ष की और विशेषतः जैनों की प्राचीन संस्कृति को भलीभाँति देख सकते हैं।

हरिकेशी मुनि ने पूर्व-संस्कारों के कारण चाण्डाल कुल में जन्म लिया। जीवन में कभी-कभी बड़ी अटपटी राह आती है और सावधान रहने पर भी मनुष्य कदाचित् ठोकर खा जाता है और गिर पड़ता है। मगर सच्चा मर्द वह है जो गिर कर फौरन उठ खड़ा होता है और होश-हवास को दुरुस्त कर लेता है। हरिकेशी उन्हीं मर्दों में से थे। कहीं भूल हो गई और गिर गये किन्तु उन्होंने अपने जीवन को और आत्मा को फिर सँभाला और ऊपर उठ गये। जब गृहस्थी में थे सर्वत्र अनादर और धिक्कार प्राप्त करते थे। किसी ने भी उनका सम्मान सत्कार नहीं किया। किन्तु जब उन्होंने मन पर झाड़ू दिया तो वही श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले और जितेन्द्रिय भिक्षुक बन गये।

एक तरफ पण्डित लोग वादविवाद करते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं और जन्मगत जाति की उच्चता को लेकर दावा करते हैं कि ब्राह्मण ही पवित्र और श्रेष्ठ होता है। शास्त्रार्थ लंबा चलता है और अन्त में हरिकेशी का गुणकृत ब्राह्मणत्व ही श्रेष्ठ प्रमाणित होता है, फलतः देवदुन्दुभियाँ बजने लगती हैं और देवगण जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश को गुँजा देते हैं। रत्नों की वर्षा होती है और साथ ही साथ सुन्दर विचारों की भी वर्षा होती है। और जब जय-जयकार होती है तो भगवान् महावीर ने कहा:—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोवि।

सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढी महाणुभावा॥

—उत्तराध्ययन १२,३७

एक-एक शब्द में चिरन्तन सत्य की गंगा बहती है! एक-एक शब्द में गुणों के प्रति अनुराग बह रहा है! शताब्दियों से इस गाथा में से अमृत का झरना बह रहा है किन्तु दुर्भाग्य से हमारे अन्दर उसे झेलने की शक्ति नहीं रह गई है। हम उसे पढ़ते हैं और आगे चल देते हैं। विचारों के इस अमृत-निर्झर को हम अपने जीवन में नहीं उतार पाते हैं। शास्त्रकार कितने प्रभावशाली शब्दों में चुनौती देकर मानो कह रहे हैं—प्रत्यक्ष में तुम देख सकते हो कि विशेषता तप में है, विशेषता गुण में है और विशेषता जीवन की पवित्रता में है। जाति में कोई विशेषता नजर नहीं आती, वह तो सिर्फ उच्चता के

अहंकार से पैदा होने वाली कल्पना है। हरिकेशी साधु चाण्डाल का लड़का था, उसने चाण्डाल के कुल में जन्म लिया था, मगर उसके ऐश्वर्य को देखिए! उसकी महिमा को देखिए कि देवगण भी जय-जयकार बोल रहे हैं।

उत्तराध्ययन की यह वाणी आज भी मौजूद है और हमारे पक्ष का समर्थन करती है। जात-पाँत के विरुद्ध और क्या प्रमाण चाहिए? इतने पर भी जिसे समझ नहीं आती उसके लिए दूसरे प्रमाण भी क्या काम आएँगे?

अगर किसी ने नीची समझी जाने वाली जाति में जन्म ले भी लिया तो क्या हो गया? वह उसी जीवन में दूसरी बार फिर जन्म ले सकता है। दूसरा जन्म गुणों के द्वारा लिया जाता है, मनन और चिन्तन के द्वारा लिया जाता है। अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा अपने हाथों जीवन का जो निर्माण होता है वही सब से बड़ा निर्माण है, अलंकार की भाषा में वही दूसरा जन्म है।

महाभारत में कथा आती है कि कर्ण एक बढ़ई का लड़का है, यह बात मशहूर थी। जब वह युद्ध में लड़ने को जाता है तो जन्मजात क्षत्रिय उसका उपहास करते हैं और चिढ़ाते हैं कि आप यहाँ कैसे आ पहुँचे! यह तो युद्ध है! यहाँ तलवारों का काम है, लकड़ी छीलने या चीरने का काम नहीं है! आपको तो किसी वन में जाना चाहिए था। इस प्रकार का मजाक सुन कर भी वह दृढ़ और पक्का

आदमी--कर्ण झेंपा नहीं और शर्माया नहीं। वह उन जन्मजात क्षत्रियों को ललकारता है और कितनी ही घृणाएँ मिलने पर भी शर्माता नहीं है।

हम साधुओं को भी कितने-कितने जहर के प्याले पीने को मिलते हैं और हम उन्हें मुस्कराहट के साथ पी जाते हैं।

हाँ, तो कर्ण युद्धक्षेत्र में पहुँच कर कहता है-तुम जन्म-जात क्षत्रिय हो और तलवारों को सदियों से उठाते आ रहे हो और मैंने तो अपने कुल में पुरुषार्थ करके बस यही एक तलवार उठाई है, किन्तु यही तलवार तुम्हें बतलाएगी कि युद्ध में किसकी तलवार ज्यादा चमकती है। उसने कहा:—

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, ममायत्तं हि पौरुषम्॥

मैं बढ़ई हूँ या बढ़ई का लड़का हूँ तो क्या हुआ? मैं कोई भी हूँ, इससे तुम्हें क्या प्रयोजन है? पुराने जन्म के संस्कारों के कारण मैंने कहीं जन्म लिया है, उसे क्या देखते हो? अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा मैंने अपने जीवन का जो यह निर्माण किया है साहस हो तो इसे परखिए। तुम जन्म से क्षत्रिय हो और मैं कर्म से क्षत्रिय बना हूँ। रणक्षेत्र में बतला दूँगा कि वास्तव में कौन सच्चा क्षत्रिय है और कौन क्षत्रिय नहीं है।

कर्ण की इस ज्वलन्त वाणी को हमें अपने मन में रख लेना

है। कर्ण के भाव को हमें अपने अन्तःकरण में—गहराई में ले जाना चाहिये कि कोई किसी भी जाति में जनमा हो और रहता हो किन्तु अपने गुणों के द्वारा वह उठता है और पवित्र बन सकता है।

वाल्मीकि पहले किस रूप में थे? जब उनका जीवन बदला तो उन्हें महर्षि का रूप देना पड़ा। हरिकेशी कुछ भी रहे हों मगर जब उन्होंने आदरणीय गुण प्राप्त कर लिये तो उनका आदर किया गया। आखिर कब तक गुण ठुकराये जायेंगे? कभी न कभी तो उनकी चमक बाहर आएगी ही और जीवन में रोशनी पैदा होगी ही।

जैनों में उच्चगोत्र और नीचगोत्र की बात चलती है। कुछ लोग इस विषय में पूछते हैं और कुछ नहीं भी पूछते हैं। कोई पूछे या न पूछे मगर हम तो बाजार में सौदा बेचने चले हैं। अतः कभी कभी कोने में और कभी कभी मैदान में भी विचार कर लेते हैं। स्वयं विचार करके और जैन शास्त्रों का अध्ययन करके जो कुछ पाया है वह स्पष्टरूप से जनता के सामने रख देना है और उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश करनी है।

तो उच्चगोत्र और नीचगोत्र के संबंध में विचार कर लेना है। कोई प्रतिष्ठित माने जाने वाले कुल में पैदा हो गया तो वह उच्चगोत्रीय कहलाया और यदि अप्रतिष्ठित समझे जाने वाले कुल में उत्पन्न हो गया तो नीचगोत्रीय कहलाने लगा। इस संबंध में पहली बात, जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि कुल की प्रतिष्ठितता क्या सदैव एक

समान रहती है? नहीं, वह तो उस कुल के व्यक्तियों के व्यवहार के कारण पलटती देखी जाती है। एक व्यक्ति का ऊँचा आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ा देता है और एक व्यक्ति का नीचा और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा में धब्बा लगा देता है, सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। ऐसी स्थिति में किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। वह तो जनता के विचारों की चीज है, वास्तविक वस्तु नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नहीं? मान लीजिए कि किसी को नीचा गोत्र मिला है। मगर उसने तत्त्व का चिन्तन किया है और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है तो उसी जीवन में उसका गोत्र बदल सकता है या नहीं? यदि सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नहीं बदल सकता तो मुझे अपने विचारों को समेट कर एक कोने में डालना पड़ेगा। किन्तु अगर गोत्र का बदलना साबित हो जाता है तो आप को भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सब को उसे अपनाने के लिए तैयार होना चाहिए।

कल्पना कीजिए एक उच्चगोत्री है, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है और आज वह बुरा काम करता है और वह मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नहीं

देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ तो एक ओसवाल या अग्रवाल मुसलमान बन जाता है तो आप उसे दूसरे रूप में ही समझते हैं या दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं ? आप उसे दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। वह आपकी निगाहों से गिर गया है और उसमें उच्चगोत्र नहीं रहा है। आप उसे पहले की तरह साथ बिठलाकर एक थाली में भोजन नहीं करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नहीं रहा। वहाँ जन्म की धारणा नहीं रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा, ऊँचा बना रहा, और जब उसका पतन हो गया और उसने भयंकर बुराई कर ली और किसी दूसरे रूप में चला गया तो वह गोत्र बदलने की चीज हुई। पहले वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य या कुछ भी क्यों न रहा हो, किन्तु अब वह बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

तो जो बात उच्चगोत्र के सम्बन्ध में है वही बात नीचगोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते ? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र–बदल जाता है और नीचगोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा नीचगोत्र क्यों नहीं बदल सकता ? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीचगोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा, यह कहाँ का सिद्धान्त है ? जब उच्चगोत्र स्थायी

समान रहती है? नहीं, वह तो उस कुल के व्यक्तियों के व्यवहार के कारण पलटती देखी जाती है। एक व्यक्ति का ऊँचा आचरण कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ा देता है और एक व्यक्ति का नीचा और गलत आचरण कुल की प्रतिष्ठा में धब्बा लगा देता है, सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। ऐसी स्थिति में किसी भी कुल की अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा कोई शाश्वत वस्तु नहीं है। वह तो जनता के विचारों की चीज है, वास्तविक वस्तु नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि गोत्र बदला जा सकता है या नहीं? मान लीजिए कि किसी को नीचा गोत्र मिला है। मगर उसने तत्त्व का चिन्तन किया है और मनन किया है और उसके फलस्वरूप उच्च श्रेणी का आचरण प्राप्त किया है तो उसी जीवन में उसका गोत्र बदल सकता है या नहीं? यदि सिद्ध हो जाता है कि गोत्र नहीं बदल सकता तो मुझे अपने विचारों को समेट कर एक कोने में डालना पड़ेगा। किन्तु अगर गोत्र का बदलना साबित हो जाता है तो आप को भी अपना विचार बदल देने के लिए तैयार रहना चाहिए। सत्य सर्वोपरि है और बिना किसी आग्रह के हम सच को उसे अपनाने के लिए तैयार होना चाहिए।

कल्पना कीजिए एक उच्चगोत्री है, क्षत्रिय, अग्रवाल अथवा ओसवाल है और आज वह बुरा काम करता है और वह मुसलमान बन जाता है। हालांकि मैं मुसलमान को भी घृणा की दृष्टि से नहीं

देखता हूँ, किन्तु रूपक ला रहा हूँ और आपको भी उसी दृष्टि से उस रूपक को समझना चाहिए।

हाँ तो एक ओसवाल या अग्रवाल मुसलमान बन जाता है तो आप उसे दूसरे रूप में ही समझते हैं या दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं? आप उसे दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। वह आपकी निगाहों से गिर गया है और उसमें उच्चगोत्र नहीं रहा है। आप उसे पहले की तरह साथ बिठलाकर एक थाली में भोजन नहीं करते। जब ऐसी धारणा है तो इसका अर्थ यह है कि उच्चगोत्र स्थायी नहीं रहा। वहाँ जन्म की धारणा नहीं रही। जब तक वह ऊँचाई पर कायम रहा, ऊँचा बना रहा, और जब उसका पतन हो गया और उसने भयंकर बुराई कर ली और किसी दूसरे रूप में चला गया तो वह गोत्र बदलने की चीज हुई। पहले वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य या कुछ भी क्यों न रहा हो, किन्तु अब वह बदल गया है और इस कारण उसका गोत्र भी बदल गया है।

तो जो बात उच्चगोत्र के सम्बन्ध में है वही बात नीचगोत्र के सम्बन्ध में क्यों नहीं स्वीकार करते? जब गोत्रकर्म का एक हिस्सा उच्चगोत्र—बदल जाता है और नीचगोत्र बन जाता है तो दूसरा हिस्सा नीचगोत्र क्यों नहीं बदल सकता? चाहे जितनी सचाई और पवित्रता को अपनाने पर भी नीचगोत्र बदल नहीं सकता और वह जन्म भर नीचा ही बना रहेगा, यह कहाँ का सिद्धान्त है? जब उच्चगोत्र स्थायी

नहीं रहता है तो नीचगोत्र स्थायी किस प्रकार रह सकता है ?

अभिप्राय यह है कि नीचगोत्र और उच्चगोत्र का क्या है ! जब मनुष्य बुराई का शिकार होता है तब नीचगोत्र में रहता है और जब अच्छाइयाँ प्राप्त कर लेता है तो वही 'भगतजी' के नाम से या और किसी नाम से प्रसिद्ध हो जाता है ।

अब जरा सैध्धान्तिक दृष्टि से भी विचार कीजिए । सिद्धान्त की मान्यता है कि साधु का छठा गुणस्थान है । और छठे गुणस्थान में नीचगोत्र का उदय नहीं होता । हरिकेशी नीची जाति में उत्पन्न हुए थे और साधु बन गए । अब प्रश्न यह है कि साधु बन जाने पर वह नीचगोत्र में रहे या नहीं ? अगर वह नीचगोत्र में ही रहे तो उन्हें छठा गुणस्थान नहीं होना चाहिए और साधु का दर्जा नहीं मिलना चाहिए । मगर शास्त्र बतलाता है कि वे तो महामहिम मुनि थे और उन्हें छठा गुणस्थान प्राप्त था । छठे गुणस्थान में नीचगोत्र नहीं रहता है । इसका अभिप्राय साफ है कि हरिकेशी नीचगोत्र से बदल कर उच्चगोत्र में पहुँच गये थे । तो आपको फैसला करना पड़ेगा कि नीचगोत्र भी उच्चगोत्र के रूप में बदल जाता है । उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनों गोत्रकर्म की अवान्तर प्रकृतियाँ हैं । अवान्तर प्रकृतियों का एक दूसरी के रूप में संक्रमण हो सकता है, यह बात सिद्धान्त को समझने वाले समझ सकते हैं ।

हरिकेशी मुनि नीचगोत्र की पोटली अपने सिर पर रख कर

छठे गुणस्थान की उँचाई पर नहीं चढ़े थे। यह बात इतनी ठोस सत्य है कि जब तक आप शास्त्र को प्रमाण मानने से इन्कार न कर दें, तब तक इससे भी इंकार नहीं हो सकते। अगर आप शास्त्र के सिद्धान्त को कायम रखना चाहते हैं तो आपको उच्चगोत्र और नीचगोत्र के आजीवन स्थायित्व को खत्म करना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि उच्चगोत्र और नीचगोत्र का छुआछूत के साथ कोई ताल्लुक नहीं है। छुआछूत तो केवल लौकिक कल्पना मात्र है। जो कष्ट में पड़ा है और बेहोश हो रहा है, आप उसके पास खड़े-खड़े टुकुर-टुकुर देखते हैं और अछूत समझ कर उसे हाथ नहीं लगा सकते। सिद्धान्त इसका समर्थन नहीं करता। शास्त्र इस व्यवहार का अनुमोदन नहीं करते। जब हम छुआछूत के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पाते हैं कि छुआछूत की कल्पना के साथ गोत्रकर्म का कतई ताल्लुक नहीं है। गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि जितने भी पशु हैं, उनको शास्त्रों के अनुसार नीचगोत्र होता है। किसी भी पशु में उच्चगोत्र नहीं माना गया है। अगर नीचगोत्री होने से कोई अछूत हो जाता है तो सभी पशु अछूत होने चाहिए। गाय और भैंस भी अछूत होनी चाहिएँ। मगर उनका दूध लोग डकार जाते हैं और फिर मनुष्य के लिए छुआछूत की बातें करते हैं! घोड़े पर सवार होते हैं और हाथी पर बैठने में अपना अहोभाग्य मानते हैं। उस समय वे क्यों भूल जाते हैं कि यह पशु नीचगोत्री हैं और इस कारण

अछूत हैं-इन्हें छुएँगे तो धर्म डूब जायगा और जाति चली जायगी।

खेद है कि पशुओं को छूने वाले, उनका दूध पीने वाले, उन्हें मल-मल कर स्नान कराने वाले और उन पर सवारी करने वाले लोग ही जब मनुष्य का प्रश्न सामने आता है तो नीचगोत्र की बात कह कर और अछूतपन की कल्पना करके अपने कर्त्तव्य से, अपने विवेक से, न्याय और नीति से और धर्म से हट जाते हैं! मगर सिद्धान्त की जो बात है, उसे सर्वतोभावेन अंगीकार करना हमारा कर्त्तव्य है।

तो मैं कह रहा था कि जैनधर्म एक ही लहर लेकर आया है और वह सद्गुणों की लहर लेकर आया है। चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न रहा हो, वह जब तक पापी रहा है तब तक रहा है किन्तु जब सदाचारी बनता है और उसके जीवन में सदाचार की महक आती है तो वह ऊपर उठता है और उसके लिए मोक्ष का दरवाजा भी खुल जाता है। जैनधर्म नहीं कहता कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को ही मिलेगा और शूद्र को मोक्ष नहीं मिलेगा। हमारे एक आचार्य समन्तभद्र ने कहा है:—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरोजसम्॥

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार

अगर कोई चाण्डाल से भी पैदा हुआ है किन्तु उसे सम्यग्दृष्टि

प्राप्त हो गई है तो वह मनुष्य नहीं, देवता है ! तीर्थङ्कर देव उसे देवता कहते हैं। उसके भीतर भी दिव्य ज्योति झलक रही है, ठीक उसी प्रकार जैसे राख से ढँके हुए अङ्गार में ज्योति विद्यमान रहती है और भीतर ही भीतर चमकती है।

मिथ्यादृष्टि देवता की अपेक्षा भी सम्यग्दृष्टि शूद्र ऊँचा है। ऐसा न माना जायगा तो गुणों की प्रतिष्ठा उठ जायगी। लोग जाति और सम्पत्ति को ही पूजेंगे और गुणों की उपेक्षा करेंगे। गुणों का दर्जा नीचा हो जायगा और उनके प्रति आदर का भाव नहीं रह जायगा।

जिस जाति में गुणों का आदर होता है उसमें गुण, सदाचार और अच्छाइयाँ पनपती हैं। दुर्भाग्य से हम उच्च जाति वाले उन नीच जाति वालों को जो सदाचारी हैं, समाज में और धर्म में भी नहीं आने देते और मजबूर करते हैं कि वे वहीं के वहीं खड़े रहें।

मैं जिक्र करना चाहता हूँ कि एक बार मैं विहार कर रहा था और धूप तेज पड़ रही थी। रास्ते में एक तिवारा आया। तिवारे के सामने ही कुछ वृक्ष थे। विश्राम करने के लिए मैं उन वृक्षों की छाया में बैठने लगा तो साथ के एक श्रावक भाई ने कहा—महाराज ! आपको छाया में बैठना हो तो आगे बैठिएगा। यहाँ मत बैठिये।

मैंने कहा—क्या बात हो गई ?

तब वह बोला—आपको मालूम नहीं कि यह तिवारा और

वृक्ष और कुआ एक वेश्या की सम्पत्ति से बने हैं। वेश्या पहले वेश्या-वृत्ति करती थी किन्तु बाद में वह प्रभु की भगतिन बन गई और प्रभु-भक्ति में लग गई तो उसने सोचा कि कुछ परोपकार का काम करूँ। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने वेश्यावृत्ति से कमाये हुए अपने पैसे से यह बनवाये हैं। और जब ऐसे पैसे से बनवाये गये हैं तो आपको यहाँ नहीं बैठना चाहिये।

मैंने सोचा—एक तरफ तो यह कहता है कि वेश्या बदल गई और भगत बन गई और उसमें सद्बुद्धि जागी तो उसने अपने पिछले आचरण के प्रायश्चित्त के रूप में यह सब किया और दूसरी तरफ यहाँ बैठने से भी परहेज करने को कहता है? दुर्भाग्य है समाज का कि सैकड़ों लोग उस कुए का पानी भी नहीं पीते और तिवारे में बैठने तथा वृक्ष की छाया में बैठने में भी पाप समझते हैं। ऐसे अभागे लोगों को आप दान और पुण्य भी नहीं करने देते। उनका दान और पुण्य भी अपवित्र हैं? बस, आपके ही हाथ की कमाई पवित्र है, चाहे वह जनता का शोषण करके ही क्यों न आई हो?

वेश्या की कमाई गलत कमाई थी किन्तु बाद में सद्बुद्धि जाग गई और उसने प्रायश्चित्त के रूप में सारा धन सत्कर्म में लगा दिया तो क्या हमें उससे नफरत करनी चाहिए?

वेश्या का पिछला जीवन पापमय था और उसने अपने जीवन को सँभाल लिया और वह उस पाप से मुक्त हो गई। मगर उससे

नफ़रत करने वाले और उसे घृणा की दृष्टि से देखने वाले क्या कर रहे हैं ? नफ़रत और घृणा अगर पाप है तो वे वर्त्तमान में भी पाप में पड़े हुए हैं। वे आन्तरिक हिंसा के शिकार हो रहे हैं। विवेकवान् पुरुषों के लिए उस वेश्या की अपेक्षा भी वे अधिक दया के पात्र हैं।

तो अभिप्राय यह है कि जहाँ ईर्षा है, द्वेष है, घृणा है, अहंकार है, और मनुष्य के प्रति अपमान की भावना है वहाँ हिंसा है। जब हम हिंसा के स्वरूप पर विचार करें तो इस भयानक हिंसा को न भूल जाएँ और जब अहिंसा की साधना के लिए तैयार हों तो पहले आन्तरिक हिंसा को दूर करें, चित्त को निर्मल बनावें, कम से कम समग्र मानवजाति को प्रेम और मित्रता की भावना से देखें और तब क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते अहिंसा के विशिष्ट आराधक बनें।

पवित्रता का मूल स्रोत

जब कभी हम अपने जीवन के अन्तरंग में पहुँचते हैं और अपने जीवन का मर्म तलाश करना चाहते हैं तो प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि जीवन की कोई अलग-अलग राह नहीं है, एक ही राह है और वह है जीवन की पवित्रता। बाहर में भले ही हम अलग अलग रूप में चलते हैं और अलग-अलग रूप में राह तय कर रहे हैं, सम्प्रदाय के रूप में, धर्म, मत, पंथ और जातियों के रूप में बाहर की राहें बहुतेरी हैं, किन्तु जीवन के अन्दर की जो राह है वह एक है।

जीवन की पवित्रता की इस राह पर जो चलते हैं वे अपना कल्याण करते हैं और जो नहीं चलते हैं, वे बाहर में चाहे जैसा जीवन बिताएँ, अन्तरंग में अगर पवित्रता की भावना नहीं है, तो वे अपना कल्याण नहीं कर सकते।

अहिंसा पवित्रता की सब से बड़ी पगडंडी है और राह है।

हमें मनुष्य-जीवन मिला है सो मिल तो गया ही है, मगर उसकी सार्थकता के लिए यह सोच लेना जरूरी है कि उसका उद्देश्य क्या है ? हमें इस जीवन का उपयोग संसार के कल्याण के लिए करना है, जनता के दुख-दर्द को कम करने के लिए करना है, अपने जीवन की महक देकर दुनिया की गन्दगी और बुराई दूर करना है अथवा हमें इस जन्म के द्वारा संसार के मार्ग में रोड़े अटकाना है और संसार की कठिनाइयों को अपनी ओर से और भी कठिनाइयाँ फैलाकर बढ़ाना है ?

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का एक ही मार्ग है और वह मार्ग यह है कि तुमने जो जीवन पाया है उसका उपयोग संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए करो । अगर समस्याएँ पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हों तो उन भूलों को साफ करो और यदि समाज की भूलें हों तो उन्हें भी दुरुस्त करो । और इसी प्रकार से तुम्हारे देश में या संसार में जो भूलें या गलतियाँ पैदा हो गई हों और जिनके कारण मानव-जीवन में काँटे फैल गये हों, उनको भी एक-एक करके बीनना और अलग करना और साफ करना है । जीवन के मार्ग को अपने लिए और दूसरों के लिए साफ बनाना ही मनुष्य जीवन का ध्येय है ।

इस प्रकार अहिंसा अपने आप में फूलों की राह है, काँटों की राह नहीं है । कहने को तो हमें कठिनाई मालूम होती है और जब-जब हम अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं और चलते हैं

तो ऐसा मालूम होता है कि यह जीवन की राह नहीं है, किन्तु जीवन अगर चलेगा तो अहिंसा पर ही चलेगा। हिंसा तो हमारे जीवन में कठिनाई बढ़ाती है, किसी कठिनाई को हल नहीं कर सकती है। अतएव हिंसा और अहिंसा को आपको समझ लेना है। इसी उद्देश्य से सामाजिक हिंसा का रूप कल भी आपके सामने रक्खा गया था और आज भी वही विषय रक्खा जा रहा है। हिंसा के विविध रूपों को समझे बिना अहिंसा को पूरी तरह समझा नहीं जा सकता।

तो जैनधर्म एक बात संसार को कहने के लिए आया है कि जितने भी मनुष्य हैं, वे चाहे संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक क्यों न फैले हों, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। उनका अलग-अलग कोई गिरोह नहीं है। जो भी जातियाँ बन गई हैं या गिरोह बन गये हैं वे सब विभिन्न प्रकार के काम-धन्धों को लेकर बने हैं। आखिरकार मनुष्य की जिन्दगी है तो पेट भरने के लिए कोई न कोई धन्धा करना ही पड़ता है। कोई कपड़े का धन्धा करता है, कोई ऊन का व्यापार करता है, कोई दफ़्तर जाता है और कोई कुछ और कर लेता है। यह तो जीवन की समस्याओं को हल करने के तरीके हैं, किन्तु इन तरीकों के विषय में मनुष्य ने जो पवित्रता और अपवित्रता के भाव रख छोड़े हैं कि अमुक जाति पवित्र है और अमुक जाति अपवित्र है, मैं

समझता हूँ कि यह कोरा अहङ्कार है और कुछ भी नहीं है।

मनुष्य के जीवन में अपने आपको श्रेष्ठ और ऊँचा समझने की वृत्ति है और वह वृत्ति छोटे से छोटे बच्चे में, हरेक नौजवान में और बूढ़े में भी देखी जाती है। वह जहाँ अपने अभिमान को चोट आते देखता है वहीं गड़बड़ा जाता है और जब कभी दूसरों के सामने अपना अपमान अनुभव करता है तो आपे में नहीं रहता। तो मनुष्य की प्रकृति में एक भावना चली आ रही है और वह अन्दर ही अन्दर बचपन से ही चलती आ रही है, जो अहंभाव के रूप में अपने आपको श्रेष्ठ समझने का भाव है वह चारों तरफ से उसका पालन-पोषण करता है। यह भावना जहाँ तक अपने आप में है वहाँ तक कोई बुराई नहीं है।

मेरा खयाल है, भारतवर्ष में कुछ लोगों में एक बात और पाई जाती है। वे अपने आपको तुच्छ और दीन-हीन समझने की मनोवृत्ति रखते हैं। वे अपने में दुनिया भर के पाप और बुराइयाँ समझ कर चलते हैं। इस भावना के कारण जीवन में कोई ऊँचा मार्ग नहीं तय किया जा सकता। ऐसे लोग रोते और गिड़गिड़ाते हुए चलते हैं।

मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' है अथवा 'मैं' है वही स्वयं आत्मा है। आप 'अहम्' को अलग नहीं कर सकते, 'मैं' को त्याग नहीं सकते। क्योंकि 'अहम्' को त्याग करने का विचार वाला आत्मा है और आत्मा आत्मा का त्याग कैसे कर सकता है? त्यागने वाला

और जिसे त्याग करना है अर्थात् त्यागी और त्याज्य वहाँ दोनों एक ही हैं। अतएव अपने 'अहम्' को त्यागना न तो शक्य है और न वांछनीय ही है। अपने आपको उत्कृष्ट समझने की बुद्धि अगर शुद्ध रूप में आपमें उत्पन्न हो जायगी तो वह आपके जीवन में अनेक अच्छाइयों का स्रोत बहा देगी। मगर जब वही अहंभाव विकृत और दूपित रूप में आपके अन्दर उदित होता है तो आपको गिरा देता है। अपने आपको ऊँचा समझने के नाते और अपनी ऊँचाइयों को और अधिक ऊँचा साबित करने के इरादे से जब दूसरों को नीचा समझने की वृत्ति अन्तःकरण में उत्पन्न होती है और दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, फलतः उनको अपवित्र समझ लिया जाता है तो समझ लीजिए कि आपका अहंभाव शुद्ध रूप में नहीं जागा है। वह विकृत और दूषित हो गया है। वह आपके जीवन को ऊँचा नहीं उठाएगा और पवित्र नहीं बनाएगा। जब आप दूसरों को नीचा समझ कर ही अपनी उच्चता मान लेते हैं तो इसका अर्थ यह है कि आपमें अपनी कोई उच्चता नहीं है। और उस झूठी उच्चता पर आपने जो संतोष मान लिया है वही संतोष आपका शत्रु है। वह आपको आगे बढ़ने से रोकता है और ऊँचा नहीं चढ़ने देता। निश्चित समझो कि आपके जीवन में अगर उच्चता और पवित्रता आने वाली है तो वह दूसरों को नीच और अपवित्र समझने से नहीं आएगी।

जैनधर्म मनुष्य के सामने सदैव यह सन्देश रखता आया है

कि—हे मनुष्य ! तू अपने को पवित्र समझ और श्रेष्ठ मान। तेरा जीवन संसार में भूलों भटकने के लिए नहीं है। तेरा जीवन रेंगते-रेंगते और रगड़ खाते-खाते चलने के लिए नहीं है, तू संसार में बहुत ऊँचा बन कर आया है। अनन्त-अनन्त पुण्य का परिपाक होने पर तू ने मनुष्य का अवतार धारण किया है। तुझे मानव-जीवन की जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह इतनी महान् और और दिव्य है कि देवताओं की पवित्रता का भी उसके सामने कोई मूल्य नहीं है।

यह सन्देश देकर जैनधर्म में अपने आपको तुच्छ, दीन, हीन और कुछ भी न समझने की वृत्ति को निकालने का प्रयत्न किया है और उसके 'अहम्' को जगाया है। हमारे जीवन के चारों ओर जैनधर्म की एक ही आवाज गूँज रही है:—

'अप्पा सो परमप्पा।'

अर्थात्—आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा पवित्र ईश्वर का रूप है।

इस प्रकार जैनधर्म ने मनुष्य को एक बहुत बड़ा आदर्श यह दिया है कि तू नीचा बनने के लिए नहीं है किन्तु ऊँचा चढ़ने के लिए है। तेरे भीतर असीम सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं, असंख्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं और तू आत्मा से परमात्मा बनने के लिए है। तेरे अन्तर-तर में परमात्मा की दिव्य ज्योति जगमगा रही है। गलतियाँ करके तू ने अपने ऊपर धूल डाल रक्खी है और इस कारण वह भीतरी

चमक दब गई है। अब तेरा काम कोई नई चीज प्राप्त करना नहीं है। तुझे अपने ऊपर जमी हुई धूल अलग कर देना है और ज्यों ही वह धूल अलग होगी, तुझे जो पाया है वह तो अन्दर मौजूद ही है। वह बाहर से नहीं मिलता है। तुझे भ० महावीर बनना है तो बन सकते हैं, महात्मा बुद्ध, राम या कृष्ण जो भी बनना है सो ही बन सकता है। बस, जमी हुई धूल को झाड़ दे। एक कवि ने कहा है:—

'पास ही रे हीरे की खान,
खोजता उसे कहाँ नादान ।'

—निराला

यह बात हमारे सामने निरन्तर आती रहती है कि जैनधर्म ने और भारतीय दर्शन ने मानव-जाति के समक्ष बहुत बड़ी पवित्रता का भाव उपस्थित किया है। मनुष्य अपने अहम्भाव को भूल गया था और अपनी ज्योति को उसने भुला दिया था। जैनधर्म ने पुकार कर कहा—'तू जीवन की राह पर भूला हुआ पात्री है। सही पगडंडी को पहचान ले और उस पर बढ़ चल तो तेरी मंजिल कहाँ दूर है?'

मनुष्य एक भूला हुआ प्राणी है। मगर उन भूलों की नीची सतह में अनन्त ज्योतिर्मय चेतना का जो पुञ्ज दबा पड़ा है, उससे पवित्रता की ऊँची और अच्छी आवाज उठा करती है। दुर्भाग्य से मनुष्य उस आवाज को सुनकर भी गलत समझ लेता है। वह अपने

पुरुषार्थ से और प्रयत्न से ऊँचा उठने की कोशिश कम करता है और दूसरों को नीचा और उनकी अपेक्षा अपने को ऊँचा समझने की भूल करता है। इसी भूल के कारण जात-पाँत की भावना पैदा हुई। इसी भूल ने एक वर्ग को ऊँचा और दूसरे वर्ग को नीचा समझने की प्रेरणा की। दूसरों को नीचा समझ लेने से वास्तव में वे नीचे नहीं हो जाते, परन्तु नीचा समझने वाला अवश्य ही नीचा बना रहता है, क्योंकि वह जीवन की वास्तविक ऊँचाई को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। वह तो अपनी कल्पित ऊँचाई में ही भूला रह जाता है। अतएव जिसे वास्तव में ऊँचा उठना है उसे अपनी यह भूल सुधार लेनी होगी। इस भूल को सुधारे बिना न व्यक्ति ऊँचा उठ सकता है, न समाज और न देश ही ऊँचा उठ सकता है।

जैनधर्म कहता है कि मनुष्य जाति अपने आप में पवित्र है और सभी मनुष्य पवित्र हैं। जो भूलें हैं, गलतियाँ हैं, वही अपवित्र हैं। इस नाते वह दुराचारी से भी घृणा करना नहीं सिखलाता। उसने सिखाया है कि चोर से घृणा मत करो किन्तु चोरी से घृणा करो। चोर तो आत्मा है और आत्मा बुरा नहीं है। तुम्हारे अन्दर जो तत्त्व है वही चोर के अन्दर भी है। जो अच्छाइयाँ तुम अपने में मानते हो वही चोर में भी विद्यमान हैं। उसकी अच्छाइयाँ अगर चोरी के कारण छिप गई हैं तो तुम अपनी अच्छाइयों को घृणा और द्वेष के कारण क्यों छिपाने का—दबाने का—प्रयत्न करते हो? ऐसा

करने से तुम्हारे अन्दर कोई पवित्रता नहीं आने की। हाँ, अगर तुम चोरी को बुरा समझोगे और चोर को घृणा की नहीं किन्तु दया की दृष्टि से देखोगे तो तुम में अवश्य ही पवित्रता जागेगी।

एक आदमी शराब पीता है और आपकी निगाह में वह खराब है किन्तु कल शराब छोड़ देता है और सभ्यता और शिष्टता के मार्ग पर आ जाता है तथा अपने जीवन को ठीक रूप से गुजारने लगता है तो वह आदर्श की दृष्टि से देखा जाता है या नहीं? जब वह बुराई को छोड़ देता है तो ऊँची निगाह से देखा जाता है। हाँ, शराब बुरी चीज है, अतः वह कभी ठीक नहीं होने वाली है। चाहे वह ब्राह्मण के हाथ में हो या शूद्र के हाथ में हो, महल में रक्खी हो या झौपड़ी में हो, वह बुरी की बुरी ही रहेगी। वह पवित्र बनने वाली नहीं है। किन्तु शराब पीना छोड़ कर आदमी पवित्र बन सकता है। चोर चोरी करना छोड़ देता है तो पवित्र बन जाता है, दुराचारी दुराचार को त्याग कर पवित्र बन जाता है। जैनधर्म ने बताया कि तेरी घृणा व्यक्ति के गलत तरीकों पर है, व्यक्ति की तरफ नहीं होनी चाहिए। चोर ने चोरी करना छोड़ दिया है, शराबी ने शराब पीना त्याग दिया है और दुराचारी दुराचार से दूर हो गया है, फिर भी अगर हम घृणा नहीं त्याग सकते तो समझ लीजिए कि हम अहिंसा के मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। अहिंसा की दृष्टि तो इतनी विशाल है कि हम पापी से पापी और दुराचारी से दुराचारी के प्रति भी घृणा का

भाव न उत्पन्न होने दें। किन्तु दुर्भाग्य से समाज में आज अहिंसा की वह दृष्टि नहीं रही है और ऐसी बुराइयाँ पैदा हो गई हैं जिनके लिए हमें संघर्ष करना पड़ रहा है।

जिधर निगाह फैलाते हैं उधर ही आज घृणा और द्वेष के दर्शन होते हैं। आज दिलों की हिंसा सब से बड़ी और व्यापक हिंसा है। मनुष्य, मनुष्य से घृणा और द्वेष कर रहा है। हमारे वर्ग का है तो प्रेम और दूसरे वर्ग का है तो द्वेष ! जात-पाँत के नाम पर, प्रान्त के नाम पर और सम्प्रदाय के नाम पर—चारों ओर से हम जीवन में इतनी घृणा प्राप्त कर चुके हैं कि अगर उससे छुटकारा प्राप्त नहीं करेंगे तो हमारे जीवन का मार्ग प्रशस्त नहीं बन सकेगा।

मैं पूछना चाहता हूँ कि मनुष्य जन्म से ऊँचा-नीचा होता है या कर्म से ऊँचा-नीचा होता है ? अगर कोई जन्म से ऊँचा होता है तो रावण जैनदृष्टि से क्षत्रिय था और वैदिक दृष्टि से ब्राह्मण था और इस लिहाज से उसमें जन्मजात पवित्रता और उच्चता थी, फिर भी उसे घृणा क्यों मिली ? भारत का इतिहास लिखने वाला प्रत्येक लेखक रावण के प्रति क्यों घृणा व्यक्त करता आ रहा है ? अभिप्राय यह है कि जन्म से कोई ऊँचाई नहीं आती। और जब नहीं आती तो जो भी कर्म गलत मालूम होता है भारतीय इतिहास उस कर्म की निन्दा करने को तैयार होता है और उस बुराई का तिरस्कार करने में संकोच नहीं करता। इतिहास ने नहीं देखा कि रावण क्षत्रिय था

या ब्राह्मण था। उसका क्षत्रियत्व या ब्राह्मणत्व आगे नहीं आया किन्तु कर्म आगे आया।

अब दूसरी ओर देखिए। वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन में लुटेरे थे। उन्होंने दूसरों को मारना और फिर उनकी जेब टटोलना ही सीखा था। उनके सामने जीवन का दूसरा रास्ता नहीं था और उनके हाथ खून से भरे रहते थे। किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उस पर उन्होंने चलना शुरु किया तो भारत इतना बड़ा भारत है कि उसने उन्हें ऋषि और महर्षि की पदवी दी और सन्तों में उन्हें आदर का स्थान मिला।

जैनदर्शन के अनुसार हरिकेशी चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए और सब ओर से उन्हें घृणा ही घृणा मिली। वे जहाँ कहीं गये विष के प्यालों के सिवाय कहीं अमृत का प्याला नहीं मिला। मगर जब वह जीवन की पवित्रता के मार्ग पर आये तो वन्दनीय और पूजनीय हो गये। देवताओं ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया और ब्राह्मणों ने उनकी पूजा और स्तुति की।

अर्जुन माली की जीवन-कथा क्या आप से छिपी हुई है? घोर नरहत्या करने वाला और खूँखार बना हुआ माली अर्जुन मुनि के महान् पद पर प्रतिष्ठित होता है, भगवान् महावीर उसे प्रेम से अपनाते हैं और वह जीवन की पवित्रता प्राप्त करके महान् विभूति बन जाता है। यह सब किसकी विशेषता थी? यह विशेषता जन्म की

नहीं, कर्म की ही तो थी।

सन्त जब मिलते हैं तो कई लोग उनकी जाति पूछते हैं, और कोई बात नहीं पूछते। हाँ, उसका खानदान और कुल भी पूछ लेते हैं, मगर यह सब बातें क्या साधु से पूछने की हैं? साधु अपनी पहली दुनिया को भूल जाता है। उसे स्मरण करने का अधिकार नहीं कि वह पहले क्या था, किस रूप में था, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र था। इन सब चीजों को छोड़ कर उसने नया जन्म लिया है, जब कोई मनुष्य इस जन्म में उत्पन्न होता है तो उसे अपने पिछले पुराने जन्म की जाति, खानदान और कुल आदि का स्मरण नहीं रहता। प्रकृति उसे स्मृति नहीं रहने देती और वर्त्तमान ही उसके सामने खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है तो वह भी एक नया जन्म पाता है और नयी जगह में प्रवेश करता है। और नयी जिन्दगी पाकर पुरानी जिन्दगी को भुला देता है। वह जिस महल को छोड़ कर आया है अगर उसे अपने दिमाग में से नहीं निकाल सका है और जिस कुल में से आया है उसे नहीं भुला सका है तो जैनधर्म कहता है कि उसका नया जन्म नहीं हुआ है, वह साधु नहीं बन सका है। सच्चा साधु दीक्षा लेने के बाद 'द्विजन्मा' हो जाता है, पर आज तो वह उसी पुराने जन्म के संस्कारों में उलझा हुआ है। उन्हीं संस्कारों को अपने जीवन पर लादे हुए चल रहा है और जब चल रहा है तो जीवन का महान् आदर्श, जो आना

चाहिए, नहीं आ पाता।

'अप्पाणं वोसिरामि' कह कर साधु ने पुरानी बातों को काट कर फेंक दिया है। उसके आगे महल है तो क्या और झोंपड़ी है तो क्या? अपमान होता है तो उसे क्या और सन्मान होता है तो भी उसे क्या? उसके लिए यह सब खाइयाँ पुर गई हैं और अब वह इन सब से अतीत हो चुका है। साधु ही एक मात्र उसकी जाति है। वहाँ दूसरी कोई जाति ही नहीं है। किन्तु पूछने वाले वही पुरानी बात पूछते हैं और पुराने संस्कारों की बात याद दिलाते रहते हैं, जिन्हें भुला देना चाहिए। हम तो यह चाहते हैं कि ऐसी बातें सम्पूर्ण भारत भुला दे। मगर यह तो दूर की बात है। फिलहाल तो साधु भी इन्हें नहीं भुला पा रहे हैं तो दूसरों से क्या आशा की जाय?

संत कबीर कहते हैं:—

जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥

किसी साधु की जाति मत पूछो कि ब्राह्मण है, क्षत्रिय है या क्या है? जाति पूछ कर क्या करोगे? पूछना ही है तो उसका ज्ञान पूछो, उसका आचरण पूछो और यह पूछो कि जीवन की राह पर लाकर उसने क्या बनाया है? उसमें महक पैदा हुई है या नहीं? और जीवन-फूल खिला है या नहीं? वह जीवन का फूल महक अर्पण कर रहा है या नहीं? म्यान में तलवार पड़ी है और तलवार खरीदने

वाला है तो वह तलवार का मोल करता है या म्यान का? लड़ाई तलवार से होगी या म्यान से? म्यान तो म्यान है, उसका अपने आपमें क्या मूल्य है? वह सोने की हो और उसमें काठ की तलवार हो तो उसकी क्या कीमत है?

तो कर्त्तव्य की दृष्टि से जैनधर्म की एक ही बात है कि तेरे कितने ऊँचे और अच्छे विचार हैं और तू ने जीवन की पवित्रता पाकर आचार क्या कमाया है? जिसके पास पवित्र विचार और पवित्र आचार की पूंजी है, वही भाग्यशाली है और जैनधर्म उसी को आदरणीय स्थान देता है।

हमारे यहाँ जो बारह भावनाएँ आती हैं, उनमें एक अशुचि भावना है। वह भावना निरन्तर भाने के लिए है और अपने शरीर के सम्बन्ध में चिन्तन करने के लिए है। इस भावना में अपने शरीर के अशुचि स्वरूप का विचार किया जाता है। ब्राह्मण हो या शूद्र हो, सभी को समान रूप में इस भावना के चिन्तन का विधान है। शास्त्र में कहीं यह नहीं बतलाया कि ब्राह्मण का शरीर शुचि है और उसे इस भावना की कोई आवश्यकता नहीं है और सिर्फ शूद्र के लिए ही यह भावना है! मनुष्य मात्र का शरीर एक सरीखा है। यह नहीं है कि शूद्र के शरीर में रक्त हो और ब्राह्मण के शरीर में दूध भरा हो या गंगाजल भरा हो! यह बात तो इतनी स्पष्ट है कि इसकी सचाई आँखों दिखाई देती है। इसी कारण अशुचि भावना क्या ब्राह्मण,

क्या क्षत्रिय, क्या वैश्य और क्या शूद्र सब के लिए समान रूप से बतलाई गई है। फिर भी लोगों के चित्त में यह अहंकार पैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है और दूसरे का अपवित्र है! मैं शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जायगा।

संसार भर में अगर कोई अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी चीज है तो वह शरीर ही है। दुनिया भर की अशुचिता और बुराई इस शरीर में भरी पड़ी है! यह हड्डियों का ढाँचा और मांस का लोथ चमड़ी से ढँका हुआ है और मल-मूत्र आदि घृणित चीजों का भंडार है। फिर इसमें पवित्रता कहाँ से आ गई? यह शरीर जब-जब जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसी को अपवित्र बना देता है। भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, गन्दा और दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, उसके चारों तरफ गन्दगी बिखेरता चलता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो बिखरती है। मनुष्य शहर में रहता है तो वहाँ के गली-कूचों की क्या स्थिति होती है? वहाँ इतनी गन्दगी, मलिनता और अपवित्रता भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य हवा, पानी, मकान वगैरह सभी चीजों को दूषित कर देता है और सड़ा देता है। यह सब कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है, गन्दगी बिखेरता चलता है।

तो भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर में ही देखा है। तेरे शरीर से बढ़ कर कहीं अशुचि नहीं है और उसे न देख कर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मान कर अहंकार को प्रश्रय देना महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नहीं हो सकता। हजार बार स्नान कर लिया तो क्या हुआ? एक आदमी कुल्ला करता है और सौ बार कुल्ला करता है और समझता है कि मेरा मुँह शुद्ध हो गया। उसके बाद उसी मुँह में कुल्ला भर कर दूसरे के ऊपर थूकता है तो लड़ाइयाँ शुरु हो जाती हैं और लाठियाँ बजने लगती हैं और कहा जाता है कि जूठा पानी फैंक दिया!

हजार बार मुँह साफ कर लिया तो क्या हुआ? मुँह गन्दा ही रहने वाला है। तो एक ही बात है कि शरीर स्वभाव से ही गन्दा और अपवित्र है और संसार की सारी अपवित्रता इस शरीर में भरी पड़ी है। जीवन की पवित्रता तो आपके मन में और आपकी आत्मा में हो सकती है। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते हैं। और जब तक यह बात नहीं आएगी, आप हजार बार गंगा में स्नान कर लेंगे और हजार बार सम्मेदशिखरजी की यात्रा कर आएँगे तो भी पवित्रता नहीं आएगी।

स्नान से होता क्या है? पानी का काम शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। वह मन की गन्दगी को दूर

क्या क्षत्रिय, क्या वैश्य और क्या शूद्र सब के लिए समान रूप से बतलाई गई है। फिर भी लोगों के चित्त में यह अहंकार पैठ गया है कि मेरा शरीर पवित्र है और दूसरे का अपवित्र है! मैं शूद्र को छू लूँगा तो मेरा शरीर अपवित्र हो जायगा।

संसार भर में अगर कोई अपवित्र से अपवित्र और घिनौनी चीज है तो वह शरीर ही है। दुनिया भर की अशुचिता और बुराई इस शरीर में भरी पड़ी है! यह हड्डियों का ढाँचा और मांस का लोथ चमड़ी से ढँका हुआ है और मल-मूत्र आदि घृणित चीजों का भंडार है। फिर इसमें पवित्रता कहाँ से आ गई? यह शरीर जब-जब जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसी को अपवित्र बना देता है। भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, गन्दा और दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, उसके चारों तरफ गन्दगी बिखेरता चलता है और वह गन्दगी शरीर के द्वारा ही तो बिखरती है। मनुष्य शहर में रहता है तो वहाँ के गली-कूचों की क्या स्थिति होती है? वहाँ इतनी गन्दगी, मलिनता और अपवित्रता भर जाती है कि एक वर्ग सफाई करते-करते थक जाता है। मनुष्य हवा, पानी, मकान वगैरह सभी चीजों को दूषित कर देता है और सड़ा देता है। यह सब कर्म मनुष्य ही करता है। वह जिस ओर चलता है, गन्दगी बिखेरता चलता है।

तो भगवान् महावीर ने अशुचि को अपने शरीर में ही देखा है। तेरे शरीर से बढ़ कर कहीं अशुचि नहीं है और उसे न देख कर शरीर को पवित्र मानना भूल है और सिर्फ दूसरे के शरीर को अपवित्र मान कर अहंकार को प्रश्रय देना महान् भूल है।

मनुष्य का शरीर अपवित्र है और वह कभी पवित्र नहीं हो सकता। हजार बार स्नान कर लिया तो क्या हुआ? एक आदमी कुल्ला करता है और सौ बार कुल्ला करता है और समझता है कि मेरा मुँह शुद्ध हो गया। उसके बाद उसी मुँह में कुल्ला भर कर दूसरे के ऊपर थूकता है तो लड़ाइयाँ शुरु हो जाती हैं और लाठियाँ बजने लगती हैं और कहा जाता है कि जूठा पानी फैंक दिया!

हजार बार मुँह साफ कर लिया तो क्या हुआ? मुँह गन्दा ही रहने वाला है। तो एक ही बात है कि शरीर स्वभाव से ही गन्दा और अपवित्र है और संसार की सारी अपवित्रता इस शरीर में भरी पड़ी है। जीवन की पवित्रता तो आपके मन में और आपकी आत्मा में हो सकती है। जीवन की शुचिता आप अपने आचार और विचार द्वारा पैदा कर सकते हैं। और जब तक यह बात नहीं आएगी, आप हजार बार गंगा में स्नान कर लेंगे और हजार बार सम्मेदशिखरजी की यात्रा कर आएँगे तो भी पवित्रता नहीं आएगी।

स्नान से होता क्या है? पानी का काम शरीर के ऊपर फैल कर ऊपरी गन्दगी को दूर कर देना है। वह मन की गन्दगी को दूर

नहीं कर सकता, शरीर के भीतर की गन्दगी भी उससे साफ नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जैनधर्म हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि तुम आचार-विचार को महत्त्व देते हो या जात-पाँत को महत्त्व देते हो ? अगर जात-पाँत को महत्त्व देते हो तब तो शरीर को ही महत्त्व प्राप्त होता है और शरीर सब का समान है। जैसा ब्राह्मण का है वैसा ही शूद्र का है। ब्राह्मण का शरीर अपवित्र है तो शूद्र का भी अपवित्र है और शूद्र का अशुचि है तो ब्राह्मण का भी अशुचि है।

भारत का वेदान्त दर्शन आत्माओं में कोई भेद नहीं करता। वह प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएँ न मान कर सब आत्माओं को एक इकाई के रूप में ग्रहण करता है। वह सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म का ही स्वरूप मानता है और कहता है:—

ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या ।
नेह नानास्ति किञ्चन ॥

इस संसार में परमब्रह्म ही सत्य है और उसमें कोई नानापन नहीं है। अलग-अलग जातियों की जो धारणा है वह मोक्ष का मार्ग नहीं। यह तो आसुरी मार्ग है। वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है फिर भी पुरानी वृत्तियाँ नहीं मर रही हैं। आचार्य आनन्दगिरि ने बतलाया है कि आचार्य शंकर एक बार बनारस में थे और गंगा में स्नान करके लौट रहे थे। रास्ते में चाण्डाल

और उसके साथ चार कुत्ते मिल गये । रास्ता संकड़ा था और उस
र वे सामने की ओर से चले आ रहे थे । आचार्य शंकर पवित्रता के
ाक में पड़ गए । अतः चाण्डाल की कहीं छाया न पड़ जाय, इस
िचार से वे खड़े हो गये । पर चाण्डाल भी खड़ा हो गया । आचार्य
 कुछ देर इंतजार किया और जब चाण्डाल अलग नहीं हुआ तो
हा—'अरे हटे न, रास्ता छोड़ ! तुझे दीखता नहीं कि मैं स्नान
रके आया हूँ, पवित्र होकर आया हूँ और तू रास्ता रोक कर खड़ा
ो गया है ।'

चाण्डाल ने कहा—महाराज, एक बात पूछना चाहता हूँ ।
आप हटने को कहते हैं मगर मैं हटूँ कैसे ?* मेरे पास दो चीज हैं—
एक आत्मा और दूसरा शरीर । आत्मा चेतन और शरीर जड़ है ।
तो इनमें से आप किसे हटाने को कहते हैं ? अगर आत्मा को हटाने
के लिए कहते हैं तो आपकी आत्मा और मेरी आत्मा—दोनों एक ही
है । वह परमब्रह्म के रूप में आपके अन्दर और मेरे अन्दर भी है ।
तो मैं आत्मा को कहाँ ले जाऊँ ? आत्मा व्यापक है और सारे संसार
में व्याप्त है, आप उसे हटाने को कहते तो हैं, किन्तु उसे हटाने की
बात मेरी कल्पना से बाहर है ।

*—अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्,
द्विजवर ! दूरीकर्तुं वाञ्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति ।
—मनीषा पञ्चक

तो क्या आप शरीर को हटाने के लिए कहते हैं ? शरीर पंच भूतों से बना है और जैसा मेरा है वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नहीं कि मेरा मांस काला और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर में बह रहा है वही मेरे शरीर में भी बह रहा है। सो अगर आप शरीर अलग हटाने की बात कहते हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कैसे अलग किया जाय और क्यों अलग किया जाय ?

आचार्य आनन्दगिरि कहते हैं कि जब यह बात शंकर ने सुनी तो वे आश्चर्य में पड़ गये और उन्होंने अपने कान पकड़े ! बोले- अभी तक वेदान्त की ऊँची-ऊँची बातें केवल कहने भर को थीं। संसार में एक मात्र परमब्रह्म की ही सत्ता है, यह उपदेश संसार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया, पर अपने मन का काँटा नहीं निकल सका था। मन में से ज़हर नहीं निकला था। वह आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं। आपने मेरे नेत्र खोल दिये हैं:—

चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येषा मनीषा मम ।

चाण्डाल को रास्ते से हटाने वाले आचार्य शंकर जरा-सी बात सुनते ही रास्ते पर आ गये, मगर आप कब रास्ते पर आएँगे ? आपके दिल का काँटा कब निकलेगा ?

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की कल्पनाएँ

सामाजिक हिंसा है। निश्चित समझिए कि आपके हृदय में जितनी-जितनी घृणा बढ़ती है, उतनी-उतनी हिंसा बढ़ती है। अभी-अभी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप में कितना खून बहा है? लाखों और करोड़ों आदमी इधर से उधर जाकर बर्बाद हो गये। यह सब किसका नतीजा था? मैं कहता हूँ कि यह एक मात्र घृणा का ही परिणाम था। और जब तक यह घृणा नहीं दूर होगी, छह करोड़ अछूतों से प्रेम नहीं कर सकेंगे और हिन्दू तथा मुसलमान साथ साथ नहीं बैठ सकेंगे और दूसरे पड़ौसी भी साथ नहीं बैठ सकेंगे, तब तक सामाजिक हिंसा की यह परम्परा चालू ही रहने वाली है और एक रूप में नही तो दूसरे रूप में वह सामूहिक अनर्थ उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य जाति आज टुकड़ों-टुकड़ों में बँट गई है और प्रत्येक टुकड़ा दूसरे टुकड़े के प्रति घृणा का भाव रखता है। कोई किसी के आचार-विचार को नहीं पूछता है और सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता की कल्पना करता है। इन कल्पनाओं की बदौलत ही भारत मिट्टी में मिल गया और फिर भी भारतवासियों ने कोई सबक नहीं सीख पाया।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की इज्जत करेंगे, मनुष्य का मनुष्य के रूप में आदर करना सीखेंगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा, तभी भारत में

तो क्या आप शरीर को हटाने के लिए कहते हैं ? शरीर पंच भूतों से बना है और जैसा मेरा है वैसा ही आपका भी है। ऐसा तो है नहीं कि मेरा मांस काला और आपका गोरा हो। जो रक्त आपके शरीर में वह रहा है वही मेरे शरीर में भी वह रहा है। सो अगर आप शरीर अलग हटाने की बात कहते हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कैसे अलग किया जाय और क्यों अलग किया जाय ?

आचार्य आनन्दगिरि कहते हैं कि जब यह बात शंकर ने सुनी तो वे आश्चर्य में पड़ गये और उन्होंने अपने कान पकड़े ! बोले- अभी तक वेदान्त की ऊँची-ऊँची बातें केवल कहने भर को थीं। संसार में एक मात्र परमब्रह्म की ही सत्ता है, यह उपदेश संसार को तो खूब अच्छी तरह सुनाया, पर अपने मन का काँटा नहीं निकल सका था। मन में से ज़हर नहीं निकला था। वह आज आपने निकाल दिया। अतएव आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं। आपने मेरे नेत्र खोल दिये हैं:—

चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु,
गुरुरित्येषा मनीषा मम ।

चाण्डाल को रास्ते से हटाने वाले आचार्य शंकर जरा-सी बात सुनते ही रास्ते पर आ गये, मगर आप कब रास्ते पर आएँगे ? आपके दिल का काँटा कब निकलेगा ?

इस प्रकार जातीयता के नाम पर ऊँच-नीच की कल्पनाएँ

सामाजिक हिंसा है। निश्चित समझिए कि आपके हृदय में जितनी-जितनी घृणा बढ़ती है, उतनी-उतनी हिंसा बढ़ती है। अभी-अभी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे के रूप में कितना खून बहा है? लाखों और करोड़ों आदमी इधर से उधर जाकर बर्बाद हो गये। यह सब किसका नतीजा था? मैं कहता हूँ कि यह एक मात्र घृणा का ही परिणाम था। और जब तक यह घृणा नहीं दूर होगी, छह करोड़ अछूतों से प्रेम नहीं कर सकेंगे और हिन्दू तथा मुसलमान साथ साथ नहीं बैठ सकेंगे और दूसरे पड़ौसी भी साथ नहीं बैठ सकेंगे, तब तक सामाजिक हिंसा की यह परम्परा चालू ही रहने वाली है और एक रूप में नही तो दूसरे रूप में वह सामूहिक अनर्थ उत्पन्न करती रहेगी।

मनुष्य जाति आज टुकड़ों-टुकड़ों में बँट गई है और प्रत्येक टुकड़ा दूसरे टुकड़े के प्रति घृणा का भाव रखता है। कोई किसी के आचार-विचार को नहीं पूछता है और सिर्फ जाति को ही पूछता है और उसी के आधार पर उच्चता और नीचता की कल्पना करता है। इन कल्पनाओं की बदौलत ही भारत मिट्टी में मिल गया और फिर भी भारतवासियों ने कोई सबक नहीं सीख पाया।

जिस दिन भारतवासी मनुष्य के आचार-विचार की इज्जत करेंगे, मनुष्य का मनुष्य के रूप में आदर करना सीखेंगे और प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को भाई की निगाह से देखेगा, तभी भारत में

सामाजिक अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी और उस अहिंसा के फलस्वरूप सुख और शान्ति का संचार होगा।

भार्गवजी के वक्तव्य का सार

कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए आज श्रीमुकुटबिहारीलाल भार्गव, एम. ए., एल-एल. बी., एम. एल. ए. आदि अनेक प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। कविश्री का प्रवचन समाप्त होने पर भार्गवजी ने प्रवचन की मुक्त कंठ से सराहना और अनुमोदन करते हुए जो वक्तव्य दिया था, उसका सार इस प्रकार है:—

मैं आज दूसरी बार कविश्री का प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित हो सका हूँ। पहली बार आया था तो एक खास उद्देश्य लेकर आया था और जानता था कि मुझे कुछ न कुछ कहना है। किन्तु आज इस विचार से नहीं आया था। आज तो एक जिज्ञासु की हैसियत से, उपाध्यायश्री के प्रभावशाली और ओजस्वी वचनामृत का पान करने के लिए ही उपस्थित हुआ था। इसलिए मैं कोई तैयारी करके नहीं आया हूँ।

आप सब भाइयों और बहिनों को मैं भाग्यशाली मानता हूँ जिन्हें प्रतिदिन आजकल विद्वान् सन्त महानुभाव के ओजस्वी भाषण

से लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। मैं कितना अभागा हूँ ऐसा अवसर मुझे नहीं मिलता। संसार के सैकड़ों झंझटों में मैं फँसा हुआ हूँ और इच्छा रखते हुए भी चन्द मिनिट ही यह लाभ उठा पाया हूँ।

आज का प्रवचन सुन कर मैं मुग्ध हो गया हूँ। कैसी मनोरम शैली है! कितना गहन चिन्तन और मनन है! कितनी उदात्त भावना है और कितने ऊँचे विचार हैं! इस प्रवचन में जो उपदेश आये हैं, उन उपदेशों की लड़ियाँ मेरे हृदय में अब भी चमक रही हैं और उन पर मैं महीनों विचार करूँ और उनसे लाभ उठाने की कोशिश करूँ तो ऐसा कर सकता हूँ। ऐसे भाषण न केवल व्यक्ति के जीवन को ही, वरन् समाज और राष्ट्र को भी ऊँचा उठा सकते हैं। यह विचार और विचार देने वाले विचारक हमारे राष्ट्र की मूल्यवान् निधि हैं। मेरी धारणा है कि इस प्रकार से प्रवचन सुनने वाले अगर चाहें तो उनका जीवन चन्द दिनों में ही त्याग और बलिदान की सीमा प्राप्त कर सकता है।

मैंने आज के प्रवचन से जो कुछ पाया है, उसके लिए मैं आचार्यश्री के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ।......................

शोषण भी हिंसा है

आनन्द श्रावक अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक श्रावक ही रहे, साधु नहीं बने, फिर भी शास्त्र में विस्तार के साथ उनके जीवन का वर्णन किया गया है। भगवान् महावीर के चरणों में पहुँच कर आनन्द ने जो साधना की वह यद्यपि श्रावक-जीवन की साधना थी, फिर भी वह इतनी महान् थी कि शास्त्र में उसका वर्णन करना वांछ-नीय समझा गया और वर्णन किया गया। इसका कारण यही है कि गृहस्थ-अवस्था में रह कर भी आनन्द ने अपने कर्त्तव्य को शानदार ढंग से पूर्ण किया। उनकी अहिंसा कैसी थी? उनका सत्य कैसा था? और उनके अपने जीवन की पवित्रता कैसी थी? दूसरों के साथ उनके व्यवहार के तरीके कैसे थे? यही जीवन में सुन्दर बात है और इसी के लिए शास्त्र में उनकी जीवन-कथा का उल्लेख किया गया है। इसीलिए हम आज भी उनका सत्कार और सन्मान करते हैं।

इस विशाल भूमण्डल पर अतीत काल में न जाने कितने चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार हो गये हैं, जो जमीन को कँपाते हुए आये, जिन्होंने झौंपड़ियों से गगनचुम्बी प्रासाद खड़े किये और हजारों-लाखों को अपने चरणों में झुकाया, किन्तु यदि उन्होंने सत्कर्म नहीं किये और प्रजा के हित की ओर ध्यान नहीं दिया तो उनका कोई उल्लेख, कोई गलतियाँ थीं तो उनका अवश्य वर्णन किया गया है कि इतने समृद्धिशाली होते हुए भी और इतनी अनुकूलताएँ प्राप्त होते हुए भी उन्होंने अपनी समृद्धि का और अनुकूलताओं को अच्छे ढंग से उपयोग नहीं किया और वे इस कारण नीचे गिर गये।

रामायण जैनों में भी और वैष्णव धर्म वालों में भी पढ़ी जाती है। उस समय दो जबर्दस्त ताकतें सामने आईं। एक राम के रूप में और दूसरी रावण के रूप में। रावण दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे को हिलाता हुआ—कंपित करता हुआ आता है और उधर राम भी एक बड़ी ताकत के साथ खड़े होते हैं। रावण जैसे राजा बन कर सामने आता है, वैसे ही राम भी राजा के रूप में सामने आते हैं। दोनों ने तीन खण्ड तक अपना-अपना साम्राज्य स्थापित किया। दोनों में इतनी समानता होने पर भी राम के गुण गाये जाते हैं और रावण की भरपेट बुराई की जाती है। इसका मूल कारण क्या है?

रावण ने इतनी बड़ी शक्ति पाई और वैभव पाया किन्तु वह

उसका सदाचार के रूप में इस्तेमाल नहीं कर सका। वह दुनिया के कल्याण का कोई काम नहीं कर सका। वासना की पूर्त्ति में ही वह लगा रहा। यह ठीक है कि इन्सान जब तक इन्सान है, उसकी वासना प्रायः मरती नहीं हैं। भूख लगने पर भोजन करना पड़ता है और प्यास लगने पर पानी भी पीना पड़ता है। मगर रावण की वासनाओं की कोई मर्यादा नहीं थी और इसी कारण सोलह हजार रानियाँ होने पर भी वह सीता को उड़ाने के लिए दौड़ता है।

उधर राम ने लड़ाई लड़ी सही, मगर किसी गरीब को सताने के लिए नहीं लड़ी। वहाँ तलवार चमकती रही किन्तु दीन-दुखिया लोगों के कल्याण के लिए और अन्याय एवं अत्याचार के प्रतिकार के लिए। राम की तलवार किसी सती स्त्री पर बलात्कार करने के लिए नहीं चमकी।

यों देखा जाय तो पैसे वाले तो राम भी थे और वे भी सोने के सिंहासन पर बैठे थे और शानदार महलों में रहे थे। और भोग-विलास की दृष्टि से राम को रावण के समान ही भोग-विलास मिले थे। फिर भी राम का आदर और सम्मान क्यों किया जाता है? इसीलिए कि उन्होंने इतनी बड़ी ऊँचाई को और राजसिंहासन को पाने के बाद भी जहाँ अपनी वासना की पूर्त्ति की वहाँ साथ ही दूसरों के हित को भी देखा। उन्होंने दूसरों की जिंदगियों को भी देखा और यह भी देखा कि मैं राजा बना हूँ तो केवल अपने भोग-विलास के लिए,

पनी वासनाओं की पूर्त्ति के लिए ही राजा नहीं बना हूँ, किन्तु प्रजा कल्याण के लिए भी बना हूँ। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपने र्तव्य को अदा किया और इसी कारण आज भी संसार उनका ुणगान करता है।

जैनधर्म किसी भी प्रकार के वर्गवाद को प्रश्रय नहीं देता। जाति-पाँति के आधार पर, सम्पत्ति के आधार पर या किसी भी अन्य स्थूल आधार पर खड़ी हुई श्रेणियों का वह पक्ष नहीं लेता। जैनधर्म न गरीब या अमीर की पूजा करता है और न अमीर या गरीब की निन्दा करता है। वह तो अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है और प्रत्येक को उसी दृष्टिकोण से देखता और परखता है। वह उस दृष्टिकोण के नाते उस धनवान् की भी प्रशंसा करता है जो धन को पाता है, या पाने के लिए पुरुषार्थ और प्रयत्न करता है, किन्तु धन प्राप्त करते समय भी न्याय और नीति का ध्यान रखता है और प्राप्त करने के बाद भी उसे न्याय-नीति से खर्च करता है। जो इस धन को प्राप्त कर के खुद ही नहीं डकार जाता है किन्तु दूसरों की भलाई में भी लगाता है।

और यदि एक गरीब है और उसके पास पैसा नहीं है किन्तु सुन्दर जीवन है और शानदार ढंग से गृहस्थ की जिन्दगी चला रहा है; वह किसी कारण पैसा इकट्ठा नहीं कर सका किन्तु न्याय-नीति है उसके साथ में, तो हम उसकी भी प्रशंसा करेंगे। [illegible]

लकड़हारे हुए, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमें अच्छाइयाँ थीं तो हमने भी गुणगान किये हैं।

अभिप्राय यह है कि धन होने के कारण कोई प्रशंसा का पात्र नहीं बन जाता और न धन होने के कारण निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशंसा या अप्रशंसा के योग्य नहीं हो जाता। किन्तु इधर गुण हैं तो उधर प्रशंसा है और धनवान् या चक्रवर्त्ती राजा होने पर भी यदि गुण नहीं हैं तो उसकी प्रशंसा नहीं की गई है। एक तरफ चक्रवर्त्ती भरत की प्रशंसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पड़े हैं तो दूसरी तरफ अर्धचक्रवर्त्ती रावण और चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त जैसे भी हैं जिन्हें आदर्श की दृष्टि से नहीं देखा गया। और उनके लिए यहाँ तक कहा गया है कि वे नरक में गये हैं। उनमें प्रशंसा के योग्य गुण नहीं आये, न्याय-नीति नहीं आई और वे प्रजा के हित के कार्य नहीं कर सके। चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त के सामने एक आदर्श रख दिया कि तुम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते तो कम से कम आर्य कर्म तो करो, प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा की गाढ़ी कमाई से तुम महल खड़ा कर रहे हो उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करोः—

जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेह रायं।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी, तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

—उत्तराध्ययन १३, ३२

मुनि कहते हैं, अगर इतना कर लोगे तो भी अगले जीवन में देवता बन जाओगे ! नरक और निगोद में नहीं भटकते फिरोगे। इससे तुम्हारी जिन्दगी यहाँ और वहाँ भी आराम से कटेगी।

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। हम चक्रवर्ती होने के नाते उसकी तारीफ या बुराई नहीं करते हैं। हम तो गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करते हैं। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनिया भर का गुण्डापन करता है, बुराइयों से काम लेता है, अपनी गरीबी को न आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है और न परिस्थितियों से न्यायपूर्वक संघर्ष करता है, तो हम उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे वरन् उसके अन्याय और गुण्डापन की निन्दा ही करेंगे।

जैनधर्म का ऐसा ऊँचा सिद्धान्त है। वह एक ही सन्देश लेकर चला है कि तुमने संसार को क्या दिया है और संसार से क्या लिया है ? तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है या नहीं ? इंसान होकर इंसान का-सा उठना, बैठना, बोलना और चलना सीखा है या नहीं ? अगर सीखा है और तुम गरीब हो तो हम तुम्हारा सत्कार और सन्मान करते हैं। और यदि जिन्दगी में गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नहीं सीखा और इन्सान के साथ इन्सान का-सा बोलना-चलना और उठना-बैठना नहीं सीखा तो हम सम्राट् और गरीब दोनों से कहेंगे कि तुम्हारा जीवन

लकड़हारे हुए, जिनकी जिन्दगी का निर्वाह होना मुश्किल था, किन्तु उनमें अच्छाइयाँ थीं तो हमने भी गुणगान किये हैं।

अभिप्राय यह है कि धन होने के कारण कोई प्रशंसा का पात्र नहीं बन जाता और न धन होने के कारण निन्दा का ही पात्र बनता है। इसी प्रकार निर्धन होने से ही कोई प्रशंसा या अप्रशंसा के योग्य नहीं हो जाता। किन्तु इधर गुण हैं तो उधर प्रशंसा है और धनवान् या चक्रवर्त्ती राजा होने पर भी यदि गुण नहीं हैं तो उसकी प्रशंसा नहीं की गई है। एक तरफ चक्रवर्त्ती भरत की प्रशंसा से ग्रन्थ पर ग्रन्थ भरे पड़े हैं तो दूसरी तरफ अर्धचक्रवर्त्ती रावण और चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त जैसे भी हैं जिन्हें आदर्श की दृष्टि से नहीं देखा गया। और उनके लिए यहाँ तक कहा गया है कि वे नरक में गये हैं। उनमें प्रशंसा के योग्य गुण नहीं आये, न्याय-नीति नहीं आई और वे प्रजा के हित के कार्य नहीं कर सके। चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त के सामने एक आदर्श रख दिया कि तुम ज्यादा कुछ नहीं कर सकते तो कम से कम आर्य कर्म तो करो, प्रजा के ऊपर तो दया करो। जिस प्रजा की गाढ़ी कमाई से तुम महल खड़ा कर रहे हो उस प्रजा पर तो अनुकम्पा करो:—

> जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो, अज्जाइं कम्माइं करेह रायं।
> धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी, तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥
>
> —उत्तराध्ययन १३, ३२

मुनि कहते हैं, अगर इतना कर लोगे तो भी अगले जीवन में देवता बन जाओगे ! नरक और निगोद में नहीं भटकते फिरोगे। इससे तुम्हारी जिन्दगी यहाँ और वहाँ भी आराम से कटेगी।

एक राजा अपनी प्रजा के लिए कल्याण-बुद्धि से काम करता है तो वह यहाँ और आगे भी परम अभ्युदय प्राप्त करता है। हम चक्रवर्ती होने के नाते उसकी तारीफ या बुराई नहीं करते हैं। हम तो गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करते हैं। यदि कोई गरीब चोरी करता है, दुनिया भर का गुण्डापन करता है, बुराइयों से काम लेता है, अपनी गरीबी को न आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है और न परिस्थितियों से न्यायपूर्वक संघर्ष करता है, तो हम उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे वरन् उसके अन्याय और गुण्डापन की निन्दा ही करेंगे।

जैनधर्म का ऐसा ऊँचा सिद्धान्त है। वह एक ही सन्देश लेकर चला है कि तुमने संसार को क्या दिया है और संसार से क्या लिया है ? तुमने मनुष्य के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया है या नहीं ? इंसान होकर इंसान का-सा उठना, बैठना, बोलना और चलना सीखा है या नहीं ? अगर सीखा है और तुम गरीब हो तो हम तुम्हारा सत्कार और सन्मान करते हैं। और यदि जिन्दगी में गरीब या अमीर रहते हुए भी इन्सानियत का पाठ नहीं सीखा और इन्सान के साथ इन्सान का-सा बोलना-चलना और उठना-बैठना नहीं सीखा तो हम सम्राट् और गरीब दोनों से कहेंगे कि तुम्हारा जीवन

गलत जीवन है और तुम हमारी प्रशंसा प्राप्त नहीं कर सकते ! जैन-धर्म तुम्हारे लिए प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं कह सकता । भगवान् महावीर ने साधुओं से कहा है:—

जहा पुण्णस्य कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

—आचारांग, प्र० श्रु०

यदि तुमको एक भाग्यशाली सम्राट् सेठ या साहूकार मिल जाय तो तुम दृढ़तापूर्वक, अपने मन में किसी प्रकार का दबाव न रखते हुए, स्पष्ट भाव से जो उपदेश दे सकते हो वह दो और ऐसा ही उपदेश किसी गरीब को भी दो । और जिस प्रेम एवं स्नेह से किसी गरीब को उपदेश देते हो, वही प्रेम और स्नेह चक्रवर्ती और सम्राट् के लिए भी रक्खो । अपने अन्तःकरण में दोनों के लिए प्रेम और स्नेह का सन्देश लेकर चलो ।

हमें समाज से नहीं लड़ना है किन्तु समाज के अन्तस्तल में बैठे हुए और समाज को सही राह से बरगला कर गलत राह पर ले जाने वाले गलत विचारों से लड़ना है ।

भगवान् महावीर के युग में ब्राह्मण जाति की समस्या कितनी उलझी हुई थी ? जगह-जगह याज्ञिक हिंसा हो रही थी, संहार का नंगा नाच हो रहा था और खून की नदियाँ बह रही थीं । परन्तु भगवान् महावीर ने ब्राह्मण जाति का विरोध नहीं किया, वरन् उस

समय फैली हुई बुराइयों और की जाने वाली गलतियों को बताने की कोशिश की। उनके पास राजा श्रेणिक या कोणिक आये तो क्या और लकड़हारे आये तो क्या, उन्होंने समान भाव से देश में फैली हुई बुराइयों का विरोध जोरों से चालू रक्खा। इसी प्रकार प्रशंसा की तो राजा की भी की और गरीब की भी की, मगर किसी के राजापन या गरीबपन की नहीं, उनकी जीवन में रही हुई अच्छाइयों की प्रशंसा की।

हमारे जीवन की जो भूमिका है वह तो इतनी ऊँची और विराट है, किन्तु आज हम इतने नीचे आ गये हैं कि हम उसको अच्छी तरह छू भी नहीं सकते हैं और स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं। हमारा कद तो छोटा हो गया है और सिद्धान्त का कद ऊँचा है। जैसे छोटे कद का बौना आदमी किसी लम्बे कद वाले के पास खड़ा है और वह उसके कंधे को नहीं छू पाता है, उसी प्रकार हम अहिंसा और सत्य को नहीं छू सकते हैं। अतएव मेरा कहना यह है कि आपके विचारों का जो कद छोटा हो गया है उसे ऊँचा बनाने की आवश्यकता है। शरीर का कद छोटा है या बड़ा, इससे कोई प्रयोजन नहीं। भगवान् महावीर से पूछा गया कि किस कद वाले को मुक्ति प्राप्त होगी? तो उन्होंने पाँच सौ धनुष के कद वाले को भी और बौने को भी मुक्ति होने का विधान कर दिया। तो भगवान् ने शरीर के कद को नहीं गिना है पर विचारों के कद को जरूरी और अनिवार्य

माना है। कोई साधक अगर शरीर से बौना है किन्तु उसके विचारों का कद ऊँचा हो गया है, ऊँचे उठते-उठते तेरहवें और फिर चौदहवें गुणस्थान तक पहुँच गया है तो उसे मोक्ष अवश्य मिलेगा। इसके विपरीत पाँच सौ धनुष का शरीर का कद होने पर भी अगर किसी व्यक्ति के विचारों का कद छोटा है तो उसे मोक्ष नहीं मिलने का।

हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि शास्त्रों की जो अहिंसा है, दया है, उसका कद बहुत ऊँचा है और आज कल की हमारी अहिंसा और दया का अर्थात् हम जिस रूप में आज अहिंसा या दया का व्यवहार कर रहे हैं और जिस रूप में उसे समझ रहे हैं उसका कद बहुत छोटा है। किन्तु हमारे राष्ट्र और समाज के विचारों का कद जब शास्त्रीय अहिंसा के कद की उँचाई पर पहुँचेगा तभी राष्ट्र और समाज का वास्तविक कल्याण होगा।

आज सारे संसार में संघर्ष चल रहा है। एक इन्सान है तो उसका भी मन अस्तव्यस्त है और यदि परिवार में दस-बीस आदमी हैं तो वे भी बेचैन हैं। सारे देश में, समाज में और छोटी या बड़ी प्रजा में चारों ओर संघर्ष है। व्यक्ति-व्यक्ति के मन में आग लग रही है और सब बीमार बन गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र बीमारी का अनुभव कर रहा है। प्रश्न यह है कि इस आग और बीमारी का मूल कारण क्या है? इन्सान के ऊपर जो दुःख

और संकट आ पड़ा है, वह आया कहाँ से है ? जैनधर्म निर्णय करता है कि प्रकृति की तरफ से यह दुःख नहीं आ रहे हैं। प्रकृति की ओर से आने वाले दुःख कादाचित्क और अल्प हैं। कभी-कभी भूकम्प हो जाता है तो मनुष्य गड़बड़ा जाता है, वर्षा ज्यादा हो जाती है या सूखा पड़ जाता है तो भी मनुष्य गड़बड़ में पड़ जाता है, परन्तु यह गड़बड़ाहट मामूली है। प्रतिदिन भूकम्प की दुर्घटनाएँ नहीं होती हैं और ऐसी दुर्घटनाओं के समय पर भी यदि इन्सान इन्सान का दिल लेकर इन्सान के पास पहुँच जाते हैं तो प्रकृतिजनित दुःख भी कम हो जाता है। इन्सान के ऊपर जंगली जानवरों के द्वारा भी दुःख आ पड़ते हैं। कभी लकड़बाघ बच्चे को उठा कर ले गया या भेड़िया भेड़ को ले गया। परन्तु आजकल यह सारे उपद्रव भी जो जंगली जानवरों द्वारा होते रहे हैं, प्रायः नहीं हो रहे हैं, क्योंकि नगर बस गये हैं और व्यवस्था ठीक-ठीक चल रही है और जंगली जानवर जंगलों में अपना मुँह छिपाये पड़े हैं। फिर भी आज मनुष्य दुःखी [illegible] पीड़ित क्यों हो रहा है ?

मनुष्य-समाज के दुखों का प्रधान कारण मनुष्य ही है। आज मनुष्यसमाज में ही लकड़बाघ पैदा हो गये हैं। चारों ओर भेड़िये ही भेड़िये नजर आते हैं। उनका शरीर तो मनुष्य का है, मगर दिल मनुष्य का नहीं, भेड़िया का है। मनुष्य में मनुष्योचित भावना [illegible] रही है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य के भीतर जो [illegible]

लोभ और वासनाएँ हैं, वे गृहस्थजीवन को भी बिगाड़ रही हैं, साधु समाज को भी बिगाड़ रही हैं और समाज एवं राष्ट्र को भी बिगाड़ रही हैं। मनुष्य को मनुष्यकृत दुःख ही प्रायः सता रहे हैं।

आप जब कभी दस-पाँच आदमी बैठ कर आपस में बातें करते हैं और कभी किसी से उसके दुःख की बात पूछते हैं; तो आपको क्या मालूम होता है ? अपने विचारों की तराजू पर तोल कर देखिए कि प्रकृतिजन्य और हिंसक पशुओं द्वारा होने वाले दुःख उनमें से कितने हैं ? और मनुष्यों द्वारा पैदा किये हुए दुःख कितने हैं ? समझते देर नहीं लगेगी कि मनुष्य ही मनुष्य पर अधिकांश विपत्तियाँ लादता है और दुःख ढाहता है। कोई कहता है अमुक मनुष्य ने मेरे साथ विश्वासघात किया है ! एक बहिन कहती है कि मेरे प्रति सास का व्यवहार अच्छा नहीं है और सास कहती है कि बहू का बरताव अच्छा नहीं है। इसी प्रकार पिता, पुत्र के सम्बन्ध में और पुत्र, पिता के सम्बन्ध में शिकायत करता है और भाई-भाई के व्यवहार का रोना रोता है। इस प्रकार सौ आदमियों से बातें करने के बाद यही मालूम पड़ेगा कि आदमी की आदमी से जितनी शिकायत हैं उतनी कुदरत से नहीं है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो व्यवहार है वह सन्तोषजनक नहीं है, शान्तिकारक नहीं है और सुखप्रद नहीं है, बल्कि असन्तोष, अशान्ति और दुःख पैदा करने वाला है। राम को

चौदह वर्ष का वनवास क्यों भोगना पड़ा ? मंथरा के द्वारा कैकेयी के विचार बदल दिये गये। कैकेयी की भावना खराब हो गई, गलत ढंग पैदा हुआ और तभी रामायण लिखने की आवश्यकता हुई। सारी कहानी आदमी के द्वारा खड़ी की गई और आदमी के द्वारा बनाई गई। राम वन में जाकर रहे तो वहाँ रावण सीता को उठा कर ले गया। इस प्रकार आदमी ने आदमी को चैन से नहीं बैठने दिया। और जब राम रावण को जीत कर वापिस अयोध्या लौटे तो उन्होंने सीता को वनवास दे दिया ! यह सब मनुष्य का मनुष्य को दुःख देना ही तो है !

कोई कुछ भी कहता हो, मैं कहता हूँ कि राम ने सीता का त्याग करके न्याय नहीं, अन्याय किया। हाँ, यदि राम स्वयं भी सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्य उचित कहा जा सकता था, मगर उन्हें तो सीता के सतीत्व पर और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी उन्होंने अपनी गर्भवती पत्नी को भयानक जंगल में छोड़ दिया ! जो राम प्रभावशाली रावण के सामने नहीं झुके, वे एक धोबी तम्बोली के सामने झुक कर इतिहास की बहुत बड़ी भूल कर बैठे ! उन्हें राजा का आदर्श उपस्थित करना ही था तो वह स्वयं सिंहासन छोड़ कर अलग हो जाते ! मगर मुझे लगता है कि इस मामले में वे आदर्श राजा का उदाहरण भी उपस्थित नहीं कर सके। आदर्श राजा अभियुक्त को अपनी सफाई देने का अवसर देता है,

मगर राम ने सीता को ऐसा अवसर नहीं दिया, बल्कि सीता को अभियोग का पता ही नहीं चलने दिया और जब पता लगा तो उससे पहले उसे दण्ड दे दिया गया था।

सीता पर यह दुःख कहाँ से आ पड़ा? राम ने ही तो उस पर यह दुःख लादा। इस प्रकार आदमी ने ही आदमी पर दुःख लाद दिया। पति ने ही पत्नी को मुसीबत की आग में झोंक दिया! सीता को बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से, सैर कराने के बहाने लक्ष्मण वन में ले जाते हैं। वन में पहुँचने पर सीता के परित्याग का जब अवसर आता है तो लक्ष्मण के धैर्य का बाँध टूट जाता है—वनपशुओं की वेदनामय और अश्रुपूर्ण सहानुभूति पाकर! आज तक लक्ष्मण रोया नहीं। संकट में, विषमता में, कभी उसने आँसू नहीं बहाया। पर आज वही लक्ष्मण क्यों रो पड़ा? और सीता के पूछने पर जब उसने रहस्य खोला तो सीता भी रो पड़ी। सारा वन रुदन करने लगा, पशु और पक्षी भी रोने लगे। उस समय लक्ष्मण ने कहा था:—

> एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य,
> हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति।
> नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं,
> तिर्यग्गता वरममी न परं मनुष्याः॥
>
> —कुन्दमाला

अर्थात्—देखो इन हिरनों को! हरी-हरी दूब खाना छोड़

कर यह रो रहे हैं ! और यह हंस शोक के मारे कैसा करुणाजनक रुदन कर रहे हैं ! सीता की मुसीबत देख कर मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया है। सम्पूर्ण प्रकृति शोक से विह्वल हो रही है। हाय, हम मनुष्यों से तो यह पशु-पक्षी ही अच्छे हैं। कहाँ हमारी निष्ठुरता और कहाँ इनकी दयालुता और कोमलता !

मनुष्य का मनुष्य के प्रति, यहाँ तक कि पति का पत्नी के प्रति और पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, जो व्यवहार देखा जाता है, उसे देखते हुए दिङ्नाग अगर मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं को श्रेष्ठ और पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों को निकृष्ट कहते हैं तो क्या आश्चर्य है ? पशु कम से कम एक मर्यादा में तो रहते हैं कि वे अपनी जाति के पशु पर अत्याचार नहीं करते। सिंह कितना ही क्रूर स्वभाव का प्राणी क्यों न हो, पर वह भी अपने सजातीय सिंह को तो नहीं खाता। भेड़िया भेड़िया को तो नहीं मारता। पर क्या मनुष्य इस मर्यादा को भी स्वीकार करता है ?

दूसरे, पशु जब पशु पर आक्रमण करता है तो वह ढोंग नहीं करता, सीधा आक्रमण कर देता है। मनुष्य, मनुष्य को धोखा देता है, भुलावे में डालता है, विश्वासघात करता है और पीठ में छुरा भोंकता है।

सच पूछो तो मनुष्य ही मनुष्य के लिए सब से ज्यादा भयंकर है। मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है उतना और किसी से नहीं है।

महाभारत का पारायण कर जाइए। आपको उसमें क्या मिलेगा? यही कि एक के हृदय में लोभ उत्पन्न होता है, तृष्णा जागती है और उसी का परिणाम महाभारत आता है, जिसने सारे भारत को वीरान बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या रामायण काल में, क्या महाभारत काल में और क्या आज मनुष्य ही मनुष्य पर दुःखों और मुसीबतों का पहाड़ लादता है। मनुष्य ही मनुष्य के सामने राक्षस और दैत्य बन कर आता है और उसका शोषण करता है।

कुछ अङ्गरेज एक अजायबघर देखने गये। वहाँ उन्होंने शेरों और भेड़ियों को गरजते देखा। वे आपस में कहने लगे—इन्होंने न जाने कितनी शताब्दियाँ गुजार दीं किन्तु ये हैवान के हैवान ही रहे। इन्होंने अपनी पुरानी आदतें ही रख छोड़ी हैं। इनका कैसे विकास होगा? इस प्रकार शेरों और भेड़ियों की आलोचना करते-करते ज्यों ही वे बाहर आते हैं तो देखते हैं कि जेब काट ली गई है। जिसकी जेब काट ली गई थी, वह कहने लगे—हम शेर और भेड़िया की आलोचना करते-करते नहीं अघाते मगर उन्होंने जेब काटना तो नहीं सीखा। किन्तु विकासप्राप्त आदमी ने तो आदमी की जेब काटने की कला भी सीख ली है।

अङ्गरेज के उक्त कथन में भले ही कुछ व्यंग हो किन्तु विचार करने से पता चलेगा कि वह झूठ नहीं है। इन्सान ही इन्सान की

जेब काटने को तैयार होता है और इन्सान ही इन्सान का शोषण करता है, फिर भले ही वह व्यापार-धन्धे के रूप में हो या किसी और रूप में हो।

कल रात्रि के समय ब्याज के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा था कि ब्याज का धन्धा आर्य-धन्धा है या अनार्य-धंधा है? और सामाजिक दृष्टि से उसमें औचित्य है या नहीं? अगर औचित्य है तो किस हद तक औचित्य है? इस सम्बन्ध में मैंने कहा कि मैं क्या निर्णय दूँ? और शास्त्रों के पन्ने पलटोगे तो भी क्या निर्णय मिलने वाला है? आपके पास आपका हृदय ही महाशास्त्र है। यह शास्त्र इतना बड़ा है कि सारे के सारे शास्त्र उसी में समा जाते हैं। हमारे समस्त शास्त्र भ० महावीर के हृदय से आये हैं। हृदय अनुपम विचार-रत्नों का विराट सागर है। हृदय के शुद्ध विचार-रत्न ही शास्त्र बन कर चमकते हैं।

जैनधर्म विवेक को प्रधान और सर्वोपरि स्वीकार करता है। संसार में जो भी धन्धे चल रहे हैं और जिन्हें आप आर्य-धन्धा मानते हैं, उनमें भी विवेक की आवश्यकता है। मगर हम धर्म की आत्मा अर्थात् विवेक की ओर ध्यान नहीं देते और उसके बाह्य रूप को पकड़ कर उलझते हैं। अमुक ढंग का तिलक लगाना धर्म है और अमुक तरह का तिलक लगाना अधर्म है, चोटी कटवा लेना धर्म है और न कटवाना अधर्म है। एक कनफड़ा साधु मिला तो उसने कहा—

कान फड़वाए तो धर्म है और नहीं फड़वाए तो धर्म नहीं है। मतलब यह है कि हमारे यहाँ आम तौर पर यह धारणाएँ फैली हुई हैं कि अमुक क्रिया अमुक ढंग से की जाय तो ही धर्म है, नहीं तो धर्म नहीं है। इसी प्रकार अमुक ढंग के वस्त्र पहने तो धर्म, नहीं तो धर्म नहीं। मगर जैनधर्म इन सब से ऊपर उठ कर कहता है कि विवेक में ही धर्म है। श्रीमद् आचाराङ्गसूत्र में कहा है—

विवेगे धम्ममाहिए।

जैनधर्म में कहने-सुनने की हिंसा से ताल्लुक नहीं है, बोल-चाल के सत्य और असत्य से भी ताल्लुक नहीं है, किन्तु विवेक के साथ सीधा ताल्लुक है। अहिंसा का नाटक तो खेलें किन्तु उसमें अगर विवेक नहीं है तो वह अहिंसा नहीं है और यदि उसमें अविवेक है तो वह हिंसा बन जायगा, अधर्म बन जायगा। किसी ने साधुपन ले लिया या श्रावकपन ले लिया और विवेक नहीं रक्खा तो क्या वह धर्म हो गया? जैनधर्म के अनुसार तो जितने अंशों में विवेक है उतने ही अंशों में धर्म है और जिस अंश में अविवेक है उस अंश में अधर्म है। जैनधर्म छापा या तिलक वगैरह में धर्म-अधर्म नहीं मानता। यहाँ एक ही तराजू और एक ही काँटा है और वह निराला काँटा है विवेक के मार्ग का।

मैं पूछता हूँ, रुपया क्या है? यह तो बोझ की तरह है। एक रुपया लीजिए, उसे तिजोरी में बन्द कर दीजिए और कई वर्षों

अन्याय के मार्ग पर न चले, न लगे। पर कठिनाई यही है कि इस बात का ध्यान नहीं रक्खा जाता।

आपके पास एक साहूकार आता है और कुछ रुपया चाहता है तो व्याज की दर कम हो जाती है। किन्तु जब एक साधारण आदमी आता है, जिसको रुपये की अनिवार्य आवश्यकता है, जो पैसे के लिए छटपटा रहा है और यहाँ तक कि पैसे के बिना उसका परिवार भूखा मर रहा है या उसने व्यापार किया है और उसमें जरूरत पड़ गई है और नहीं मिलने पर सारा का सारा परिवार बर्बाद हो सकता है और उसकी आबरू को धक्का लग सकता है, और यदि रुपया मिल जाता है तो अपनी और अपने परिवार की जिन्दगी चला सकता है और अपनी इज्जत कायम रख सकता है, तो आपकी तरफ से व्याज की दर बढ़ जाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हाथी पर बोझा कम लादा जाता है और खरगोश पर ज्यादा से ज्यादा लादने की कोशिश की जाती है। इस प्रवृत्ति को आप या कोई भी विवेकवान् व्यक्ति क्या न्यायसंगत कह सकता है?

जैनधर्म एक बड़ा ही सुन्दर धर्म है और अनेकान्त की तराजू लेकर चलता है। इसी तराजू पर हमें व्याज के धंधे को तोलना है।

इस प्रसंग पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि समाज की गलतियों के कारण भी कई चीजें बुराई बन गई हैं। श्रीमंत की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना व्याज लेना और एक बार रुपया देकर

फिर शोषण करना चालू रखना ब्याज के धंधे की बुराइयाँ हैं। यह बुराइयाँ आईं और जब बहुत ज्यादा बढ़ गईं तो सरकार को ब्याज के धन्धे पर अंकुश लगाने की आवश्यकता महसूस हुई और उसने अनेक प्रकार के अंकुश लगाये। साहूकार एक बार रुपया दे देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो, बनी रहती है और ब्याज ही ब्याज में वर्षों तक कर्जदार फँसा रहता है। जब तक दूध चूसा जाता है तब तक तो किसी हद तक ठीक है किन्तु गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना कैसे ठीक कहा जा सकता है?

गाय पाली जाती है और उसे भूसा खिलाया जाता है। तो यह ठीक है कि कोई भी गोपालक बदले में गोबर ही लेकर सन्तोष नहीं मानता। वह गाय का दूध लेना चाहता है। तो जहाँ तक गाय का दूध लेने का सवाल है, गोपालक का हक माना जा सकता है। मगर गाय को दुहते-दुहते जब दूध न रहे तो उसका रक्त लेना उचित नहीं है। ऐसा करने में न आर्यत्व है, न इंसानियत है।

आपने गाय की सेवा की है, उसे खिलाया-पिलाया है, रहने को जगह दी है और बीमार हुई तो उसकी सेवा की है और उसका सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। और जब दुहने का प्रश्न आता है तो सारा का सारा दूध नहीं दुह लेते किन्तु उसके बच्चे के लिए भी छोड़ देते हैं। यही वृत्ति ब्याज के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। आप जिसे रुपया दें, तो आप अपने हिस्से का दूध उससे

ले लें और उसके परिवार को भी कुछ बचने दें। यहाँ तक तो ब्याज का धन्धा अक्षम्य नहीं समझा जाता, किन्तु यदि उसके परिवार के लिए आप एक घूँट भी नहीं बचने देते तो वह अक्षम्य हो जाता है।

मैंने सुना है, भारत के कुछ प्रान्तों में तो नौ रुपया सैकड़ा तक ब्याज लिया जाता है। फिर भी गरीब रुपया लेने को तैयार हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर वह रुपया ले तो लेता है मगर परिस्थितियों से लड़ कर भी जब वह रुपया चुका नहीं सकता तो साहूकार उसका माल-असबाब और घर सब नीलाम करा लेता है। इस तरह गाँव के गाँव बर्बाद हो जाते हैं।

भर्तृहरि ने राजा को उद्देश्य करके कहा है:—

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनाम्।

—नीतिशतक

हे राजन्! तेरी प्रजा तेरी गाय है। तू उसका दूध दुह सकता है क्योंकि तू उसकी रक्षा करता है और समय-समय पर उसे अन्याय से बचाता है और दुष्ट लूटते हैं तो देश को लूटमार से बचाता है और तू प्रजा की सेवा करता है तो इस रूप में तुझे टैक्स मिलता है। जब तक दूध है तू दुह ले किन्तु जब रक्त आने लगे तो तुझे दुहने का हक नहीं है।

नीतिकार ने सम्राट् से भी यह बात कही है। सम्राट् तो सम्राट् है और व्यापारी उससे ऊँचे हैं या नीचे? कहा जाता है कि

पहला नम्बर शाह का है और बाद में बादशाह का नम्बर आता है। अभिप्राय यह है कि व्यापारी या सेठ या और भी लेन-देन का धन्धा करने वाले एक तरह से शाही धन्धा करते हैं और समय पड़ने पर राजा भी उनसे भीख माँगते हैं। इस प्रकार उसके व्यापार के हाथ ऐसे हैं कि व्यापारी ऊँचा और राजा नीचा है।

जब साहूकार को इतना ऊँचा दर्जा मिला है तो उसे सोचना चाहिए कि कर्जदार की हालत ठीक है या नहीं ? कर्जदार की हालत जब तक ठीक है, तब तक उससे न्याय-नीति पूर्वक अपना पावना लिया जाय मगर जब उसकी हालत ठीक न हो तो उसे और देना चाहिए और तरकीब बताना चाहिए कि तू अमुक ढंग से कार्य करेगा तो तेरा घर भी बन जायगा और जब तेरा घर बन जायगा तो हम भी कमा लेंगे। यह ठीक नहीं कि रुपया तो दे दिया और फिर यह मालूम ही नहीं कि वह किस गलत ढंग पर लगाया जा रहा है।

रुपया दिया जाता है तो प्रेम भी दिया जाता है और प्रेम देने का अर्थ यह है कि वह भी आपके परिवार का एक सदस्य बन गया है। और जब सदस्य बन गया है तो आपका एक अभिन्न अङ्ग बन गया है। इस तरह जैसे आपको अपने परिवार की चिन्ता रहती है वैसे ही उसकी भी चिन्ता रहनी चाहिए और उसके काम-धन्धे आदि के सम्बन्ध में पूछताछ करते रहना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि अन्यान्य व्यापार-धन्धों की तरह व्याज

का धन्धा भी जब तक न्याय और नीति की मर्यादा में रहता है, तब तक वह श्रावक के लिए दूषण नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब नीति-मर्यादा को लाँघ कर वह शोषण का रूप धारण कर लेता है और अत्याचार एवं लूट का रूप धारण कर लेता है तो वह दूषण बन जाता है।

आपने रायचन्द भाई के जीवन की एक घटना सुनी है? वह एक बड़े दार्शनिक और योगी पुरुष हो गये हैं। गाँधीजी ने कहा है कि मैंने गुरु नहीं बनाया किन्तु मुझे अगर कोई गुरु मिले हैं तो रायचन्द भाई जैसे गुरु मिले हैं। रायचन्द भाई पहले बम्बई में जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया कि इतना जवाहरात, अमुक भाव में, अमुक तिथि पर देना पड़ेगा। इसके लिए जो पेशगी रकम देनी पड़ती है, वह भी दे दी गई। मगर किसी कारण से जवाहरात का भाव चढ़ने लगा और इतना चढ़ा कि बाजार में उथल-पुथल मच गई। उस तिथि पर उस व्यापारी से यदि वह जवाहरात लिया जाता तो व्यापारी का घर तक नीलाम हो जाता। दूसरी चीजों में तेजी-मन्दी कम होती है परन्तु जवाहरात में तो वह छलांगें मारने लगती है। यह हालत देख कर व्यापारी सकपका गया।

जब बाजार के भाव रायचन्द भाई के पास गये तो वे उस व्यापारी की दुकान पर पहुँचे। उन्हें आता देखा तो व्यापारी सहम गया। उसने सोचा—रुपया लेने आ गये हैं। उसने रायचन्द भाई

को बिठला कर कहा--मैं प्रबन्ध कर रहा हूँ। मुझे चिन्ता लग गई है और चाहे कुछ भी हो, आपका रुपया चुकाऊँगा। भले ही मेरा सर्वस्व चला जाय पर आपका रुपया हजम नहीं करूँगा। आप चिन्ता न करें।

रायचन्द भाई बोले—मैं चिन्ता क्यों न करूँ? मुझे भी चिंता लग गई है। आपकी तथा मेरी चिन्ता का कारण यह लिखा-पढ़ी है न? क्यों न इसे खत्म कर दिया जाय!

व्यापारी—ऐसा क्यों करेंगे? मैं कल-परसों तक अदा कर दूँगा।

उसका इतना कहना समाप्त भी नहीं हुआ था कि रायचन्द भाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। फिर वह बोले—रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं पी सकता। मैं समझता हूँ कि तुम वायदे से बँध गये हो। मगर परिस्थितियाँ ऐसी पैदा हो गई हैं और मेरा चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। मगर मैं यह रुपया लूँगा तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी? मैं तुम्हारी स्थिति से अनभिज्ञ नहीं हूँ। मैं कुछ भी नहीं ले सकता।

रायचन्द भाई ने जब कागज का पुर्जा फाड़ा और यह कहा तो वह व्यापारी रोकर उनके चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा--आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।

तो समय पर लेना और देना भी होता है, किन्तु कभी-कभी परिस्थिति-विशेष के उत्पन्न हो जाने पर रायचन्द भाई की तरह आपके

हृदय में दया और करुणा की लहर भी पैदा होनी चाहिए। अगर आप गिरते हुए भाई को समय पर बचा लें तो इस रूप में समाज का शोषण बन्द हो सकता है। अगर ऐसा नहीं होता तो हम समझते हैं कि हिंसा और अहिंसा की मीमांसा कोरी मनोरंजन की बातें हैं। ऐसी बातों से जैनधर्म उच्चता की ठोस भूमिका पर नहीं पहुँच सकता।

अहिंसा का सच्चा साधक वही है जो अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार में हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है। क्या मकान और क्या दुकान, उसके लिए सभी धर्म-स्थान होते हैं। उसके जीवन में, प्रत्येक दशा में, एक प्रकार की संगति रहती है।

१-१०-५०

(३)

अहिंसा

और

कृषि-उद्योग

मानव-जीवन और कृषि

जैनधर्म बहुत विशाल और प्राचीन धर्म है। उस पर हमें गर्व है कि उसने हजारों का ही नहीं, लाखों और करोड़ों जनता का कल्याण किया है। उसने जनता को जीवन की सच्ची राह बतलाई है और भूले-भटके यात्रियों को, जो गलत राह पर चल रहे थे, कहा कि तुम इस राह पर चल तो रहे हो, मगर अन्ततः उस सत्य की राह पर चलने से ही तुम्हारा कल्याण होगा, तुम अपनी मंजिल तक पहुँच सकोगे। हाँ तो उक्त महान् जैनधर्म के लिए जनता के मन में एक प्रश्न चल रहा है कि वह केवल आदर्शवादी है या यथार्थवादी है ? वह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी उतरता है ?

बहुत बार हम देखते हैं कि आदर्श, आदर्श बन कर रह जाते है और उँचाइयाँ, उँचाइयाँ ही बनी रहती हैं। वे जीवन में

उतरने वाली, जीवन की समस्याओं को हल करने वाली वास्तविकता की भूमिका पर नहीं उतरतीं। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो बहुत ऊँची उड़ान भरते हैं, जो आकाश पर चलते हैं, किन्तु जीवन के सही धरातल पर नहीं उतरते, उनमें जनता की समस्याओं का सच्चा समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

इसके विपरीत कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते हैं। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। बच्चों की, बूढ़ों की और युवकों की क्या समस्याएँ हैं? भूखी जनता की क्या समस्याएँ हैं? इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनका सर्वोपरि जीवन-लक्ष्य है।

तो समाज किस पर टिकेगा? वह कोरे आदर्शवाद पर जीवित रहेगा या जब उसे यथार्थवाद मिलेगा तब जिन्दा रह सकेगा? इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा है:—

> बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते,
> पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।

एक आदमी भूखा है और भूख से छटपटा रहा है। ऐसी स्थिति में व्याकरण के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों से उसका पेट नहीं भरेगा।

काव्य का रस बड़ा मीठा है। जब कवितापाठ होता है तो लोग झूम जाते हैं और घण्टों जमे रहते हैं, अमृत का आनन्द आ जाता है। किन्तु प्यास से व्याकुल कोई प्यासा वहाँ आवे और पानी

माँगे और उससे यह कहा जाय कि—'भाई, यहाँ पानी नहीं है। यहाँ काव्य है, बहुत ही मधुर है, उसमें अमृत का रस है। इसे पी लो और अपनी प्यास बुझा लो।' तो क्या प्यासे को काव्य-रस से सन्तोष हो सकेगा? वह काव्य का रस पी भी सकेगा?

इसीलिए जीवन में यथार्थवादी आचार्य कहते हैं कि जीवन की समस्याएँ न अलंकारों से सुलझ सकती हैं, न साहित्य से और न कविताओं से ही। उन्हें सुलझाने के लिए दूसरा ही कोई कारगर और सही हल खोजना पड़ेगा।

दो-चार दिन का भूखा एक आदमी आपके सामने आता है। वह आपसे चार कौर भोजन पाने की इच्छा रखता है और माँग करता है। आप उससे कहते हैं—'भई, धर्म का भोजन तैयार है। दो दिन हो गये हैं तो दो दिन और उपवास कर लो। रोटियों में क्या रक्खा है? अभी खाओगे, अभी फिर भूख लग आएगी। अनादिकाल से खाते आ रहे हो, अनन्त-अनन्त सुमेरु पर्वतों के बराबर रोटियों के ढेर खा चुके हो। फिर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है! छोड़ो इस पुद्गल की रोटी को। धर्म की रोटी ले लो, जिससे यहाँ भी भूख बुझेगी और वहाँ भी भूख बुझेगी।

आप ही कहिए क्या यह धर्म की व्याख्या है, धर्म का उपदेश है या धर्म का मज़ाक है? यह ऐसा विचार है जिससे जनता के मन को साधा नहीं जाता, किन्तु उसके दिल में काँटा चुभाया जाता

है। क्या जीवन इस तरह चलेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नहीं है। वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओं के साथ क्रूरतापूर्वक उपहास करता है। यह मर जाने के बाद स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु इस संसार को स्वर्ग बनाने की बात नहीं कहता है। मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिल जाना तो बतलाता है मगर जिन्दा रहने के लिए दो माशा अन्न के दाने पाने की राह नहीं दिखलाता। वह स्वर्ग का ढिंढोरा पीटता है किन्तु जिस मनुष्य के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए अपने जीवन की कला नहीं सिखलाता। इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे वह कोई भी हो, जनता के काम का नहीं है। दुनिया को ऐसे धर्म की आवश्यकता भी नहीं है।

आखिरकार धर्म यह तो बतलावे कि मनुष्य को करना क्या है ? धर्म क्या प्रस्तुत जीवन की राह नहीं बतला सकता ? मौत का रास्ता दिखलाने के लिए ही धर्म का निर्माण हुआ है क्या ?

उधार का भी अपने आप में मूल्य है अवश्य, मगर जिस दुकान में उधार ही उधार चलता हो और नकद की बात ही न हो, वह दुकान क्या अपने आपको टिकाए रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म परलोक के रूप में केवल उधार ही उधार की बात करता है और कहता है कि उपवास करोगे तो स्वर्ग मिल जाएगा। फूट, कलह

आदि नहीं करोगे तो मरने के बाद अमुक राज्य वैभव रूप फल पा जाओगे, जो यह नहीं बतलाता है कि आप या हम श्रावक और साधु बन कर जो काम कर रहे हैं उनका यहाँ क्या अच्छा फल मिलेगा; जो यह नहीं बता सकता कि इस कर्त्तव्य का पालन करोगे तो स्वर्ग यहीं इसी जीवन में ही उतर आएगा—तुम्हारा समाज, परिवार और राष्ट्र ही स्वर्ग बन जायगा, उस धर्म का साधारण जनता क्या बनाये ?

सचाई यह है कि स्वर्ग में वही जाएँगे, जिन्होंने यहीं स्वर्ग बना लिया है। जो यहाँ स्वर्ग नहीं बना पाये हैं और यहाँ घृणा, भुखमरी और हाहाकार के नरक का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें यदि किसी धर्म के द्वारा स्वर्ग मिला भी तो वह रो-रो कर मिलेगा। हँसते-हँसते नहीं मिलने का।

कुछ दिनों से व्याख्यान में जो प्रकरण चल रहा है, उसे आप केवल सुनने के लिए ही मत सुनिये, मनन करने के लिए सुनिए। उसमें अमुक ढंग से बात चल रही है और शायद वह बात आप में से बहुतों के गले नहीं उतर रही है। क्योंकि पहले, दूसरे रूप में वह सुना दी गई है और वही गले में अटकी हुई है। वह मेरी बात को आपके गले में नहीं उतरने देती है। फिर भी आपको इन बातों पर चिन्तन—मनन करना है। ऐसा नहीं किया गया है, इसीलिए जैन-धर्म को बदनाम होना पड़ा है और धर्म के मुँह पर कालिख लगी है।

उसे साफ करने का काम अब भगवान् महावीर का नहीं है, आपका है। आप उस कालिख को दूर कीजिए। भगवान् महावीर के उज्ज्वल सिद्धान्तों पर काल दोष से या भ्रान्त बुद्धि से जो धूल जम गई है उसे साफ करने का उत्तरदायित्व आज आप भक्तों के ऊपर आ पड़ा है।

आप सोचते हैं—अजी, क्या है! संसार तो यों ही चलता रहेगा। लोग भूखे मरें तो क्या और पशु मरें तो क्या? खाने को मिले तो खाओ, नहीं मिले तो ज्यों ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का बंध हो जाएगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होना है। यह सब संसार की बातें हैं। और जब संसार की बातें हैं तो उनका मुद्दा क्या है? जो संसार का मार्ग है वह बंधन का ही, एक प्रकार से नरक का ही मार्ग है।

किन्तु आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की भूख बहुत बड़ी है। जब कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए एक अन्नकण भी न मिले, तब चिन्तन की गहराई में अपनी बुद्धि का गज डालिए, पता लगेगा कि भूखों की क्या अवस्थाएँ होती हैं? उस समय धर्म-कर्म की मरहमपट्टी काम देती है या नहीं? जब मनुष्य भूख की पीड़ा से व्याकुल होता है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है और मृत्यु नाचने लगती है तो उस हालत में समता या दृढ़ता का मरहम लगाने वाला सौ में से एक भी शायद ही निकलता है, नहीं तो सब पागल हो जाते हैं। जैनधर्म कहता है कि सब से बड़ी वेदना

भूख की है।

शास्त्रों में जो बाईस परीषह आते हैं, उनमें पहला परीषह क्षुधापरीषह है और जो ताड़न या वध आदि क्रूर परीषह हैं वे तो दूर पड़े हैं। स्थूल हिंसा के रूप में सोचने का जो ढंग हमें मिला हुआ है या हमने जो ढंग अख्तियार कर रक्खा है, उसके अनुसार तो सब से पहला परीषह वधपरीषह होना चाहिए। कोई किसी को मार दे या वध कर दे तो इसके बराबर तो क्षुधापरिषह नहीं है। फिर वध को पहला परीषह न गिन कर भूख को पहला परीषह क्यों गिना है? तो साहब, हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे जो भूख से बुरी तरह छटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि भूख की इस तिल तिल करके मारने वाली पीड़ा को सहन करने की अपेक्षा तो उन्हें कत्ल कर दिया जाय तो अच्छा हो। गल-गल कर मरने और एक-एक प्राण छिटका कर मरने के बजाय एक साथ कत्ल हो जाना, वे कहीं ज्यादा ठीक समझते हैं। वध और क्षुधा परीषह में से वे लोग वध को मंजूर करते हैं। कई लोग रेलों के नीचे कट कर या कूप-तालाब में गिर कर इसीलिए मरते हैं कि उनसे अपनी स्त्री और बच्चों की भूख की वेदना नहीं सही जा सकती। वे भूख की वेदना से छुटकारा पाने के लिए मरने की वेदना सहसा स्वीकार कर लेते हैं। एक महान् आचार्य ने ठीक ही कहा है:-

खुहासमा नत्थि सरीरवेयणा।

अर्थात्--भूख की पीड़ा के समान और कोई पीड़ा नहीं है।

मैं समझता हूँ कि आप इस तथ्य को जल्दी अनुभव नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आपकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई भी व्यक्ति जब तक इस प्रकार की स्थिति में रहता है तब तक वह उस भयंकर स्थिति का ठीक-ठीक आकलन नहीं कर सकता। किन्तु बंगाल और विहार के दुष्काल में लोग जब भूख से छटपटाते हुए गिरते थे तो अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे बच्चों को दो-दो रुपये में बेचते हुए शंका नहीं लाते थे और दो रोटियों के पीछे स्त्रियाँ भी अपने सतीत्व को नष्ट कर देती थीं। इस पर से आप समझ सकते हैं कि भूख के पीछे दुनिया के भारी से भारी पाप किये जाते हैं। भूख जब लगती है तो मनुष्य क्या नहीं कर गुज़रता? आचार्य ने कहा है:—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्?

अर्थात्—दुनिया में वह कौन-सा पाप है जो भूखा नहीं कर लेता है? धोखा वह देता है, ठगी वह करता है, सभी कुछ वह करता है। और तो क्या, माता और बहिनें अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं रोटी के लिए।

भूख वास्तव में एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशंस और क्रूर बना देती है। जब वह अपने पूरे जोर पर लगती है और उसे तृप्त होने की सामग्री-रोटी नहीं मिलती है तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नहीं लगता है। और तो क्या स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीन कर खा जाते

हैं। जब ऐसी स्थिति है तो आचार्य ठीक ही कहते हैं कि भूखा आदमी सभी पाप कर डालता है।

एक जीवनदर्शी दार्शनिक ने कहा है:--

बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

अर्थात्—भूख के मारे को कुछ भी नहीं सूझता है। वह कहता है कि भूख ने मेरी ज्ञानशक्ति को नष्ट कर दिया है।

कौन-सी चीज थी वह, जिसने मेवाड़ के ही नहीं, भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था? अपने बच्चों की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही वे अकबर से सन्धि कर अपनी जन्मभूमि की स्वतन्त्रता खो देने के लिए तैयार हो गए थे। जब प्रताप जैसे दृढ़ और फौलाद के कलेजे वाले भी भूख के कारण अपने संकल्प से गिरने लगते हैं और ऐसे काम करने पर उतारू हो जाते हैं जिसकी स्वप्न में भी वे स्वयं कल्पना नहीं कर सकते, तो साधारण आदमियों का तो कहना ही क्या है?

अगर हम इन सब बातों को खयाल में रक्खें तो पता लगेगा कि भूख कितनी बड़ी वेदना है।

गृहस्थ जीवन में भूख की समस्या को हल करने वाली एक चीज है—खेती। खेती से जो उत्पादन होता है उसी से बहुत से पापों को, जो भयंकर भूख के दरवाजे से सर्वसाधारण की आत्मा में प्रवेश

करते हैं, रोका जा सकता है। किन्तु खेद है कि उन्हें दूर करने के लिए पूर्वकाल में भगवान् ऋषभदेव ने और दूसरों ने जो कृषि आदि के रूप में प्रयत्न किये हैं, उसमें आप महापाप और महान् आरम्भ कहते हैं। आप जीवन के लिए अन्न खाएँगे किन्तु जिस अन्न पर जनजीवन निर्भर है उसे उत्पन्न करने वाले को महापापी कहेंगे। जो अन्न को उत्पादन करने का कार्य कर रहे हैं, जब उन्हें महारम्भी–महापापी और उसके फलस्वरूप नरकगामी कहा जाता है तो हमारा मन तिलमिला उठता है और हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

हमारे शास्त्र कुछ कहते हैं हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है और आज हम कुछ और ही कहने लग गये हैं। जैन संस्कृति कहाँ ले जाना चाहती है और लोग उसे समझे बिना कहीं अन्यत्र ही भटक रहे हैं। जनहीन मैदान में भटकने वाले यात्री की जैसी दशा होती है वैसी ही दशा आज हमारी हो रही है।

हमारे विचारों की बात जाने दीजिए। मैं पूछता हूँ आपसे कि भगवान् ऋषभदेव ने क्या किया था ? क्या उन्होंने उस समय के लोगों को महापाप और महान् आरम्भ का रास्ता बतलाया था ?

आप कहेंगे कि तब वे भगवान् नहीं बने थे। किन्तु क्या आप यह नहीं जानते कि उनके मति, श्रुत और अवधि—यह तीन ज्ञान थे। उनका अन्तःकरण लूला-लँगड़ा या भूला-भटका अर्थात् [illegible] नहीं था, वह [illegible] था। उस स्थिति में भगवान्

ने जो कुछ भी किया वह सब क्या था ?

युगलियों की जनता को खाना तो जरूरी था मगर काम नहीं करना था। सर्दी से बचने के लिए कपड़ा या मकान कुछ भी चाहिए तो अवश्य था, किन्तु वस्त्र या मकान नहीं बनाना था। जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था मगर पुरुषार्थ की आवश्यकता अनुभूति में नहीं आई थी। इसी स्थिति में चलते-चलते युगलिया भगवान् ऋषभदेव के युग में आ गये। इस युग में कल्पवृक्षों के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति में गड़बड़ आने लगी और जनता भूख से आकुल हो उठी। पेट में भूख की आग सुलगने लगी और वह युगलियों की जनता उसमें भस्म होने लगी। तब भगवान् के हृदय में अपार करुणा का झरना बहा और भगवान् ने उन लोगों की भूख की सुलगती आग को शान्त किया। इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है:—

शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

हाँ तो भगवान् के कोमल हृदय में अपार करुणा का झरना बहा और देखा कि यह सारी जनता भूख से पीड़ित होकर खत्म हो जायगी, आपस में लड़-लड़ कर मर जायगी, खून की धाराएँ बहने लगेंगी; तो भगवान् ने उस अकर्म प्रजा को कर्म की—पुरुषार्थ की चेतना दी और अपने हाथों-पैरों से काम लेना सिखलाया। किंकर्तव्य-

' को देश कालानुसार कर्मभूमि में अवतरित किया और भूख
या को अपने हाथों सुलझाने की सही राह दिखलाई अर्थात्
करना सिखलाया।

अन्न का दाना और तन का कपड़ा—दोनों कृषि से प्राप्त होते
न्दगी की खास दो ही जरूरतें हैं—अन्न और कपड़ा। जब-
जनता का कोलाहल सुनते हैं तो यही कि रोटी और कपड़ा
। फ्रांस का सम्राट् लुई महलों में आनन्द कर रहा था और
की संख्या में जनता भूख से छटपटाती हुई नीचे से गुजरी—
लगाते हुए कि रोटी, रोटी!

सम्राट् ने यह आवाज सुनकर पास में बैठे हुए मंत्री से पूछा—
जनता ने बगावत कर दी है?' मंत्री ने कहा—'यह बगावत
क्रान्ति है।' और मंत्री के मुँह से निकले हुए शब्द सारे संसार
गये कि भूख से बगावत नहीं होती है किन्तु इन्क़िलाब
है।

हाँ, तो भगवान् ऋषभदेव उस भूख से पीड़ित जनता को
र कोरे आदर्शवाद में नहीं रहे। उन सब को उपवास कर लेने
नु बन जाने या संथारा करने की सलाह उन्होंने नहीं दी। जैसा
न्थ लोग कहते हैं:—

> भूखा जीव जिमाडियां बोले, साधु आप जिवाड़ न खोले।
>
> —तेरापंथी आचार्य श्री भीखणजी

मकान में आग लग गई है। और उसके भीतर मनुष्य बिल-बिला रहे हों और कुहराम मच रहा हो तो ऐसे समय में पत्थर के दिल भी पिघल जाते हैं। किन्तु उनका फरमान है कि जलने वाले जीवों को बचाने के लिए उस मकान के दरवाजे की सांकल नहीं खोलनी चाहिए। अगर किसी ने सांकल खोल दी तो उसे अठारह पाप लग गये!

प्रश्न है कि उक्त भयङ्कर अग्निकाण्ड के समय यदि साधुजी महाराज हों तो क्या करें? उत्तर मिलता है कि "संथारा कराएँ, उपदेश दें और कहें कि—'वोसिरे, वोसिरे!' संथारा ले लो और आगे के लिए राह तलाश करो।" यहाँ जीने के लिए राह नहीं है!

मैं समझता हूँ, यदि कोई सचमुच मनुष्य है और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है और वह पागल नहीं हो गया है तो कौन ऐसा है जो मरते हुए जीवों को बचाने के लिए साँकल न खोल देगा? और कौन यह कहेगा कि संथारा कर लो! यह धर्म का मजाक नहीं तो क्या है? यह ऐसी स्थितियाँ हैं कि इनके लिए समझदार आदमी जरूर कहेगा कि यह आत्मा, समाज, धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली मान्यता है।

भ० ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नहीं चले कि जो भूखा मर रहा है उसे कहा जाय कि—'संथारा कर लो, स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जाकर सूँघ लिया करना और तुम्हारी भूख भाग

जाया करेगी!' उन्होंने यह मार्ग अंगीकार नहीं किया। वे यथार्थवादी थे और यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जनता को सही रास्ते पर नहीं ले जाया गया तो वह महा-आरंभ के रास्ते पर चली जाएगी और मांसाहार के पथ पर चल कर घोर हिंसक हो जाएगी। एक बार घोर हिंसा के रास्ते पर चल पड़ी तो फिर उसे मोड़ना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होंने भूख से पीड़ित और महा-आरंभ की ओर जाती हुई जनता को अल्प हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहाँ-जहाँ पहुँचा और जिन-जिन ने माना वे आर्य बन गये और जहाँ वह सन्देश नहीं पहुँचा या जिन्होंने उस सन्देश को स्वीकार नहीं किया वे म्लेच्छ होगए।

सम्भवतः आप में से भी कुछ युगलिया रहे होंगे और आपके पूर्वज तो रहे ही हैं। एक दिन सारी भारतभूमि में अकर्मभूमि की परम्परा थी और उस परम्परा वाले लोग ऐसे थे कि उनमें वैर नहीं था, घृणा नहीं थी, द्वेष नहीं था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीड़ा नहीं पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे थे तो वहाँ के आदमी पशुओं को मार कर क्यों खाने लगे? भगवान् ऋषभदेव ने इसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप में कायम रक्खा, मांसाहार का प्रचलन न होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और उसका प्रचलन हुआ वहाँ-वहाँ आर्यता बनी रही और अल्प-आरंभ

मकान में आग लग गई है। और उसके भीतर मनुष्य चिल-चिला रहे हों और कुहराम मच रहा हो तो ऐसे समय में पत्थर के दिल भी पिघल जाते हैं। किन्तु उनका फरमान है कि जलने वाले जीवों को बचाने के लिए उस मकान के दरवाजे की सांकल नहीं खोलनी चाहिए। अगर किसी ने सांकल खोल दी तो उसे अठारह पाप लग गये!

प्रश्न है कि उक्त भयङ्कर अग्निकाण्ड के समय यदि साधुजी महाराज हों तो क्या करें? उत्तर मिलता है कि "संथारा कराएँ, उपदेश दें और कहें कि—'वोसिरे, वोसिरे!' संथारा ले लो और आगे के लिए राह तलाश करो।" यहाँ जीने के लिए राह नहीं है!

मैं समझता हूँ, यदि कोई सचमुच मनुष्य है और उसके पास यदि मनुष्य का दिल और दिमाग है और वह पागल नहीं हो गया है तो कौन ऐसा है जो मरते हुए जीवों को बचाने के लिए साँकल न खोल देगा? और कौन यह कहेगा कि संथारा कर लो! यह धर्म का मजाक नहीं तो क्या है? यह ऐसी स्थितियाँ हैं कि इनके लिए समझदार आदमी जरूर कहेगा कि यह आत्मा, समाज, धर्म और साधुपन का दिवाला निकाल देने वाली मान्यता है।

भ० ऋषभदेव इस सिद्धान्त पर नहीं चले कि जो भूखा मर रहा है उसे कहा जाय कि—'संथारा कर लो, स्वर्ग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वहाँ जाकर सूँघ लिया करना और तुम्हारी भूख भाग

जाया करेगी !' उन्होंने यह मार्ग अंगीकार नहीं किया । वे यथार्थवादी थे और यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जनता को सही रास्ते पर नहीं ले जाया गया तो वह महा-आरंभ के रास्ते पर चली जाएगी और मांसाहार के पथ पर चल कर घोर हिंसक हो जाएगी। एक बार घोर हिंसा के रास्ते पर चल पड़ी तो फिर उसे मोड़ना मुश्किल हो जाएगा। अतएव उन्होंने भूख से पीड़ित और महा-आरंभ की ओर जाती हुई जनता को अल्प हिंसा की ओर लाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान् का सन्देश जहाँ-जहाँ पहुँचा और जिन-जिन ने माना वे आर्य बन गये और जहाँ वह सन्देश नहीं पहुँचा या जिन्होंने उस सन्देश को स्वीकार नहीं किया वे म्लेच्छ होगए।

सम्भवतः आप में से भी कुछ युगलिया रहे होंगे और आपके पूर्वज तो रहे ही हैं। एक दिन सारी भारतभूमि में अकर्मभूमि की परम्परा थी और उस परम्परा वाले लोग ऐसे थे कि उनमें वैर नहीं था, घृणा नहीं थी, द्वेष नहीं था। वहाँ के पशु भी ऐसे थे कि किसी को बाधा और पीड़ा नहीं पहुँचाते थे। जहाँ के पशु भी ऐसे थे तो वहाँ के आदमी पशुओं को मार कर क्यों खाने लगे ? भगवान् ऋषभदेव ने उसी वृत्ति को कृषि आदि के रूप में कायम रक्खा, मांसाहार का प्रचलन न होने दिया।

अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ वहाँ-वहाँ आर्यता बनी रही और अल्प-आरंभ

हुआ। मगर जहाँ कृषि की परम्परा नहीं चली वहाँ के भूखे मरते लोग क्या करते ? तब आपस में वैर जागा, क्रोध जागा और क्षुधा-जन्य क्रूरता के कारण पशुओं को मार कर खाने की प्रवृत्ति चालू हो गई। तात्पर्य यह है कि कृषि अहिंसा का प्रतीक है। जहाँ भी कृषि अग्रसर हुई, वहाँ अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर आगे अग्रसर हुई है। और जहाँ कृषि है वहाँ पशुओं की भी जरूरत है, फलतः उनका पालन भी आवश्यक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा बहने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं की तरफ भी बही है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ खेती गई, वह अहिंसा का सिद्धान्त लेकर गई। और जहाँ कृषि नहीं गई वहाँ अहिंसा का सिद्धान्त भी नहीं पहुँचा।

मेक्सिको के लोग मछलियों आदि के शिकार के सिवाय कुछ भी नहीं कर पाते हैं। आप में से यदि कोई सज्जन वहाँ पहुँच जाय और देखे कि लोगों के हाथ रात-दिन खून से भरे रहते हैं, क्योंकि जानवरों का मांस, चमड़ा, चर्बी वगैरह का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई चारा नहीं है। ऐसी स्थिति में वह उन्हें जैनधर्म का कुछ सन्देश देना चाहे और उस हिंसा को रोकना चाहे। कहे कि मछली, हिरन, सुअर वगैरह किसी जीव को मत मारो। तब वे उससे पूछें कि फिर क्या खाएँ ? और जब यह प्रश्न सामने आए तो वह क्या उत्तर देगा ? अगर आप वहाँ गये हों तो क्या उत्तर देंगे ? आप उन्हें

अहिंसक बना देना चाहते हैं तो क्या करेंगे ? क्या 'वोसिरे वोसिरे' करा देंगे ? ऐसा नहीं करेंगे तो 'क्या खाएँ ?' यह प्रश्न कैसे हल होगा ? आप पागल बन कर लौटेंगे यदि समुचित व्यवस्था नहीं करेंगे।

हम साधुओं को नाना प्रकार की रुचि और प्रवृत्ति वाले आदमी मिलते रहते हैं। कोई वनस्पतिभोजी मिलते हैं और कोई मांसभक्षी भी मिल जाते हैं। जब मांसभक्षी मिलते हैं और हम उनसे मांसभक्षण का त्याग कराना चाहते हैं तो उनसे उनकी अपनी भाषा में यही कहना होता है कि प्रकृति की ओर से इतना बड़ा भण्डार भरा पड़ा है ! यदि कोई कर्त्तावादी मिलता है तो उससे कहा जाता है कि ईश्वर ने कितनी शानदार फूल, फल आदि चीजें अर्पण की हैं ! यह सब चीजें ही इन्सान के खाने की हैं, मांस नहीं। यही शब्द कहे जाते हों सो बात नहीं, मगर कुछ इसी आशय के शब्द कह कर ही उन्हें समझाया जाता है। साधुभाषा के नाते बहुत बच कर बोलते हैं, तथापि घूम-फिर कर आखिर बात तो यही हुई कि त्रसजीव की हिंसा करना, पशुओं को मारना महा-आरंभ है और उसके विरुद्ध बाग-बगीचा तथा खेती से निर्वाह करना अल्पारम्भ है।

इस प्रकार समझा कर मैंने सैकड़ों आदमियों को मांस खाने का त्याग करवाया है। दूसरे साधु भी इसी प्रकार की भाषा बोल कर उनकी हिंसा छुड़ाते हैं। आचार्यों ने भी शास्त्रों में कहा है कि संसार में इतनी चीजें उपलब्ध हैं और वे इन्सान के खाने की चीजें हैं फिर

भी जो खाने के योग्य नहीं हैं वे क्यों खाई जाती हैं ? तो अभिप्राय यह है कि फल, फूल, धान्य आदि वनस्पति के उपयोग से ही मांस-भक्षण जैसे महापाप को रोका जा सकता है और यह सब चीजें कृषि के विना उपलब्ध नहीं होतीं।

यह कितनी सुन्दर चीज है अपने आप में, किन्तु फिर भी कई लोग कृषि को भी महारंभ कहते हैं जब कि कृषि अहिंसा का आदर्श लेकर चली है, उसने मानव जाति को भील-संथान होने से रोका है और उनमें नागरिकता फैलाई है, उससे मनुष्य का कल्याण हुआ है और जहाँ वह नहीं फैली वहाँ के लोग घोर हिंसक और मांसभक्षी—नरमांसभक्षी तक, बन गये हैं।

ऊपर की मान्यता के सम्बन्ध में सम्भव है आजकल की दुनिया के लोग कुछ और कहते हों, किन्तु आपको देखना चाहिए कि जैन क्या कहते हैं ? आप जो श्रेष्ठ बन गये हैं, ऊँचे बन गये हैं और वे बेचारे भील बन गये हैं, सो इसका कारण क्या है ? जैन सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा ने आपको ऊँचा और उन्हें नीचा नहीं बनाया है। बल्कि जिनको जीविका के साधन अच्छे मिल गये वे आर्य बन गये और श्रेष्ठ कहलाने लगे और जिन्हें साधन अच्छे नहीं मिले वे म्लेच्छ बन गये। कर्मभूमि से पहले अकर्मभूमि में—जुगलियों में—आर्य और म्लेच्छ का कोई भेद नहीं था।

तो भगवान् ऋषभदेव तत्कालीन जनता को महारंभ से

अल्पारंभ की ओर ले गये, महाहिंसा से अल्पहिंसा की ओर ले गये, दया की ओर ले गये।

शास्त्रों में छठे आरे का वर्णन है कि उसके आरंभ में सब वृक्ष समाप्त हो जाएँगे। उस समय के मनुष्य गुफाओं में भाग कर चले जाएँगे और महान् दुखी होंगे। और जब उत्सर्पिणी काल का भी पहला आरा इसी दुःखमय अवस्था में गुज़र जाएगा और दूसरे आरे का प्रसंग आएगा तब मेघ बरसेंगे, घनघोर वृष्टि होगी और पृथ्वी, जो तपे हुए लोहे के गोले के समान गरम हो गई थी, शान्त हो जाएगी और फिर सारी पृथ्वी वनस्पति जगत् से हरी-भरी हो जाएगी। यह वर्णन मूल आगमों का है, कोई किस्सा-कहानी नहीं है। उस समय बिलों में रहने वाले जीव बाहर निकलेंगे। जिनके शरीर में मांस खाते-खाते कुष्ठ और खुजली वगैरह कई बीमारियाँ हो गई थीं, वे जब बाहर निकलेंगे, उन्हें ठंडी हवा लगेगी और वृक्षों के फल खायेंगे और इससे जब उनके शरीर में तरी आएगी तो सारी बीमारियाँ दूर हो जाएँगी। भगवान् महावीर कहते हैं कि तब वे जनता को इकट्ठा करेंगे और यह कहेंगे कि--देखो, हमारे लिए प्रकृति की कृपा हो गई है और इतने सुन्दर-सुन्दर फल, फूल और वनस्पतियाँ हो गई हैं। आज से सब प्रण करो कि कोई मांस नहीं खाएगा। और अगर कोई मांस खाएगा तो हम उसकी छाया का भी स्पर्श नहीं करेंगे।*

* देखिए, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति--दूसरा वक्षस्कार

अब आप विचार कीजिए कि उस महारंभ ने क्या किया और उन वृक्षों, फलों, वनस्पतियों और खेती-बाड़ी के रूप में जो चीज आई उन्होंने क्या किया ? उसने यह काम किया कि जो मांसाहार चल रहा था, उसे छुड़ा दिया। ऐसा प्रसंग आया है और मूल पाठ का यह उल्लेख है।

तो हमने कहा कि खेती-बाड़ी इधर (कर्मभूमि के प्रारम्भ में) भी महारंभ होने से बचाती है और जब उत्सर्पिणी का चक्र शुरु होता है तब भी वही महारंभ से बचाती है। फल, पत्तियाँ और वनस्पतियाँ आखिर किसका प्रतीक हैं ? वे अल्पारंभ का प्रतीक हैं और महारंभ को रोकने का चिह्न हैं।

इस प्रकार इधर और उधर—दोनों जगह जब वनस्पतियाँ हो जाती हैं और खेती होती है तो मानव समाज महाहिंसा से बचता है।

जब ऐसा महान् आदर्श चल रहा है, प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में ऐसा ही हुआ करता है तो हम विचारते हैं कि क्या जैनधर्म इसे महारंभ कहता है ? क्या भगवान् ऋषभदेव ने जनता को महारंभ का कार्य सिखलाया ? क्या उन्होंने नरक में ले जाने वाला कार्य सिखाया ? किन्तु ऐसी बात नहीं है। हम आवेश में यह बात नहीं कह रहे हैं। हमारे मन में किसी प्रकार के एकान्त का मोह नहीं है। जो हमारा चिन्तन है और जो शास्त्रों को बारीकी से देखने और टटोलने के बाद हमारी धारणाएँ बनी हैं उन्हीं स्पष्ट धारणाओं को

हम आपके सामने रख रहे हैं।

जैनधर्म इतना आदर्शवादी और यथार्थवादी धर्म है कि उसने अन्तरङ्ग की बातों को समझा और कहा कि अन्न का एक कण दे दिया तो मानो प्राणों का दान दे दिया:—

अन्नदानं महादानम् ।

शास्त्रों में नौ प्रकार के जो पुण्य चल रहे हैं, उनमें भी सब से पहले अन्न पुण्य बतलाया गया है और नमस्कार-पुण्य को सब से आखिर में डाल दिया गया है; क्योंकि पहले अन्न पेट में पड़े तो पीछे नमस्कार करने की सूझे। जब अन्न पेट में नहीं होता और उसके लिए हृदय तड़फता होता है तो कौन किसको नमस्कार करता है?

अतः सब से पहले पुण्यसाधना के द्वार पर अन्नपुण्य ही खड़ा है, और सब पुण्य उसके पीछे आ रहे हैं, किन्तु उसके उत्पादन को भी महारंभ और नरक की राह बताना, बुद्धि का विकार नहीं तो और क्या है?

वैदिक धर्म के उपनिषदों और पुराणों का मैंने अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते हैं—'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात् अन्न तो प्राण है। और सन्त नरसी मेहता ने कहा है—

भूखे भजन न होहि गुपाला,
यह लो अपनी कंठी माला।

कोई भूखा रह कर माला पकड़ेगा भी तो कब तक पकड़े रहेगा।

वह तो हाथ से छूट कर ही रहेगी। इसीलिए कहा है कि--गोपाल, अब भूखे से भजन नहीं होगा। लो, यह कंठी और यह माला सँभालो। अब तो रोटी की माला जपूंगा उसके लिए उद्योग करूँगा।

इस प्रकार वैदिकधर्म अन्न को प्राण कहता है और जैनधर्म अन्न के दान को सब से बड़ा दान—सर्वप्रथम दान-मानता है; भूख के परीषह की पूर्ति को पहला स्थान बतलाता है। इस तरह एक से एक कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं। इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होनी है और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने कृषिकर्म सिखाया और बताया है। जैनशास्त्र में कहीं भी साधारण गृहस्थ के लिए कृषि को त्याज्य नहीं कहा गया है।

कृषिकर्म को महारंभ बतलाने वाले भी एक दलील पेश करते हैं। और वह दलील और कुछ नहीं, केवल दो अक्षर हैं--'फोडी-कम्मे', जो पन्द्रह कर्मादानों में आते हैं। यह दलील जब मैं सुनता हूँ तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। 'फोडीकम्मे' का असल में क्या अर्थ था और है और क्या समझ लिया गया है।

मैं चुनौती देकर भी कह सकता हूँ कि 'फोडीकम्मे' का अर्थ खेती नहीं है। उसका अर्थ कुछ और है और उस पर आपको तथा मुझको गम्भीरता से सोचना है। गम्भीर चिन्तन करने पर उसका अर्थ साफ और स्पष्ट हो जायगा।

समग्र प्रमाणभूत जैन साहित्य में कहीं एक भी शब्द ऐसा

नहीं है कि जहाँ कृषि को महारंभ बतलाया गया हो। पन्द्रह-पन्द्रह सौ वर्षों के पुराने आचार्य हमारे सामने हैं। उन्होंने 'फोडीकम्मे' का ऐसा अर्थ कहीं नहीं लिखा जैसा आप समझते हैं। यह गलत अर्थ कुछ दिनों से चल पड़ा है, जिसे धक्का देकर निकाल दिया जायगा और सही अर्थ करना होगा। जो गलत धारणाएँ चल पड़ी हैं, उन्होंने हमें न इधर का रक्खा है न उधर का रहने दिया है।

पन्द्रह कर्मादानों में 'रसवाणिज्जे' भी आता है। उसका अर्थ समझ लिया घी और दूध का व्यापार करना और जिसने यह व्यापार किया वह महारंभी हो गया। ऐसा कहने वाले शराब को भूल गये। मुद्दे की चीज भूल गये और घी-दूध के पीछे चिपट गये।

कुछ साथियों ने 'असईजनपोसणियाकम्मे' का अर्थ कर दिया है---असंयत—असंयमी जनों की रक्षा करना महारंभ है! किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है---वेश्याओं या दुराचारिणी स्त्रियों के द्वारा धन्धा करके आजीविका चलाना। मगर उन लोगों ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—किसी गरीब को, भूखे कुत्ते को, और यहाँ तक अपने माता-पिता को भी रोटी देना महान् पाप है! आखिर वे भी असंयमी जो ठहरे। इस तरह इसे भी पन्द्रह कर्मादानों में शामिल कर दिया है।

लेकिन इन सब गलत अर्थों को और गलत धारणाओं को धक्का मिलना ही चाहिए। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, जैनधर्म

को सही रूप में न समझ सकेंगे और न दूसरों को समझा ही सकेंगे। 'फोडीकम्मे' की लम्बी चर्चा के लिए आज समय कम रह गया है। एक दिन अच्छा समय मिलने पर इस विषय पर विस्तृत और स्पष्ट प्रकाश डाला जायगा।

२४-६-५०

अन्न का महत्त्व

कुछ दिनों से बराबर अहिंसा का ही प्रकरण चल रहा है। विस्तार के साथ अहिंसा पर प्रवचन करने का अभिप्राय यह है कि हम लोग अपने जीवन की सही दिशा और सही राह पा जाएँ और इधर-उधर की भुलाने वाली पगडंडियों से बचते हुए कल्याण के सीधे निष्कंटक मार्ग पर आगे बढ़ सकें।

अहिंसा आत्मा की खुराक है तो रोटी शरीर की खुराक है। आत्मा और शरीर साथ-साथ रह सकते हैं तो अहिंसा और रोटी भी साथ-साथ क्यों नहीं रह सकती है? अगर यह दोनों साथ-साथ न रह सकें तो इसका अर्थ यह हुआ कि या तो हमें आत्मा की खुराक से वंचित रहना चाहिए या शरीर को खुराक देना छोड़ देना चाहिए। इन दोनों में से आप क्या पसन्द करेंगे? अगर आप शरीर को ही खिला-पिला कर मोटा करना चाहते हैं और आत्मा को मरने देना

चाहते हैं तो फिर जीवन का और खास कर इन्सान के जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं रहता। मनुष्य और पशु के जीवन में फिर अन्तर ही क्या रह जाता है? और अगर आप आत्मा को खुराक देना चाहते हैं--अहिंसा की साधना करना चाहते हैं तो आपको रोटी से वंचित होना पड़ेगा। रोटी से वंचित होने का मतलब है जीवन से और प्राणों से वंचित होना। यदि आप जीवन से ही वंचित होना चाहते हैं तो फिर अहिंसा की आराधना कहाँ करेंगे?

तब हमारे सामने दूसरा विकल्प उपस्थित होता है कि आत्मा और शरीर जैसे साथ-साथ रहते थे। उसी प्रकार क्या अहिंसा और रोटी साथ-साथ नहीं रह सकती? इसी प्रश्न पर हमें विचार करना है। जहाँ तक साधुवर्ग का सम्बन्ध है, कोई समस्या खड़ी नहीं होती, क्योंकि उन्हें गृहस्थों के घर से सीधा भोजन भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। मगर गृहस्थों के लिए यह बात नहीं है। वे भिक्षा माँग कर अपना निर्वाह नहीं कर सकते। सभी गृहस्थ भिक्षाजीवी बन जाएँ तो उन्हें भिक्षा मिलेगी भी कहाँ से? अतएव रोटी के लिए उन्हें कोई न कोई आजीविका या धन्धा करना पड़ता है। तो गृहस्थ व वह आजीविका, गृहस्थ की अहिंसा से विरुद्ध न हो, ऐसा कोई रास्त तलाश करना होगा।

तो जीवन की इस भूमिका में, रोटी चाहिए या नहीं, य प्रश्न महत्त्व नहीं रखता, किन्तु रोटी कैसी चाहिए, किस रूप

चाहिए और कहाँ से आनी चाहिए ? यही प्रश्न महत्त्वपूर्ण है । रोटी के साथ महान् हिंसा आई है या गृहस्थ के अनुरूप अल्पारंभ-अल्प-हिंसा आई है ? वह थोड़े से प्रयत्न से आई है या बहुत बड़ा अत्याचार और अन्याय करके आई है ? रोटी तो छीना-झपटी, लूटमार और डाका डाल कर भी आ सकती है और बेईमानियाँ करके भी आ सकती है । किन्तु वह रोटी, जिसके पीछे अन्याय और अनीति है, बुराई, छल-कपट, धोखा और फरेब है, आत्मा की खुराक के साथ नहीं रह सकती । वह रोटी, जो खून से सनी हुई आ रही है और जिसके चारों ओर रक्त की बूंदें पड़ी हैं, वह रोटी जहर बन जाती है । वह रोटी व्यक्ति का भी पतन करेगी और जिस परिवार में ऐसी रोटी आती है उस परिवार का, समाज का और राष्ट्र का भी पतन करेगी । वहाँ न साधु का धर्म टिकेगा और न गृहस्थ का ही धर्म रहेगा । वहाँ धार्मिक जीवन की कड़ियाँ टूट-टूट कर गिर जाएँगी ।

और जहाँ यह दाग कम से कम होंगे, वह रोटी अमृत बनेगी । वह जीवन का रस लेकर आएगी और उससे आत्मा और शरीर—दोनों का पोषण होगा । न्याय-नीति के साथ, विचार और विवेक के साथ, महारंभ के द्वार से नहीं, किन्तु अल्पारंभ के द्वार से आने वाली रोटी पवित्रता का रूप लेगी और वही अमृत-भोजन बनेगी । वह अमृत का भोजन मिठाई के रूप में नहीं होगा, रूखा-सूखा टुकड़ा होगा तब भी वह अमृत का भोजन है ।

दुनिया भर का बढ़िया भोजन थालियों में सजा है, किन्तु विवेक और विचार नहीं है, सिर्फ पेट भरने की भूमिका है तो वह कितना ही स्वादिष्ट और मधुर क्यों न हो, वह अमृत-भोजन नहीं है, ज़हर है। ऐसी भारत की परम्परा और जैन-संस्कृति की परम्परा रही है। दूसरे धर्मों को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि उनकी भी यही परम्परा रही है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा, अल्पारंभ और महारंभ, छोटी हिंसा और बड़ी हिंसा जीवन के चारों ओर फैली है। हमें उसमें से मार्ग तलाश करना है। हमें देखना है कि हम आत्मा और शरीर—दोनों को एक साथ खुराक किस प्रकार पहुँचा सकते हैं? हमें कौन-सा मार्ग लेना है कि जिससे न आत्मा का हनन करना पड़े और न शरीर का हनन करना पड़े?

हमारे सामने रोटी तक जाने के लिए दो रास्ते हैं। एक तो गृहस्थी में महारंभ के द्वार में से गुज़र कर जाना होता है, जिससे खुद के भी हाथ खून से रुनते जाएँ और दूसरों के भी सनते जाएँ और रोटी की तलाश में जिधर भी निकले, हिंसा का महाकाण्ड होता जाय। दूसरा मार्ग है गृहस्थ के अनुरूप अहिंसा का, कि थोड़े से प्रयत्न से, विवेक और विचार के साथ चला जाय और जीवन निर्वाह के लिए रोटी प्राप्त कर ली जाय और अन्याय-अत्याचार न करना पड़े, भयानक हत्याकाण्ड न करना पड़े। प्रश्न यह है कि हमें किस

रास्ते पर जाना चाहिए ? कौन-सा मार्ग आर्यमार्ग है और कौन-सा अनार्य-मार्ग है ?

कान सुनने के लिए हैं। उनसे गाली भी सुनते हैं, संसार के बुरे संगीत भी सुनते हैं। जिनसे आत्मा में वासनाएँ उत्पन्न होती हैं ऐसी बातें भी सुनी जाती हैं और वह आध्यात्मिक संगीत भी सुना जाता है, जो वासना में एक-एक चिनगारी भी लगा दे। तो क्या इन्द्रियों के उपयोग के सम्बन्ध में विवेक के साथ कुछ निर्णय नहीं करना चाहिए ?

मुँह का उपयोग किया जा रहा है—किसी दीन-दुखिया को ढाढस बँधाने के लिए, प्रेम की वाणी बोलने के लिए और दूसरी तरफ कठोर गाली देने के लिए और दूसरे का तिरस्कार करने के लिए। तो मुँह तो बोलने के लिए मिला है, मगर क्या बोलने के लिए मिला है ? यह निर्णय तो करना पड़ेगा।

संसार में रहते कानों से सुना भी जायगा, मुँह से बोला भी जायगा और इसी प्रकार खाया-पिया भी जायगा। मगर धर्मशास्त्र तो इसीलिए है कि उसके सहारे हम यह विवेक प्राप्त करें कि क्या सुनना चाहिए, क्या बोलना चाहिए और क्या खाना-पीना चाहिए ?

जब कोई जीव स्वर्ग में देव के रूप में उत्पन्न होता है, तो सैकड़ों-हजारों देवी-देवता उसके पास खड़े हो जाते हैं। वहाँ चारों ओर से एक ही प्रश्न टूट पड़ता है और उस प्रश्न का उत्तर ८

देवता को देना पड़ता है। वह प्रश्न है:—

किं वा दच्चा, किं वा भुच्चा ?

अर्थात्—तुम क्या देकर आए हो और क्या खाकर आए हो?

स्वर्ग में उत्पन्न होते समय पूरी तरह सांस भी न ले सकोगे और पहली अँगड़ाई लेकर उठोगे तभी तुम से यह प्रश्न पूछा जायगा कि क्या खाकर आए हो ? तब इस सम्बन्ध में विचार करना ही पड़ेगा कि मैं न्याय-नीति के अनुसार अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करके आया हूँ। मैंने महाहिंसा द्वारा रोटी नहीं पाई है। एक विवेकशील गृहस्थ की तरह, श्रावक के योग्य, जो भी खाया और खिलाया है सो महारंभ के द्वारा नहीं, किन्तु अल्पारंभ के द्वारा खाया और खिलाया है यही उत्तर वहाँ देना होगा।

मोक्ष और स्वर्ग की जो चर्चा होती है, वह मोक्ष और स्वर्ग की चर्चा नहीं, वास्तव में जीवन-निर्माण की और असली राह तलाश करने की चर्चा है। वह जीवन में अमृत का मार्ग तलाश करने की चर्चा है।

तो प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध में भी विवेक की आवश्यकता है। खेती-वाड़ी के रूप में जो धन्धे हैं वे किस रूप में हैं ? भगवान् ऋषभदेव ने कहा कि—अनार्य मार्ग से रोटी मत पैदा करो। जहाँ दूसरों का खून बहाया जाता है, और वह बिना विवेक-विचार के और महारौद्रभाव से बहाया जाता है, वे सब अनार्यकर्म हैं। शिकार खेलना,

मांस खाना, जुआ खेलना वगैरह सब अनार्य कर्म हैं। इन अनार्य कर्मों के द्वारा जो रोटी आती है, वह रोटी क्या, रोटी के रूप में पाप आता है। वह पाप जीवन का पतन करेगा।

हमारे यहाँ 'प्रासुक' कामों की बड़ी चर्चा चला करती है। प्रासुक काम वह कहलाते हैं जिनमें हिंसा न हो या अत्यल्प हिंसा हो। दो जुएबाज आमने-सामने बैठ गए। ताश का एक पत्ता उठा कर फैंका और हार-जीत हुई और हजारों इधर के उधर हो गए। ऊपर-ऊपर से ऐसा मालूम होता है कि इसमें कोई हिंसा नहीं हुई। दुकान करते हैं तो हिंसा होती है, दफ़्तर जाते हैं तो हिंसा होती है, जीविका के लिए कुछ और करते हैं तो भी हिंसा हुए बिना नहीं रहती, किन्तु जुआ खेलना ऐसा प्रासुक काम है कि उसमें हिंसा नहीं है। बहुतों की ऐसी समझ है। मगर विचार करना चाहिए कि यह महारंभ है या अल्पारंभ है ? अनीति है या नीति है ? आप विचार करें या न करें, शास्त्रों न निर्णय किया है और साफ बतला दिया है कि सात कुव्यसनों में जुआ खेलना पहला व्यसन है। मांस खाने और मद्य पीने की गणना बाद में की गई है, पहले जुए की ही गर्दन पकड़ी गई है। यद्यपि जुआ खेलने में बाहर से कोई हिंसा दिखाई नहीं देती, मगर अन्दर हिंसा का कितना गहरा दाग है जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारों को उजाड़ देता है, सिर्फ एक पत्ते के रूप में। जुआरी का अन्तःकरण कितना संक्लेशमय रहता है, कितना व्याकुल रहता है

और जुए की बदौलत कितनी अनीति और कितनी बुराइयाँ जीवन में प्रवेश करती हैं, इन बातों को आप चाहे न देख सकते हों, मगर शास्त्रकार की दूरदर्शी दृष्टि से कुछ छिपा नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के सोचने का ढंग कुछ और होता है और शास्त्रकारों का ढंग कुछ और ही होता है।

तो आशय यह है कि अन्न अपने आप में जीवन की बहुत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। कपड़े की भी आवश्यकता है और दूसरी चीजों की भी आवश्यकता है परन्तु पेट भरने की आवश्यकता सबसे पहली है। अन्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि संसार भर का धन एक तरफ पड़ा है और अन्न एक तरफ पड़ा है तो तराजू में अन्न का पलड़ा भारी रहेगा और दूसरी चीजों का पलड़ा हल्का रहेगा।

जैनाचार्यों ने सम्राट् विक्रमादित्य का जीवन लिखा है। एक बार सम्राट् हाथी पर सवार होकर निकल रहे थे। मंत्री और सेनापति पास में बैठे थे। जब अनाज की मंडी में से सवारी निकली तो सम्राट् ने अपने मंत्री से कहा—'कितने हीरे बिखरे पड़े हैं!'

मंत्री ने इधर-उधर आँखें घुमाकर और आँखें फाड़-फाड़ कर देखा। उसे कहीं हीरे नजर न आए। तब वह बोले—हुजूर, हीरे कहाँ हैं?

सम्राट् ने कहा—तुम्हें मालूम ही नहीं कि हीरे कहाँ पड़े हैं? इतना कह कर सम्राट् उछल कर हाथी से नीचे उतरे और धूल में से

अन्न के उन बिखरे दानों को उठा कर बड़े प्रेम से खा गए।* फिर सम्राट् ने कहा—अन्न के यह दाने पैरों के नीचे कुचलने के लिए नहीं हैं। इन हीरों का महत्त्वपूर्ण स्थान मुँह के सिवाय और कहाँ है? यही इनके लिए तिजोरी है और सुरक्षित स्थान है।

सम्राट् ने फिर कहा—'जो देश अन्न का अपमान करता है, उसके विषय में जितनी लापरवाही करता है, वह उतनी ही हिंसा करता है और उतनी दूसरों की रोटियाँ छीनता है, दूसरों के कंठ मसोसता है।' और कहते हैं—वह अन्नपूर्णा देवी साक्षात् आई और उसने कहा—तुमने मेरा इतना आदर किया है अतः तुम अपने जीवन में कभी अन्न की कमी महसूस नहीं करोगे। तुम्हारे देश में अन्न का भण्डार अक्षय रहेगा।

आरण्यक में कहा है:—

अन्नं न निन्द्यात् ।

अर्थात्--अन्न की निन्दा मत करो, अवहेलना और तिरस्कार मत करो। यही कारण है कि भारत की संस्कृति में जूठन छोड़ना पाप समझा जाता है। यानी जितना भोजन आवश्यक हो उतना ही लिया जाय और जूठन छोड़ कर मोरियों में व्यर्थ न बहाया जाय। जो जूठन छोड़ते हैं वे अन्न देवता की अवहेलना करते हैं।

इस तरह अन्न का एक-एक दाना सोने के दाने से भी महँगा

* देखिए, उपदेश—तरंगिणी।

है। सोने के दानों के अभाव में कोई मर नहीं सकता, मगर अन्न के दानों के बिना हजारों नहीं लाखों ने छटपटा कर प्राण त्याग दिये हैं। परिस्थितियाँ आने पर ही अन्न की असली कद्र मालुम होती है। जिनके यहाँ भण्डार भरा है वे भले अन्न की कद्र न करें, मगर एक दिन आता है कि भंडार खाली होते हैं और अन्न अपनी कद्र करा लेता है।

अन्न रहेगा तो धर्म, ज्ञान, विज्ञान वगैरह सब खड़े रहेंगे, और यदि अन्न न रहा तो वह सब भी काफूर हुए बिना न रहेंगे। आप जानते हैं न कि जैनसाहित्य-मूल आगमसाहित्य का बहुत-सा भाग विच्छिन्न हो गया है। वह कहाँ चला गया? कैसे चला गया? आपने सुना होगा कि बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा और उस समय अन्न के एक-एक दाने के लिए इन्सान मरने लगे। उस समय पेट का प्रश्न ही सब से बड़ा और महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया और उसके आगे स्वर्ग और मोक्ष के प्रश्न गौण हो गए। जैन इतिहास कहता है कि वह विशाल साहित्य अन्न के अभाव में, भूख की भयानक ज्वालाओं में भस्म हो गया। कहते हैं-लोग हीरों और मोतियों के पिटारे भर कर लाते थे, वह पिटारा अर्पण करते और हजारों मिन्नतें करते थे, और साथ ही आँसुओं के मोती अर्पण करते तब कहीं मोतियों के बराबर जवार के दाने मिलते थे। उन्हीं पर किसी तरह गुजर किया जाता था। जब ऐसी स्थिति थी तो वह ज्ञान, विज्ञान,

विचार और विवेक कहाँ ठहरता ? बड़े-बड़े सन्त, त्यागी और वैरागी, जिनको जाना था वे तो संथारा करके आगे की दुनिया में चले गये। पर जो नहीं जा सके, वे लोग घबरा गये भूख के मारे ! उस समय की परिस्थिति पर विचार कीजिए। जो साधक एक दिन बड़ी शान से साम्राज्य को भी ठुकरा कर आये थे वे ही अन्न के थोड़े-से दानों के अभाव में-रोटी न मिलने पर-डगमगा गये।

वास्तव में यह जीवन का प्रश्न है। इसका ठीक तरह से अध्ययन करेंगे तब तो हमें राह मिलेगी और चिन्तन नहीं करेंगे तो राह नहीं मिलेगी। सही चिन्तन करने पर आपको स्पष्ट मालूम होने लगेगा कि वास्तव में भाग्यशाली वही है जिसकी अन्न सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है और जिसकी यह आवश्यकता-पूर्ति नहीं होती, उसके भाग्य का कोई अर्थ नहीं रहता।

मगर आजकल लोगों ने पुण्य की कसौटी दूसरी ही बना रक्खी है। वे जीवन के पुण्य को हीरों, जवाहरात, सोने और चाँदी से तोलते हैं। जहाँ हीरों का ज्यादा ढेर लगा हो वहाँ ज्यादा पुण्य समझा जाता है। मगर जब पुण्य को इस रूप में तोलना शुरु किया तो जीवन में सब से पहले गड़बड़ शुरु हुई। इस सम्बन्ध में आपको विचारना है कि शास्त्रकार क्या कहते हैं, आप क्या कहते हैं, और दूसरे साथी क्या कहते हैं ?

थोड़ा विचार कीजिए। गम्भीर होकर सोचिए। एक गृहस्थ

है, उसके यहाँ खेती-बाड़ी का धन्धा होता है। वह परिश्रम के द्वारा रोटी कमाता है, न्याय-नीति में रहता है। दूसरा परिवार एक कसाई का है। उसके यहाँ प्रतिदिन हजार पशु कत्ल किये जाते हैं और इस धन्धे के कारण उसके यहाँ हीरों और जवाहरात के ढेर लगे हैं। अब अगर किसी को जन्म लेना है तो इन दो परिवारों में से किस परिवार में जन्म लेना पुण्य है? उसका धर्म उसे किधर ले जायगा? अगला जन्म वह किसान के यहाँ या कसाई के यहाँ लेगा? धर्मनिष्ठ किसान गरीब तो है मगर शास्त्रकार कहते हैं कि असली पुण्य वही है और वह पुण्यानुबंधी पुण्य है जो यहाँ भी प्रकाश देता है और आगे भी प्रकाश देता है और रोशनी से रोशनी चलती जाती है। मारवाड़ी भाषा में कहते हैं—'उससे सुखे सुखे मोक्ष प्राप्त होता है।*'

पापाचार के द्वारा रुपये, पैसे, अठन्नियाँ और चवन्नियाँ ज्यादा मिल गईं तो किस काम की? रोटी विवेक, विचार और नीति के साथ मिल जाय तो वह पुण्य का मार्ग है। दुनिया भर के अत्याचारों के बाद और खून बहा कर अगर हीरे और मोती भी मिल जाएँ तो हमारे यहाँ वह पुण्य का मार्ग नहीं माना गया है।

आप क्या कहते हैं? किस परिवार में जन्म लेना पसन्द करते हैं? हमारे यहाँ एक श्रावक ने, जो बड़े विचारशील हो चुके हैं, यह कहा है कि मुझे अन्याय और अत्याचार के सिंहासन पर यदि चक्र-

* देखिए, उत्तराध्ययन सूत्र ३, १७

वर्त्ती का साम्राज्य भी मिले तो नहीं चाहिए और अनन्त-अनन्त काल तक के लिए भी नहीं चाहिए। मेरे सत्कर्मों के फल रूप, मेरी तो यही भावना है कि मुझे अगला जन्म ही न लेना पड़े। अगर जन्म लेना पड़े ही तो मैं ऐसे किसी परिवार में ही जन्म लूँ जहाँ विवेक हो, विचार हो, न्याय और नीति हो; फिर चाहे उस परिवार में बरतन मांजने का ही काम मुझे क्यों न करना पड़े !

यही ठीक-ठीक निर्णय है। आपके पूर्वजों का यह निर्णय, भारत की मूल संस्कृति का निर्णय है और यह वह निर्णय है जो जैनधर्म का अपना निर्णय है। इसमें जो मस्ती है, जो आनन्द है वह अन्यत्र कहाँ है ?

मैं आप से पूछता हूँ—दो यात्री चले जा रहे हैं। बहुत बड़ा मैदान है, सैकड़ों कोसों तक गाँव नहीं है। भयङ्कर रास्ते से गुजर रहे हैं। उन दोनों को भूख लग आई। भूख के मारे छटपटाते हुए, व्याकुल होते हुए चले जा रहे हैं। उस समय अकस्मात् वे एक तरफ दो थैले पड़े हुए देखते हैं। उन्हें देख कर वे अपने को भाग्यशाली समझते हैं और फैसला करते हैं कि यह तेरा और वह मेरा। अर्थात् वे दोनों उन थैलों का बँटवारा कर लेते हैं। वे थैलों के पास पहुँचते हैं और अपने-अपने थैले को खोलते हैं। एक में भुने चने निकलते हैं और दूसरे में हीरे और मोती निकलते हैं। अब आप निर्णय कीजिए कि वास्तव में कौन भाग्यशाली है और किसके पुण्य का उदय हुआ

है ? जिसे जवाहरात का थैला मिला है वह उन्हें लेकर अपने सिर से मार लेता है और कहता है कि इनकी अपेक्षा तो दो मुट्ठी चने मिल जाना ही अच्छा था ! उनसे प्राण तो बच जाते ! ऐसी स्थिति में जीवन की दृष्टि से उन हीरों और मोतियों का क्या मूल्य है ?

जिसे अन्न का थैला मिला, वह बाग़-बाग़ हो जाता है कि न जाने किस जन्म का पुण्य आड़े आ गया है ।

इसके लिए मैं तो कहूँगा कि शास्त्रों को भी टटोलने की जरूरत नहीं है, सिर्फ जीवन को टटोलने की जरूरत है और अध्ययन करने की आवश्यकता है ।

भारत की संस्कृति के एक आचार्य ने कहा कि अन्न की निन्दा करना पाप है । जूठन छोड़ना हमारे यहाँ हिंसा है, क्योंकि वह अन्न का अपव्यय है, और कम खाना पुण्य है । कम खाना तो पुण्य है, मगर खाने को कम मिलना क्या है ? आपके सामने तीन चीजें हैं— ज्यादा खाना, कम खाना और कम खाने को मिलना । ज्यादा खाने के विषय में तो आपने कह दिया कि ग्रन्थकारों का कहना है कि ज्यादा खाने वाला अगले जन्म में अजगर बनता है । और कम खाना धर्म माना गया है । अपने यहाँ जो ऊनोदरी तप है और जो अनशन के बाद आता है, बड़ा उत्कृष्ट तप है । तपों में एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा सूक्ष्म होता जाता है; यानी महत्त्वपूर्ण होता जाता है । एक आचार्य ने कहा है कि अनशन की अपेक्षा ऊनोदर

तप बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण क्या है? अनशन तप में बिलकुल ही नहीं खाया जाता, खाने की तरफ ध्यान ही नहीं दिया जाता, मगर ऊनोदर में कम खाया जाता है। खाने के लिए बैठना और जब स्वादिष्ट चीजों के खाने का मजा आ रहा हो तो भी अधूरा खाना मुश्किल होता है। किये जाते हुए भोजन के रस को बीच ही में छोड़ देना, भोजन बिलकुल ही न करने की अपेक्षा अधिक त्याग-वृत्ति माँगता है। यह बड़ा इन्किलाब है, क्रान्ति है। इस प्रकार कम खाना हमारे यहाँ धर्म माना गया है।

पर खाने को कम मिलना क्या है? इसे पाप मानते हैं। भारत की संस्कृति कहती है कि कम खाना तो धर्म है किन्तु कम खाना मिलना पाप है। जिस देश के बच्चों, बूढ़ों और नौजावनों को खाना नहीं मिलता है, उस देश की व्यवस्था करने वालों के लिए भी वह गुनाह है। कम खाने की शिक्षा अवश्य दी गई है, पर खाना कम क्यों मिलना चाहिए? कम खाना मिलना अपने आप में एक पाप है, और ऐसी बुराई है जो हजारों दूसरी बुराइयों को पैदा करती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि धर्म को, पुण्य को या सत्कर्म को हीरों और मोतियों से तोलना गलत बात है और यह गलत राह पकड़ ली गई है। उसे तो जीवन की आवश्यकताओं से ... चाहिए। जीवन की किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की—हीरों

हरात से साक्षात् पूर्ति नहीं हो सकती। सोने की रोटियाँ खाकर, मोतियों का शाक बनाकर और हीरे का 'पानी' पीकर कोई अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता। उसके लिए तो अन्न की ही आवश्यकता पड़ती है। अमीर हो या गरीब, दोनों को अन्न की राह पर चलना होता है। आखिर जीवन तो जीवन की ही राह पर चलेगा। इस सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा है:—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसंज्ञा विधीयते॥

यह संस्कृत का पद्य है, जिसका मैंने हिन्दी में पद्यानुवाद इस तरह किया है:—

भूमंडल में तीन रत्न हैं, पानी अन्न सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकड़ों में करते, रत्न-कल्पना पामर प्राणी॥

वास्तव में इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न चमक रहे हैं—जल, अन्न और सुभाषित वाणी। नदी, तालाब या नहर में जो जल बह रहा है, उसके एक-एक बूंद की मोतियों और हीरों से भी तुलना नहीं की जा सकती। जो तोलता है वह गलती करता है। और अन्न का एक-एक दाना चमकता हुआ रत्न है, जिसकी रोशनी हीरों की चमक को भी मात करती है। तीसरा रत्न है सुभाषित वाणी अर्थात् मीठा बोल। ऐसा बोल, जो लगे हुए घाव पर मरहम का काम करे, प्रेम का उपहार अर्पण कर दे, बेगानों को अपना बना दे और जब मुँह

से निकले तो ऐसा लगे कि फूल झर रहे हैं ऐसा सुभाषित भी रत्न है।

जो मूढ़ हैं—यहाँ आचार्य मूढ़ शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो मुझे भी करना पड़ रहा है, अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं। किन्तु पूर्वोक्त तीन रत्न और हैं और यह चमकते हुए पत्थर के टुकड़े और चीज़ हैं।

रामायणकाल की घटना में ऐसा ही सुन्दर तथ्य कहा गया है।* जब रामचन्द्रजी चौदह वर्षों का वनवास भोग कर, रावण से लड़ाई लड़ने के बाद सीता और वानरों को साथ लेकर अयोध्या लौटे तो परिवार के लोग और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार उनके स्वागतार्थ सामने गए। हजारों की संख्या में जनता वहाँ जा पहुँची। रामचन्द्रजी ने सब से क्षेम-कुशल पूछी तो एक ही प्रश्न किया—घर में सब ठीक है, धान्य की कमी तो नहीं है?

कुछ लोग रामचन्द्रजी के प्रश्न का मर्म नहीं समझ सके। उन्होंने सोचा—मालूम होता है, महाराज भूखे आये हैं। तभी तो यह नहीं पूछा कि—रत्न-भंडार तो भरे हैं? और यह भी नहीं पूछा कि घर में कितना धन है? वरन् यह पूछा कि घर में धान्य की कमी तो नहीं है! इस तरह लोग कहने लगे—वन में खाने को नहीं मिला, इसीलिए महाराज के ध्यान में रोटी ही रोटी रह गई है।

लोगों की इस भावना को समझने में रामचन्द्रजी को देर नहीं

* देखिए, उपदेश-तरंगिणी।

लगी। उन्होंने सोचा—जिनके पेट भरे हुए हैं उनकी निगाह अन्न से हट कर अन्यत्र भटक गई है। इसीलिए ये लोग मेरे प्रश्न के महत्त्व को नहीं समझ सके और मुस्कराने लगे हैं।

रामचन्द्रजी अयोध्या में आ गये। एक दिन कहा गया कि महाराज रामचन्द्रजी वनवास से सकुशल लौट आये हैं, सो नगर-निवासियों को प्रीतिभोज देना चाहते हैं, अतः सब लोगों को निमंत्रण है। अमुक समय निश्चित कर दिया गया और सब लोग आ पहुँचे। न्यौता सब को प्यारा होता है। साधारण घर का मिले तो भी लोगों को वह बड़ी चीज़ मालूम होता है; फिर कहीं सम्राट् के घर का मिल जाय तब तो कहना ही क्या है? आज जवाहरलाल नेहरू के यहाँ यदि किसी को एक गिलास पानी ही क्यों न मिल जाए, देखिए, उससे भी अभिमान की कितनी अधिक पुष्टि होती है। हाँ, तो नियत समय पर सब लोग जीमने आये और पंगत बैठी। रामचन्द्रजी ने कहा—भैया, हम अपने हाथों से परोसेंगे! और फिर परोसना शुरु किया। हीरों और मोतियों की भरी हुई थालियाँ आईं। राम ने एक-एक मुट्ठी सब की थाली में परोस दिये!

भारतीय परम्परा है कि जिमाने वाले की आज्ञा मिलने पर ह भोजन करना आरम्भ किया जाता है। लोगों ने सोचा कि हीरे औ तो पहले-पहल भेट-स्वरूप परोसे गये हैं, भोजन तो अब आएगा मगर रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—भोज

आरम्भ कीजिए।

लोग पशोपेश में पड़ गए कि अब क्या खाएँ ? खाने की कोई चीज तो परोसी ही नहीं गई है !

रामचन्द्र बोले--क्या हुआ ? एक-एक हीरा लाखों के मूल्य का है, अनमोल है। आप सोच-विचार में क्यों पड़े हैं ?

लोग बोले—महाराज, अनमोल तो हैं, मगर इनसे जेब अवश्य भरी जा सकती है, पेट नहीं भरा जा सकता। पेट तो पेट के तरीके से ही भरा जाएगा।

राम ने फिर कहा--बड़ी सुन्दर चीजें हैं ! ऐसी चीजें तो देखने में भी नहीं आतीं। यह तो पेट के लिए हैं।

लोग कहने लगे--मगर इन्हें पेट में डालें कैसे ? यह पेट की नहीं, जेब की खुराक है।

अब रामचन्द्रजी ने असली मर्म खोला। बोले—उस दिन मैंने प्रश्न किया था कि घर में धान्य की कमी तो नहीं है, तो तुम लोग धन के मद में हँसने लगे थे। तुम्हारी आँखों में तो धन का महत्त्व है। तुम्हें हीरे और मोती ही चाहिएँ। धान्य की जरूरत ही क्या है ? बस, धन मिल गया तो ठीक है, उसी से जीवन निभ जाएगा।

इसके बाद रामचन्द्रजी ने फिर कहा—अब आप समझ गये। धन से पहला नम्बर धान्य का है। धान्य मिलेगा तो धन कमाने के

लिए हाथ उठेगा और धान्य नहीं मिलेगा तो एक कौड़ी कमाने के लिए भी हाथ नहीं उठ सकता ! तुम्हारे संकल्प गलत रास्ते पर चले गये हैं, अतः सही स्थिति तुम नहीं समझ रहे हो। अन्न की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। अन्न का अपमान करने वाला राष्ट्र अपमानित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस देश के लोग अन्न को हीन दृष्टि से देखने लगें, वह देश दुनिया के द्वारा हीन-दृष्टि से क्यों न देखा जायगा ?

अन्न की समस्या जीवन की प्रमुख समस्या है। इसी कारण भगवान् ऋषभदेव जब इस संसार में अवतीर्ण हुए और उन्हें भूखी जनता मिली तो धर्म का उपदेश देने से पहले उन्होंने आजीविका का ही उपदेश दिया और उसमें कृषि ही एक मात्र ऐसी आजीविका थी जिसका सम्बन्ध साक्षात् उदरपूर्ति से था। हजारों आचार्यों ने उनके उपदेश को अधर उठा लिया और कहा कि उन्होंने इतना पुण्य प्राप्त किया कि हम उसकी कोई सीमा नहीं बाँध सकते। भगवान् ने जो आर्यवृत्ति सिखलाई उसका वर्णन आचार्यों ने भी किया और मूल सूत्रकारों ने भी किया।

लोग कह सकते हैं कि उस समय भगवान् गृहस्थ थे, इस कारण उन्होंने गृहस्थी का मार्ग सिखला दिया। बात ठीक है, कृषि को सभी गृहस्थ का—संसार का मार्ग कहते हैं। कौन कहता है कि वह मोक्ष का मार्ग है ? मगर प्रश्न तो नीति और अनीति का है।

गृहस्थ की आजीविका दोनों तरह से चलती है। कोई गृहस्थ नीति से अपना निर्वाह करता है और कोई अनीति से, जुआ खेल कर, कत्लखाना खोल कर, शिकार करके, चोरी करके या ऐसा ही कोई और अनीति का धन्धा करके निर्वाह करता है। आप इनमें से किसे अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं ?

जहाँ नीति है वहाँ पुण्य है। भगवान् ने संसार की नीति सिखलाई, अनीति नहीं सिखलाई। शिकार खेलना सिखा देते तो वह भी एक आजीविका का मार्ग है पर वह अनीति का मार्ग है। अतएव भगवान् ने नहीं सिखाया।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में, जहाँ युगलियों की जीवनलीला का वर्णन है और यह उल्लेख है कि भगवान् ने उन्हें तीन कर्म सिखलाए। यह भी कहा है—

पयाहियाए उवदिसइ ।

अर्थात् प्रजा के हित के लिए, कल्याण के लिए यह सब कलाएँ सिखाईं।

भगवान् के द्वारा उन कलाओं का सिखलाया जाना रिपट पड़े की हरगङ्गा नहीं था। एक बूढ़ा, सर्दी के मौसम में, गङ्गा के किनारे-किनारे जा रहा था। उसका पैर फिसल गया और वह गङ्गा में गिर पड़ा। जब गिर ही पड़ा तो कहने लगा—'हर गङ्गा, हर गङ्गा।' इसे रिपट पड़े की हर गङ्गा कहते हैं। भगवान् ने इस तरह बिना

समझे-बूझे कलाएँ नहीं सिखलाई। उन्होंने विवेक के साथ विचार किया, नीति पर निगाह रक्खी और प्रजा के कल्याण की कल्पना की। लोगों को नरक के द्वार पर पहुँचाने के लिए नहीं, वरन् कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करने के लिए, राक्षस बनाने के लिए नहीं, वरन् इन्सान की इन्सानियत को कायम रखने के लिए कृषि आदि कलाओं का शिक्षण दिया।

२५-१-५०

श्रावक और स्फोटजीविका

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न इतना टेढ़ा है कि जब तक गहराई में पैठ कर, इन पर विचार नहीं करेंगे, तब तक उसकी वास्तविक रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकेगी। अकसर देखा जाता है कि लोग शब्दों को पकड़ कर चल पड़ते हैं, फलतः उनके हाथ में किसी तत्त्व का केवल एक खोखा मात्र रह जाता है और रस उसका निचुड़ जाता है। जिस फल का रस निचुड़ जाता है और केवल ऊपरी खोखा ही रह जाता है, उसका कोई मूल्य नहीं होता। वह केवल भार है। उसका और कोई अर्थ नहीं है। हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में भी आजकल यही देखा जाता है। प्रायः लोग हिंसा-अहिंसा के शब्दों को ऊपर से पकड़ कर बैठ गये हैं, इस कारण उक्त शब्दों के भीतर रहा हुआ मर्म उनकी समझ में नहीं आ सका है।

हिंसा और अहिंसा का मर्म समझाने के लिए कई दिनों से

आपका समय लिया जा रहा है। उसका उपयोग केवल मनोरंजन के रूप में नहीं करना है। हमारा आशय है कि अहिंसा की स्पष्ट रेखा जनता के सामने आनी ही चाहिए और जब तक वह नहीं आएगी, हम धर्म के प्रति और समाज के प्रति भी प्रामाणिक नहीं रहेंगे। अतएव बारीकी से सोचना चाहिए कि हिंसा-अहिंसा क्या है?

यह एक लम्बी चर्चा है। अक्सर लोग जब इस प्रश्न पर विचार करने के लिए शास्त्रों के पन्ने पलटते हैं तो पहले से ही कुछ आग्रह रख कर चलते हैं। और जब इस तरह चलते हैं तो उनका आग्रह एक तरफ टकराता है और शास्त्रों की आवाज़ दूसरी तरफ टकराती है। ऐसी स्थिति में प्रायः आग्रह की आवाज तो सुन ली जाती है और शास्त्रों की आवाज के स्वर दूर जा पड़ते हैं, सुनाई नहीं देते। मगर इससे सचाई हाथ नहीं आती, वास्तविकता का पता नहीं चलता; सिर्फ थोड़ा-सा आत्म-सन्तोष मिल पाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी तत्त्व पर विचार करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो। तटस्थ बुद्धि ही सच्चा निर्णय दे सकती है।

एक न्यायाधीश है और वादी तथा प्रतिवादी उसके न्यायालय में आते हैं। किन्तु न्यायाधीश यदि किसी एक के पक्ष में पहले से ही बुद्धि रख लेता है तो वह जज की कुर्सी या न्याय के सिंहासन का उत्तरदायित्व पूरी तरह नहीं निभा सकता। आपको ज्यों ही यह बात मालूम पड़ती है, आप उस न्यायालय को छोड़ कर दूसरे न्यायालय

में जाने की प्रार्थना करते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि फैसला किसी
एक के ही हक में होगा, किन्तु निर्णय देने से पहले ही यदि निर्णय
कर लिया जाता है और दिमाग में पहले से ही पक्षपात का भाव भर
लिया जाता है तो न्याय का उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अदा नहीं किया
जा सकता। पक्षपात की दुर्गन्ध आती है तो कर्त्तव्य धुँधला पड़
जाता है। यही बात शास्त्रों के सम्बन्ध में भी होती है। अतः जब
हम किसी भी शास्त्रीय विषय पर गहराई से विचार करने के लिए
उद्यत हों तो पहले अपनी बुद्धि को निष्पक्ष अवश्य बना लें, तटस्थ
जरूर रखें। निष्पक्ष बुद्धि रख कर चलेंगे तो सिद्धान्त और जीवन
को भी परखेंगे और समाज एवं देश के कर्त्तव्यों को भी परखेंगे।
अन्यथा शास्त्रों की गर्दन भी मरोड़ेंगे और अपने जीवन को भी नहीं
परख सकेंगे। आचार्य हरिभद्र ने एक बड़ी सुन्दर बात कही है:—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

जब कदाग्रही और पक्षपाती मनुष्य किसी सिद्धान्त पर विचार
करता है, तब वह शास्त्रों को, दलीलों को और उक्तियों को भी
खींच कर घसीटता हुआ वहीं ले जाता है जहाँ उसकी बुद्धि ने पहले
से ही कदम जमा लिया है। ऐसे लोग शास्त्र के आशय को और
औचित्य को भी नहीं देख पाते। बस, उनका ध्येय यही होता है कि
किस प्रकार मेरी धारणा को पुष्टि मिले। किन्तु जो पक्षपात से रहित

होता है वह अपनी बुद्धि, कल्पना या धारणा को वहीं ले जाता है जहाँ युक्ति या शास्त्र का कथन उसे ले जाता है।

पक्षपात किसे कहते हैं? पक्ष का अर्थ 'पंख' है। पक्षी जब उड़ता है तो उसके दोनों पंख ठीक और सम रहने चाहिए। तभी वह ठीक तरह से गति कर सकता है, उड़ान भर सकता है और लम्बे-लम्बे मैदानों को झपाटे से पार कर सकता है। अगर उस पक्षी का एक पंख टूट जाय तो वह उड़ नहीं सकता। इसी प्रकार जहाँ पक्षपात हुआ, मनुष्य एक पक्ष के सहारे चला वहाँ सिद्धान्त, विचार और चिन्तन ऊँचे नहीं उठते हैं। वे रेंगते हैं। तो पक्षपात का अर्थ है—सत्य के पंख टूट जाना। आवश्यकता इस चीज की है कि जब हम सिद्धान्त के किसी विषय पर विचार करें तो अपना दिल और दिमाग साफ रक्खें और गम्भीर विचार-मंथन से सत्य का जो मक्खन निकले उसे ग्रहण कर लेने को तैयार रहें।

पहले हमारी बुद्धि विशाल थी तो हम आग्रह को, अहंकार को और किसी एक व्यक्ति को महत्त्व नहीं देते थे किन्तु सत्य को अवश्य महत्त्व देते थे और सत्य की पुजा करते थे। जहाँ सत्य की पूजा होती है वहाँ ईश्वर की पूजा है। नारियल चढ़ा देना, नैवेद्य चढ़ा देना या मस्तक झुका देना पुजा नहीं है, किन्तु सत्य की पूजा ही ईश्वर की सच्ची पूजा करना है।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से आगे बढ़ता है और अपनी बद्धमूल

मान्यताओं एवं आग्रह को ठुकरा देता है और उसके बदले सामने आने वाले सत्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है, सत्य को वन्दना करता है, वही मर्म को पा सकता है, वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है, चाहे वह नौजवान हो, बच्चा हो या बूढ़ा हो, गृहस्थ हो या साधु हो, वह अपने आप में बहुत ऊँचा उठ सकता है। उसके जीवन की दौड़ ईश्वरीय दौड़ हैं। वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊँचाई पर ले जाता है, गिरावट की ओर नहीं ले जाता।

सत्य का मार्ग सुगम नहीं है। वह बड़ा पेचीदा है और टेढ़ा है। इतना टेढ़ा कि जिसके लिए भारत के एक सन्त ने कहा है:—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

—कठोपनिषद्

अर्थात्—छुरे की धार पर चलना कठिन है। जिस मार्ग में छुरे बिछे हों और तलवारों की नोकें ऊपर को उठी हों, उस मार्ग पर चलने वाला, नाचने वाला कितनी सावधानी से और कितनी बड़ी तैयारी के साथ एक-एक कदम रखता है और कितनी तटस्थता रखता है और आखिर नाच ही जाता है। मगर सत्य की राह छुरे की धार से भी टेढ़ी है और विद्वान् उसे दुर्गम बताते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् भी वहाँ चलते-चलते गड़बड़ में पड़ जाते हैं।

किन्तु इसमें किसी से घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता

नहीं है । यह तो मार्ग ही ऐसा है कि डिग जाना, फिसल जाना या विचलित हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है । गीता में कृष्ण ने भी कहा है:—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

अर्थात्—कर्म क्या है और अकर्म क्या है? धर्म क्या है और अधर्म क्या है? पुण्य क्या है और पाप क्या है ? इसका निर्णय करने में बड़े-बड़े विद्वान् भी चकरा जाते हैं ।

अतएव इस मार्ग पर पंडिताई का भार लाद कर भी नहीं चला जा सकता । इस पर तो सत्य की दृष्टि लेकर, अपने आपको सत्य के चरणों में समर्पित करके ही चला जा सकता है—चला जाना चाहिए । व्यर्थ की पण्डिताई का भार लाद कर चलोगे तो निर्णय नहीं कर सकोगे । सत्य के प्रति गद्गदभाव और सहज भाव लिए हुए साधक चलेगा तो सम्भव है उसे सत्य का पता लग जाय । इसके अभाव में विद्वान् भी सत्य की झाँकी नहीं पा सकता ।

आपका अध्ययन कितना ही अल्प क्यों न हो, यदि सत्य को ही आपने अपना लक्ष्य बना लिया है और सहज भाव से उसे ग्रहण करने के लिए आप तैयार हैं तो अवश्य ही सत्य के निकट पहुँच सकते हैं । इसके विपरीत बड़े-बड़े विद्वान् भी अहंकार और पाण्डित्य के फेर में पड़ कर सत्य के द्वार तक भी नहीं पहुँच सकते ।

इस सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने ऊँची-ऊँची बातें कह

दी हैं, इतनी ऊँची कि हमारे विचारों के हाथ इतने ऊँचे नहीं कि हम उन बातों को छू भी सकें।

परन्तु सत्य के महत्त्व के सामने महान् से महान् व्यक्ति भी हीन है। हम व्यक्ति को महत्त्व देते हैं किन्तु विचार करने से विदित होगा कि उसे वह महत्त्व सत्य के द्वारा ही मिला है। अपने आप में व्यक्ति का क्या महत्त्व है? वह तो हड्डी और मांस का ढांचा है। मगर जब वह सत्य की पूजा के लिए चल पड़ता है, सत्य की ही परछाई में रहता है और सत्य के साम्राज्य में विचरता है तो उसकी पूजा की जाती है, उसका आदर-सम्मान किया जाता है। वह पूजा, वह आदर और सम्मान उसके ढाँचे का नहीं, उसकी सत्यनिष्ठा का है।

एक आदमी सीधा खड़ा होता है और उसका सिर अगर छत से छू जाता है तो उसकी हड्डियों की उँचाई देखने वालों को तमाशा जरूर बन सकती है, पर वह हमारी श्रद्धा, भक्ति का पात्र नहीं हो सकता। किन्तु विचारों की, जीवन की और सत्य की जो उँचाई है वही आदर-सम्मान की चीज बनती है। यह उँचाई तमाशा नहीं, चरणों में झुकने की चीज है।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि आप व्यक्तियों को क्यों महत्त्व देते हैं? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, इस प्रकार कह कर आप लाठियाँ चलाते हैं और सत्य जो खड़ा-खड़ा कुछ

कह रहा है उसकी पुकार नहीं सुनते! यह स्थिति देख कर दुःख होता है कि यह कैसी गड़बड़ चल रही है। अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और व्यक्ति का जो महत्त्व है वह केवल सत्य की ही बदौलत है। सम्प्रदाय का, समाज का और व्यक्ति का महत्त्व सत्य के पीछे है। सत्य के बड़प्पन से ही व्यक्ति में बड़प्पन आता है।

एक जैनाचार्य बहुत बड़ी बात कह गये हैं, जो बड़े विद्वान् हो चुके हैं और जिनकी विद्वत्ता को काल की छाया भी धुँधला नहीं कर सकी। उनकी वाणी हम आपके सामने रख रहे हैं। वे कहते हैं—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।

—हरिभद्र

भगवान् महावीर के प्रति हमें पक्षपात नहीं है। वे हमारी जाति-बिरादरी के नहीं और सगे-सम्बन्धी भी नहीं हैं। किन्तु आखिरकार वे भगवान् हो गये हैं तो उनकी वाणी के सम्बन्ध में हम जो विचार करते हैं सो किसी तरह का पक्षपात लेकर विचार नहीं करते। और कपिल आदि जो ऋषि-महर्षि हो गये हैं, उनके प्रति हमें द्वेष नहीं है, घृणा नहीं है। जो भी सत्य के उपासक आये हैं, हम उन सब के विचारों को लेकर बैठ गये हैं और उन सब की वाणी का चिन्तन और मनन करते हैं। जिसके विचार सत्य की कसौटी पर खरे उतरते

हैं उसी के विचारों को स्वीकार करते हैं और उसी का आदर-सन्मान भी करते हैं।

ऐसा मालूम पड़ता है कि आचार्य ने भगवान् को भी तराजू पर रख दिया है, किन्तु आचार्य सत्य को तोल रहे हैं और वह बराबर तोला जा रहा है। यदि इस तराजू पर अमुक सम्प्रदाय-विशेष को रख कर तोला जाए तो वह तोल पर पूरा उतरता नहीं है। हाँ, सत्य को रख कर तोलने चलोगे तो वह तोल ठीक होगी।

आखिर आपको सोचना चाहिए कि आप भगवान् की पूजा क्यों करते हैं ? उनका सत्कार और सन्मान क्यों करते हैं ? आखिर उनके पीछे जो सत्य-मार्ग है वही तो उनकी पूजा और उनका सत्कार-सन्मान करवाता है।

भारत के एक बड़े आचार्य ने तो भगवान् के ही मुँह से कहलाया है:—

तापाच्छेदान्निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ! ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात् ॥

भगवान् ने अपने सब शिष्यों के सामने कहा—हे भिक्षुओ ! साधुओ ! मेरे वचनों को भी जाँचो। मेरे वचनों को भी परखो। जाँचने और परखने के पश्चात् यदि वे ग्रहण करने योग्य लगें तो ग्रहण करो। मेरे बड़प्पन के कारण ही मेरे वचनों को मत मानना। सत्य का पक्ष न रखकर मात्र गुरु का ही पक्ष रखना किसी प्रकार उचित नहीं है।

कितनी बड़ी बात कही है ! जो सत्य का निर्णय करने चले हैं, वे व्यक्ति विशेष को ज्यादा महत्त्व नहीं देते, सत्य को ही ज्यादा महत्त्व देते हैं। कहा है:—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

सिर के बाल पक जाने से ही कोई बड़ा नहीं हो जाता। बड़ा वह है जिसके विचार स्पष्ट हो गये हैं, फिर भले ही वह उम्र से छोटा ही क्यों न हो। जिसके विचारों में कोई समझ नहीं आई है, उसका सारा सिर बगुले की तरह सफेद हो जाय तो भी वह बड़ा नहीं है।

जो चर्चा चल रही है, उसके सम्बन्ध में सही निर्णय पर पहुँचने के लिए इतनी भूमिका के ऊपर हमें रोज संकल्प करके बैठना ही चाहिए। तभी हम सत्य के किनारे पहुँच सकेंगे।

प्रश्न यह है कि हिंसा और अहिंसा अपने आप में दो चीजें हैं। जैनधर्म क्या सिखलाता है ? जैनधर्म हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की राह बतलाता है या अहिंसा से हिंसा की ओर जाने का मार्ग बतलाता है ? जैनधर्म अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है या प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता है ? जो प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाता हो वह धर्म नहीं, गुरु नहीं और भगवान् भी नहीं है। अगर आप इस बात को स्वीकार करते हैं तो आपको यह भी स्वीकार करना चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव जनता को, जिसमें हम लोग भी शामिल हैं, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गये थे; प्रकाश

से अन्धकार की ओर नहीं।

माना कि भ० ऋषभदेव ने आरम्भ में जो कुछ भी सिखलाया, वह गृहस्थ अवस्था में सिखलाया; मगर उस समय भी उन्हें कौन-सा सम्यक्त्व प्राप्त था? शास्त्रों के अनुसार उन्हें क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्राप्त थी। इसका अर्थ यह है कि उनकी विचार दृष्टि में लेश मात्र भी मैल नहीं था। जहाँ थोड़ी-बहुत भी मलिनता होती है वहाँ क्षयोपशम-सम्यग्दृष्टि होती है। मलिनता की न्यूनाधिकता के कारण क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि अनेक प्रकार की होती है; परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि पूरी तरह पवित्र और निर्मल होती है और जहाँ पूर्णता है वहाँ भेद नहीं होता। यही कारण है कि मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों के जहाँ सैकड़ों भेद किये गये हैं वहाँ क्षायिक ज्ञान–केवल ज्ञान एक ही प्रकार का बतलाया गया है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के असंख्य भेद हैं, जब कि क्षायिक सम्यक्त्व अखण्ड है। आखिर क्षायिक सम्यक्त्व में यह विशिष्टता क्यों आई? यदि इसमें मिथ्यात्वमोहनीयजन्य अर्थ-विचारों का जरा भी मैल होता तो अवश्य ही किसी न किसी अंश में भेद हो जाता। जहाँ अपूर्णता है वहाँ भिन्नता अनिवार्य है और जहाँ अभिन्नता है, अखण्डता है, वहाँ पूर्णता अवश्य है। क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका इतनी विशुद्ध है कि वहाँ दर्शन सम्बन्धी विकारों का मैल नहीं है। और जब मैल नहीं रहा तो वह अखण्ड-निर्विकल्प हो जाता है।

तो भगवान् को निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त था। आप अन्दाज लगाइए कि उसके लिए कितनी अनुकम्पा होनी चाहिए? सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, यह सम्यक्त्व के लक्षण हैं। किन्तु जो सब से अधिक चमकता हुआ गुण है और जिससे समकित की परख की जाती है, वह है अनुकम्पा।

भगवान् के हृदय में कितनी दया, कितनी करुणा और अनुकम्पा थी? उनके अन्तःकरण में करुणा का सागर लहरा रहा था। वे जो प्रवृत्ति करते, उसमें भले ही अनिवार्य हिंसा हो, मगर उस हिंसा के पीछे भी करुणा रहती थी। कदाचित् आप कहेंगे कि अन्धकार और प्रकाश को कूट कर एक किया जा रहा है? किन्तु ऐसा नहीं है। हिंसा आचार से होती है मगर विचार में तो दया और करुणा का झरना बहता रह सकता है।

आशय यह है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार सम्बन्धी आंशिक मैल खप सकता है मगर क्षायिक सम्यक्त्व में नहीं खप सकता। भगवान् ऋषभदेव की जो प्रवृत्ति हुई है वह क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से हुई है। और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि समकित तो हो मगर अनुकम्पा न हो? सम्भव नहीं कि सूर्य हो मगर रोशनी न हो, मिश्री की डली रहे किन्तु मिठास न हो। ऐसी बात बनने वाली नहीं है। तो समकित के साथ अनुकम्पा का अविनाभाव है। अनुकम्पा

के बिना सम्यक्त्व रह नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

इस दृष्टि से विचार करेंगे तो साफ मालूम होगा कि भगवान् की जो प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो रही ही होगी। दया का झरना तो बहता ही रहा होगा और उस बहाव के साथ ही सारी क्रियाएँ हुई होंगी। तो उस समय की उस परिस्थिति में, जब कि जनता पर विपत्ति के घने बादल छाये हुए थे, भयानक संकट मुँह फैलाये खड़ा था और लोगों को अपने प्राण बचाने के लाले पड़ रहे थे, उनके सामने मौत नाच रही थी, भगवान् ऋषभदेव ही एक मात्र सहारे थे, वही प्रकाश की किरण थे। करुणानिधान भगवान् ने उन्हें उस भीषण संकट से उबारने के लिए कृषि सिखलाई, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प बतलाए। तो भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप में हुई? वह हिंसा के रूप में नहीं हुई, लोगों को गलत राह पर भटकाने के लिए नहीं हुई। भगवान् उन लोगों को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले गये, न कि प्रकाश से अन्धकार की ओर। शास्त्रकार इस बात को भूले नहीं। इसीलिए जब जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में युगलियों सम्बन्धी वर्णन किया और उस वर्णन में पन्ने के पन्ने भर दिये, तो साथ में एक महत्त्वपूर्ण पद जोड़ दिया:—

पयाहियाए उवदिसइ।

अर्थात्—प्रजा के हित के लिए यह सब उपदेश दिया।

शास्त्रकार ने इतना कह कर भगवान् की जो मर्यादाएँ थीं वे व्यक्त कर दीं। इस प्रकार भगवान् ने जो किया उसके पीछे अनुकम्पा थी और जहाँ अनुकम्पा है, हितभावना है, वहाँ अहिंसा है।

'पयाहियाए' इस एक पद ने भगवान् की भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है। जब तक यह पद सुरक्षित है और हम चाहते हैं कि वह आगे भी सुरक्षित रहे, उससे भगवान् की दया का परिचय मिलता रहेगा।

अब आप समझ सकते हैं कि भगवान् ने कृषि आदि की जो शिक्षा दी, उसके पीछे उनकी दृष्टि क्या थी? वे जनता को हिंसा से अहिंसा की ओर ले गये। वे चाहते थे कि लोग महान् आरम्भ की ओर न जाकर अल्पारंभ की ओर जाएँ। अगर अल्पारंभ से महारंभ की ओर ले जाते तो इसका अर्थ होता-प्रकाश से अन्धकार की ओर ले गये। उन्होंने भोली और भूखी जनता को ऐसा कर्त्तव्य बतलाया कि वह महारंभ से बच जाय और साथ ही अपना पेट भी पाल ले, अपनी जीवन पद्धति का निर्णय भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

आज भी उद्योग-धन्धों के रूप में जो हिंसा होती है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। और जैनधर्म तो छोटी से छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बतलाता है। गृहस्थों की बात जाने दें, संसार-त्यागी साधुओं की ही बात लें तो उनमें भी क्रोध, मान, माया और लोभ के अंश मौजूद रहते हैं और इस कारण उन्हें भी पूर्णतया

अहिंसा का सर्टिफिकेट नहीं मिल जाता है। साधु जीवन में भी आरंभिया और मायावत्तिया क्रिया लगती ही रहती है। जब पूर्ण अप्रमत्त अवस्था आती है—तो आरंभिया क्रिया छूट जाती है किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी चलती रहती है, यद्यपि उस हिंसा में आरम्भ टूट जाता है। उस दशा में हिंसा रहती है मगर आरंभ नहीं रहता, यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ द्रव्यहिंसा तो है किन्तु भावहिंसा नहीं है। ज्यों ही साधक जागृत होता है, त्यों ही उसमें अप्रमत्त भाव आता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी द्रव्यहिंसा तो रहती है मगर भावहिंसा नहीं रहती।

अब देखना चाहिए कि जीवन के क्षेत्र में, श्रावक जब उद्योग-धन्धे के रूप में काम करता है तो क्या वह सब एकान्त हिंसा की दृष्टि से ही करता है या उद्योग-धन्धे की दृष्टि से भी कुछ करता है? उसका उद्देश्य जीवों को मारना होता है या उद्योग-धन्धे के उद्देश्य से उद्योग करना होता है?

कृषि के सम्बन्ध में भी यही दृष्टि रख कर सोचना चाहिए। देहात के सैकड़ों किसान सवेरे-सवेरे उठकर खेतों में धन्धा करते हैं। हमने उधर (पंजाब और उत्तरप्रदेश) के किसानों को देखा है। वे कृषि का धन्धा करते हैं किन्तु प्रायः बड़े ही भावपूर्ण और श्रद्धालु होते हैं। सम्भव है वह श्रद्धा आप में भी न हो। उनमें इतना प्रेम है

और उनके हृदय रस से इतने भरे होते हैं कि न पूछिए। पसीने से तर खेतों से आये हैं किन्तु ज्यों ही साधु को देखा तो झट से उनके पास आते हैं और सामायिक 'पचखा' देने की प्रार्थना करने लगते हैं। वे बराबर सामायिक और पौषध वगैरह करते हैं। साधु गोचरी के लिए निकलते हैं तो छीनाझपटी शुरु हो जाती है। वह चाहता है मेरे घर पधारें और दूसरा चाहता है कि पहले मेरे घर को पवित्र करें।

वे किसानी का धन्धा करने वाले लोग जब सुबह में हल लेकर चलते हैं तो किस भावना से चलते हैं? क्या वे इस दृष्टि से चलते हैं कि खेत में जीव बहुत इकट्ठे हो गये हैं तो चल कर उनका खात्मा किया जाय? नहीं, वहाँ तो दृष्टि उद्योग की होती है। यदि दृष्टि में विवेक और विचार है तो वह कृषक आरंभ में भी अंशतः अनारंभ की दशा प्राप्त कर लेता है। कहने का आशय यह है कि कृषक आरंभ का संकल्प लेकर नहीं चला है और जब काम करता है तो यह वृत्ति नहीं है कि इन जीवों को मार डालूँ। हिंसा करने का उसका संकल्प नहीं है, हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नहीं करता है। उसका एक मात्र संकल्प धन्धा करना है, जीवन-निर्वाह करना है और यदि उसमें विवेक है तो वह वहाँ भी जीवों को इधर-उधर बचा देता है।

बहिनें घर में झाड़ू लगाती हैं। ऐसा करने में हिंसा अवश्य होती है किन्तु उनकी दृष्टि हिंसा करने की—जीवों को मारने की नहीं

होती। मकान को साफ-सुथरा रखने की ही भावना होती है और यह भी कि जीव-जन्तु पैदा न होने पाएँ।

जहाँ तक विचार काम देते हैं, 'यावद्बुद्धि बलोदयम्' प्रयत्न करना चाहिए कि जीव किसी न किसी प्रकार बच जाएँ। ऐसा विवेक हो तो आरंभ में भी अंश विशेष के रूप में कुछ न कुछ अनारंभ की भूमिका बनती जाती है।

विचारक और अविचारक की कलम चलने में भी फर्क होता है। ऐसे ही हल चलने में भी अन्तर होता है। हमारे यहाँ 'कलम-कसाई' शब्द भी प्रचलित है। कलम कसाई नहीं हो गई, किन्तु किसी की गर्दन काटने के विचार से जो कलम चलाता है, वह कलम-कसाई हो जाता है। अगर कोई ईमानदारी के साथ खाता लिखता है तो वह कलम-कसाई नहीं कहलाता है। सभी जगह यही बात है।

इस प्रकार अपने दिमाग को साफ रख कर सोचा जाय तो प्रतीत होगा कि श्रावक के उद्योगी हिंसा होती है, संकल्पी हिंसा नहीं होती। श्रावक साल भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर दो-चार सौ रुपयों की उपज करता है। उसी श्रावक को अगर यह कहा जाय कि, यह एक मकोड़ा या कीड़ा जा रहा है इसे मार दो। मैं तुम्हें हजार रुपया दूँगा। तो क्या वह कृषक श्रावक उसे मारेगा? जब खेती करने में असंख्य जीव मर जाते हैं, रात-दिन कठिन परिश्रम करना पड़ता है और फिर भी दो-चार सौ की ही उपज होती है और

इधर सिर्फ एक मकोड़ा या कीड़ा मारने से ही हजार रुपये मिल रहे हैं, तब भी वह कृषक मकोड़ा क्यों नहीं मार देता ? फिर भी वह मकोड़ा मारने को तैयार नहीं होता और सारे प्रलोभनों को ठुकरा देता है। आप कहेंगे कि खेती में तो वह प्रयोजन के लिए हिंसा करता है, तो यहाँ भी उसे हजार रुपये मिल रहे हैं। क्या यह प्रयोजन नहीं है ? मगर यहाँ तो वह प्रयोजन के लिए भी हिंसा करने को तैयार नहीं होता। इसका कारण यही है कि हजार रुपया के प्रलोभन में पड़ कर उस मकोड़े को मारना संकल्पी हिंसा है और किसान श्रावक ऐसी संकल्पी हिंसा नहीं करता है। और खेती-बाड़ी में जो हिंसा हो रही है वह उद्योगी हिंसा है। हम संकल्पी और उद्योगी हिंसा के भेद को अगर ठीक तरह समझ जाएँ तो बहुत-सी समस्याओं का निपटारा हो जाय और अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हट जाएँ।

राजा चेड़ा और कोणिक में युद्ध हुआ। कदाचित् कोणिक यह कहता कि अच्छा, हार और हाथी, हल विहल के पास रहने दो, मैं दोनों चीजें छोड़ देता हूँ, मगर शर्त यह है कि तुम इस मकोड़े को मार दो। तो क्या चेड़ा राजा ऐसा करने के लिए तैयार होता ? ऊपरी दृष्टि से, जिससे साधारण लोग देखते हैं, यह सौदा महँगा नहीं, सस्ता ही था। लाखों मनुष्यों के बदले एक मकोड़े की जान लेने से ही फैसला हो जाता। कितनी हिंसा बच जाती ? मगर नहीं, वहाँ मकोड़े और मनुष्य का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है संकल्पी

और विरोधी हिंसा का। वहाँ न्याय और अन्याय का प्रश्न है। संघर्ष और विरोध है तो चेड़ा और कोणिक के बीच है, उस बेचारे मकोड़े ने क्या गुनाह किया है कि उसकी जान ले ली जाय? मकोड़े को मारने में संकल्पी हिंसा है और वह भी निरपराध की संकल्पी हिंसा है और उधर लाखों मनुष्य मारे गये हैं वह संकल्पी हिंसा नहीं है। जहाँ निरपराध की संकल्पी हिंसा होगी, वहाँ श्रावक की भूमिका नहीं रहेगी। इसी कारण इतने मनुष्यों को मारने के बाद भी चेड़ा का श्रावकपन सुरक्षित रहा और यदि वे एक मकोड़ा मार देते तो उनके श्रावकपन के टुकड़े-टुकड़े हो जाते।

यह हिंसा-अहिंसा के मार्मिक दृष्टिकोण हैं। इस पर गम्भीरता और निष्पक्षता के साथ विचार करना चाहिए।

खेती में महारंभ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया? समग्र जैन साहित्य में 'फोडीकम्मे' ही एक ऐसा शब्द है, जिससे इस भ्रम को उत्पन्न किया है। मगर हमें 'फोडीकम्मे' के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। 'फोडी' शब्द संस्कृत के 'स्फोट' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है धमाका होना, या धड़ाका होना। जब सुरंग खोद कर उसमें बारूद भर दी जाती है और उसे आग लगाई जाती है तो धड़ाका होता है और चट्टान के टुकड़े-टुकड़े होकर इधर-उधर उछल कर गिरते हैं। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा

देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यह है कि बारूद के जरिये धड़ाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं किया जाता। खेतों में बारूद भर कर आग नहीं लगाई जाती और न बारूद से जमीन जाती है। जमीन तो हल से जोती जाती है, न कि स्फोट किया जाता है। जोधपुर से एक सज्जन आये थे। उनके साथ एक बच्चा था और वह सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उसने सातवीं कक्षा का व्याकरण भी पढ़ा था। मैंने उस बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाने चाहता है। इसके लिए जमीन 'जोतना' कहा जायगा या 'फोड़ना' कहा जायगा? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग क्या है? उस बालक को भी 'जोतना' प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती जाती है, फोड़ी नहीं जाती। हल से जमीन का फोड़ना तो दूर रहा, जमीन खोदी भी नहीं जाती। खोदना तब कहलाता है जब गहरा गड़हा किया जाय। हल से जमीन कुरेदी जरूर जाती है।

व्याकरण का मुझे अच्छा ज्ञान है। दावा तो नहीं करता, मगर व्याकरण के पीछे कई वर्ष घोले अवश्य हैं। तो इस नाते मैं बोल रहा हूँ और चुनौती के साथ कहता हूँ कि फोड़ना, खोदना और कुरेदना अलग-अलग चीजें हैं। खोदना फावड़े या कुदाल से

होता है, हल से फोड़ना या खोदना नहीं होता।

संस्कृत भाषा के 'कृषि' शब्द को ही ले लीजिए। कृषि का अर्थ होता है विलेखन। कृष् धातु कुरेदने के अर्थ में ही आती है। क्या पाणिनि-व्याकरण और क्या शाकटायनव्याकरण, सर्वत्र कृष् धातु का अर्थ विलेखन करना ही है।

अभिप्राय यह है कि जमीन जोतना 'फोडीकम्मे' के अन्तर्गत नहीं है। फोडीकम्मे का संस्कृत रूप 'स्फोटकर्म' होता है और पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन में हल चलाना न तो स्फोट करना है और खोदना ही है, क्योंकि जमीन जोतते समय न धड़ाका किया जाता है और न गड्ढे किये जाते हैं।

वास्तव में स्फोटकर्म या फोडीकम्मे तब होता है जब सुरंगें खोद कर और उनमें बारूद भर कर पलीता लगाने का धड़ाका किया जाता है। पहले के युग में और आज के युग में विशाल खानें खोदी जाती थीं या खोदी जाती हैं। टांची से विशालकाय पत्थर कहाँ तक खोदे जा सकते हैं? तो उनमें छेद करके बारूद भर दी जाती है और ऊपर से पलीता लगा दिया जाता है। जब बारूद में आग भड़कती है तो चट्टानें टूट-फूट कर उछलती हैं। और जब वे उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश में रहे हुए जानवर और इन्सान तक भी कभी-कभी मर जाते हैं। कई निर्दोष प्राणियों के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और कई-एक घायल हो जाते हैं।

देहली की घटना है। एक बार हम शौच के लिए पहाड़ पर गये। हम गये ही थे कि कुछ मजदूर भाग कर आये और बोले—महाराज, भागो, भागो। जब मैं विचार करने लगा तो उनमें से एक ने कहा—'क्या बाबा, मरेगा? क्या यहाँ पर हत्या देगा?' तब तो हम ने भी पीछे को तेज कदम लिये। मैं कुछ कदम गया ही था कि इतने में ही वहाँ बारूद फटी, धमाका हुआ और उसके साथ ही पत्थर के बड़े-बड़े-से टुकड़े उछल कर आ गिरे। मैं जरा-सा बच गया, वर्ना वहीं हत्या देनी पड़ती।

ऐसे स्फोटों से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी ठिकाना नहीं रहता है। कभी-कभी जोरदार धमाके से पहाड़ भी खिसक जाते हैं और न जाने कितने मनुष्य दब कर मर जाते हैं, जिनका शायद पता भी नहीं चलता। तो ऐसा स्फोटकर्म महारंभी है और महाहिंसा है और मानवहत्या का काम है।

लोग सुरंगों में घुसते हैं और जब गैस पैदा हो जाती है तो अन्दर के अन्दर ही उनका दम घुट जाता है। अभी कुछ ही दिनों पहले हम खेतड़ी गाँव से गुजरे तो मालूम हुआ कि एक खान में आदमी दब गये हैं। वे बेचारे खान में काम कर रहे थे। जमीन धँस गई और वे वहीं दब कर खत्म हो गये।

ऐसे कामों में पंचेन्द्रिय की और पंचेन्द्रियों में भी मनुष्यों की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोटकर्म को

महान् हिंसा में गिना। श्रावक करुणा और दया लेकर चलता है, उसे यह स्फोटकर्म शोभा नहीं देता। भगवान् महावीर का यह दृष्टिकोण था, मगर दुर्भाग्य से उसका आज खयाल ही सर्व साधारण को नहीं रहा है। इसके बदले इधर-उधर की बातें लेकर चल पड़े हैं। जनहित के लिए कुआ खुदवाना तो महारंभ और कोई दूसरा काम किया तो भी महारंभ बताने लगे। अगर कोई जैन राजा हो जाय तो वह जनता के हित का कोई काम ही नहीं कर सकता, क्योंकि महारंभ हो जायगा। और जनता के सम्बन्ध में वह यदि विचार न करे तो वह मरा हुआ मांस का पिण्ड ही हो जायगा। यानी वह खुद तो दुनिया भर के भोग भोगता रहे किन्तु जनता के हित के लिए कोई काम न करे! इन्हीं विचारों में से और इसी प्रकार की भ्रान्त धारणा में से राजस्थान में पहले एक पन्थ का जन्म भी हुआ है।

अभिप्राय यह है कि जैनधर्म कोरे आदर्श या कल्पना में चलने वाला नहीं है। यह तो यथार्थवादी धर्म है। वह आदर्श को अपने सामने रखता है अवश्य, मगर उसकी निगाह रहती है व्यवहार पर, वास्तविकता पर। उसने स्फोटकर्म किसे बतलाया था और हम उसे भूल कर क्या समझ बैठे हैं। जो लोग खेती कर रहे हैं, उन्हें महारंभी कहने लगे और महारंभी कह कर उन्हें भी कसाइयों की श्रेणी में रख दिया। ऐसा करने वालों ने वास्तव में क्या किया है? वे समझते हैं कि हम कृषि की आजीविका को गर्हित ठहरा रहे हैं पर वे

वास्तव में कत्लखाने की आजीविका की भयानकता और गर्हितता को कम कर रहे हैं; क्योंकि उसे वे कृषि की कोटि में रख रहे हैं।

एक कसाई और एक कृषक जब यह सुनता है कि कसाईखाना चलाना भी महारंभ है और कृषि भी महारंभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नहीं मिल सकती। वह कृषक की कोटि में पाकर उत्साह का अनुभव करेगा और सन्तोष मानेगा और उसे त्याग देने का विचार कर रहा होगा तो भी नहीं त्यागेगा। और कृषक जब यह जानेगा कि उसकी आजीविका भी कसाई की आजीविका के समान है और उसे इस बात पर विश्वास हो जायगा तो कौन कह सकता है कि कृषि जैसे श्रमसाध्य धन्धे को त्याग कर वह कसाईखाने की आजीविका नहीं करने लगेगा ?

खेद है कि इस प्रकार भ्रान्ति में पड़ कर और गलत विवेचनाएँ करके हमने भगवान् महावीर के उपदेशों की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाई, बल्कि घटाई है।

एक गृहस्थ देहली में दर्शन करने आये। मैंने पूछा—कहिए, क्या बात है ? उन्होंने कहा—'महाराज, आपकी कृपा है, बड़े आनन्द में हूँ। महाराज, मैं पहले बहुत दुखी था। खेती का काम करता था तो महाहिंसा का काम होता था। अब जमीन बेच कर चांदी का सट्टा करता हूँ, बस कोई झगड़ा-टंटा नहीं है। न जाने किस पाप का उदय था कि मैं पहले खेती के काम में फँसा था।'

दो महीने बाद वही गृहस्थ एक दिन रोते हुए-से मेरे पास आये। पूछा-क्या हाल है? उन्होंने कहा—मर गये। किसी काम के नहीं रहे। सारी पूँजी दे बैठे।

अरे, तुम्हारा तो पूर्व पुण्य का उदय हुआ है और प्रासुक काम की शुरुआत हुई है, फिर बर्बाद कैसे हो गए।?

हाँ तो गलत दृष्टिकोण जनता को मिल जाता है, उससे महाहिंसा को उत्तेजना मिलती है। यह न करो, वह न करो, इस तरह उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड़ कर दूसरे सट्टे आदि के पथ पर लगा दिया जाता है। फिर वह न घर का रहता, न घाट का रहता है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम जैनधर्म की वास्तविकता को समझें, साफ दिमाग रख कर समझें, साफ दिल से समझें और फिर कोहरे की तरह छाये हुए भ्रमों को दूर कर दें।

२६-७-५१

आर्यकर्म-अनार्यकर्म

जैनधर्म की अहिंसा इतनी विराट है कि ज्यों-ज्यों उस पर विचार करते है, उतनी ही वह अधिकाधिक गम्भीर होती जाती है। जैनधर्म ने सूक्ष्म अहिंसा के सम्बन्ध में जितना विचार किया है, स्थूल अहिंसा के सम्बन्ध में भी उतना ही विचार किया है। यह बात नहीं हैं कि वह निष्क्रिय होकर पड़े रहने की सलाह दे और जब कर्त्तव्य की बातें आएँ, जीवन-व्यवहार में अहिंसा को उतारने का प्रसंग चले, तो चुप रह जाय। ऐसा होता तो जैनधर्म आज दुनिया के सामने खड़ा भी नहीं रह सकता था। वह बालू की दीवार की तरह दूसरे धर्मों और मतों के मामूली झौंकों से ही ढह जाता। मगर वह ऐसा शिथिल और बेबुनियाद नहीं है। वह क्या गृहस्थ और क्या साधु सभी के कर्त्तव्यों का स्पष्ट रूप से निर्देश करता है। दुर्भाग्य से हमारे कुछ साथियों ने जैनधर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भुला

दिया है, फलतः कुछ ने तो स्पष्ट 'हाँ' या 'ना' न कह कर एक मात्र मौन की ही राह पकड़ ली है। पर इस तरह बच-बच कर बातें करने से कब तक काम चलेगा? अगर कोई गृहस्थ विद्यालय अथवा औषधालय आदि खोलता है तो वह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो करना ही चाहेगा कि वह जो कार्य कर रहा है वह धर्म है या पाप है? गोलमोल भाषा में कहा जा सकता है कि विद्यालय या औषधालय खोलना-खुलवाना अच्छा है, पर सोचना तो यह है कि वह केवल लोकभाषा में अच्छा है या धार्मिक दृष्टि से भी अच्छा है? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर आना पड़ेगा। केवल लोक-धर्म, राष्ट्रधर्म या गृहस्थधर्म कहने से काम नहीं चलेगा।

मौन धारण करने से भी काम नहीं चलने का। कोई कुछ बात पूछे और मौन हो रहें तो इसका अर्थ यही समझा जायगा कि कहीं कोई गड़बड़ है, दाल में काला है और आप में कहीं न कहीं दुर्बलता है।

इन सब उलझनों के कारण राजस्थान के एक पंथ ने तो स्पष्ट रूप से 'ना' कहना शुरु कर दिया है। उसका कथन है—इन सांसारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन? हम से तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूँ, वे केवल आत्मा की ही बात करने वाले व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं? औषधालयों में जा-जा कर दवाइयाँ क्यों लाते

हैं ? चलते-फिरते क्यों हैं ? यह तो आत्मा की बातें नहीं हैं ! केवल आत्मा सम्बन्धी बातें करने वालों को संसार से कोई ताल्लुक ही नहीं रखना चाहिए। वे शहरों में क्यों रहते हैं ? जंगल की हवा क्यों नहीं खाते ? लम्बे-लम्बे भाषण झाड़ कर श्रोताओं का मनोरंजन करने की उन्हें क्या आवश्यकता है ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, उदरदेव की पूर्ति तो सब को करनी ही पड़ती है। ऐसा नहीं हो सकता कि 'करेमि भंते' का पाठ बोलते ही अर्थात् साधुदीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन को अपना कर देहोत्सर्ग कर दे।

गृहस्थ अपनी उदरपूर्ति करेगा तो उद्योग-धन्धे करेगा, खेती करेगा या व्यापार करेगा। वह भिक्षापात्र लेकर तो अपना निर्वाह नहीं कर सकता है ! साधु-जीवन में भी आखिर भिक्षा रूप उद्योग करना ही पड़ता है। इस दृष्टि से साधु का जीवन भी एक प्रकार से उद्योग पर ही टिका हुआ है। अपनी भूमिका के अनुरूप प्रयत्न वहाँ भी है। इस प्रकार गृहस्थ और साधु—दोनों अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रवृत्ति या प्रयत्न करते हैं। जैनधर्म अगर साधुओं को भोजन पकाने का आदेश नहीं देता तो साधारण गृहस्थ को भिक्षा माँग कर निर्वाह करने का भी विधान नहीं करता। क्या जैनधर्म गृहस्थ से कहता है कि सीधी रोटी खाना धर्म है और कर्त्तव्य-पथ में जूझ कर रोटी खाना अधर्म है ? पर हमारे कई भाइयों ने यह समझ

लेया है कि भिक्षा माँग कर खाना धर्म है और कर्त्तव्य करके रोटी कमाना-खाना पाप है ! परन्तु जो रोटी न्यायनीतिपूर्वक, पुरुषार्थ से, उत्पादन से प्राप्त की जाती है, क्या वह पाप की रोटी है ?

जो लोग ऐसी रोटी को पाप की रोटी बतलाते हैं, मैं कहता हूँ, उन्होंने जैनशास्त्रों के आशय को ठीक तरह नहीं समझा है। वे गलतफ़हमी में पड़े हैं। उनका कहना है कि गृहस्थ तो प्रवृत्ति में पड़ा हुआ है, इसलिए उसकी कमाई हुई रोटी पाप की रोटी है और यदि वह भिक्षा माँग कर सीधा खाता है तो प्रासुक होने से वह धर्म की रोटी है। पर जैनधर्म के आचार्यों ने हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने वाले, परश्रमोपजीवी गृहस्थों को भिक्षा से निर्वाह करने का अधिकार कहाँ दिया है ? ऐसे सामान्य गृहस्थों के लिए भिक्षा का विधान ही कहाँ है ? जो हट्टे-कट्टे होकर भी दूसरों के श्रम के आसरे माल उड़ाते हैं, और भिक्षा करके जीवन बिताते हैं, उनकी भिक्षा को हमारे यहाँ 'पौरुषघ्नी' भिक्षा बतलाया गया है।* सामान्य गृहस्थ की भूमिका श्रम करने की है, भिक्षा माँग कर खाने की नहीं।

इस प्रकार जीवन तो चाहे साधु का हो या गृहस्थ का, प्रवृत्ति के बिना चल नहीं सकता। इतना ही नहीं, प्रवृत्ति के बिना संसार में क्षण भर भी नहीं रहा जा सकता। गीताकार कहते हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

* देखिए, आचार्य हरिभद्र का भिक्षाष्टक

अर्थात्—कोई भी व्यक्ति क्षण भर भी कर्म किये विना नहीं रह सकता।

यदि सारा संसार भिक्षापात्र लेकर निकल पड़े तो रोटियाँ आएँगी भी कहाँ से? क्या आकाश से रोटियाँ बरसने लगेंगी? कोई देव आकाश से रोटियाँ नहीं बरसाएगा। उनके लिए तो यथोचित प्रयत्न, प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना पड़ेगा। प्रवृत्ति कोई छोड़ ही नहीं सकता, वह तो सहज भूमिका आने पर, काललब्धि आने पर, स्वतः छूट जाएगी। जब प्रवृत्ति छूटने का दिन आएगा तब वह अपने आप छूटेगी।

भगवान् शान्तिनाथ आदि ने चक्रवर्त्ती राज्य छोड़ा या वह भोग्य कर्म समाप्त होने पर यथासमय अनायास ही छूट गया?

आपको कहना पड़ेगा कि छोड़ने की भूमिका आने पर ही छोड़ा गया। जब तक छोड़ने की भूमिका नहीं आई, नहीं छोड़ा गया। अगर छोड़ना था तो पहले ही क्यों नहीं छोड़ दिया? क्या पहले राज्य में आसक्ति थी? या उनमें छोड़ने की ताकत नहीं थी? या उन्हें धर्मजीवन की वास्तविकता ज्ञात नहीं थी? नहीं, यह सब कुछ नहीं था। काललब्धि नहीं थी, इसलिए पहले नहीं छोड़ा गया।

वृक्ष में फल लगता है। परन्तु जब तक वह कच्चा रहता है तब तक डंठल से बँधा रहता है—झड़ता नहीं है। जब पक जाता है तो अपने आप टूट कर गिर जाता है, उसे तोड़ने की आवश्यकता

नहीं रहती।

त्याग भी दो तरह से होता है। एक त्याग हठपूर्वक होता है जो किसी आवेश में आकर किया जाता है, पर उसमें त्यागी हुई वस्तु से, सूक्ष्म रूप में, सम्बन्ध बना रहता है। ऐसे त्याग से पतन की सम्भावना बनी रहती है। दूसरा त्याग सहजत्याग है जो समुचित भूमिका आने पर अपने आप हो जाता है। दार्शनिक भाषा में हम इसे 'छूट जाना' कह सकते हैं, 'छोड़ना' नहीं।

आपने आर्द्रकुमार की कथा पढ़ी है? आर्द्रकुमार जब दीक्षित होने लगे तो आकाशवाणी होती है—'अभी तुम्हारा भोगावली कर्म पूरा नहीं हुआ है। अभी समय बाकी है, समय आने पर संयम लेना।' परन्तु आर्द्रकुमार ने आकाशवाणी की उपेक्षा की। कहा—'क्या चीज होते हैं कर्म! हम उन्हें नष्ट कर देंगे, तोड़ डालेंगे।' और उन्होंने दीक्षा ले ली। चल पड़े वे साधना के पथ पर। वे बड़े ही तपस्वी थे। साधना की भट्टी में उन्होंने अपने शरीर को झोंक दिया और समझने लगे कि आकाशवाणी झूठी हो जायगी। किन्तु निमित्त मिलते ही उन्हें वापिस लौटना पड़ा। वे फिर उसी स्तर पर आ गये और 'पुनर्मूषिको भव' वाली गति हुई। उनके अन्दर जो कमजोरी रही हुई थी, उसके कारण उन्हें वापिस लौटना पड़ा।

पहली कक्षा के विद्यार्थी को जब तीसरी कक्षा में ले लिया जाता है तो वह उसके भार को सँभाल नहीं सकता। यही कारण

है कि स्कूलों में जब विद्यार्थी किसी कक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसे उसी कक्षा में रक्खा जाता है। उसके लिए यही विकास है।

इस प्रकार गृहस्थी छोड़ी जाय तो फल पकने पर यानी परिपक्व स्थिति में छोड़ी जाय। ऐसा न हो कि कर्त्तव्य और दायित्व से घबरा कर भाग खड़े हों और ऊपर की ओर व्यर्थ ही छलांगे मारने लगें।

हमारे यहाँ साधु-जीवन ऊँचा है। उसके प्रति लोगों में श्रद्धा भी है। पर जो साधक गलत और अधूरी तैयारी करके ही आगे बढ़ जाते हैं, वे साधु-वेष लेकर भी फिसल जाते हैं, सहज-भाव में नहीं रहते। साधु का जीवन सहज भाव में बहना चाहिए। अतः जैनधर्म हठाग्रह-पूर्वक छोड़ने की अपेक्षा आत्मभाव की उच्चता के कारण सहज भाव के रूप में छूट जाने को ही अधिक महत्त्व देता है।

दुर्भाग्य से आज श्रावक, साधु की भूमिका की ओर दौड़ता है और साधु, गृहस्थ की भूमिका की तरफ दौड़ता है। जिसे प्रथम कक्षा मिली है वह भागता है एम० ए० की कक्षा में प्रवेश करने के लिए और जिसे एम० ए० की कक्षा मिली है, वह पहली कक्षा में बैठने का प्रयत्न करता है।

एक बीमार को स्वस्थ मनुष्य का पौष्टिक भोजन दे दिया जाय तो वह कैसे पचा सकता है? उससे तो उलटा उसकी शक्ति का ह्रास ही होगा। इसी प्रकार किसी स्वस्थ आदमी को बीमार का खाना दे

दिया जाय तो उसे क्या लाभ होगा ? वह भूखा रह कर थोड़े ही दिनों में दुर्बल हो जायगा।

इस तरह हमारे यहाँ सारी बातें उलट-पुलट-सी हो गई हैं। इसका कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही यह नारा लगने लगा कि—यह सब संसार है, पाप है, अज्ञान में पड़ना है! कहा जाने लगा—पहली कक्षा तो मूर्ख बनने की है, यहाँ क्या ज्ञान मिलेगा ? ऐसे नारे सुन-सुन कर सम्भ्रान्त व्यक्ति भी इस संसार (गृहस्थ जीवन) की कक्षा से खिसकने लगे। वे जल्दी से जल्दी निकल भागने की कोशिश करने लगे। अगर उस प्रथम कक्षा वाले से यह कहा जाता कि तुमने भी क्रान्ति की है, तुम्हारे भीतर भी इन्क़िलाब आ रहा है, तुम भी ठीक राह पर हो, तुमने भी कुछ न कुछ ज्ञान पाया है—खोया नहीं है और तुम भी विद्वान् बन रहे हो, तो प्रथम कक्षा वाले को भी अपनी कक्षा में रस आता। उसे भी अपने जीवन का कुछ आनन्द आये बिना न रहता।

पर हमारे कुछ साधकों ने गलतफ़हमी से, जोरों के साथ यह बातें फैला दीं कि—पुत्र-पुत्रियों द्वारा माता-पिता, सास-ससुर आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह संसारी काम है। इसमें धर्म का अंश भी नहीं है। इस प्रकार की बातें कह-कह कर उन्होंने गृहस्थ का मन गृहस्थधर्म की भूमिका से फिरा दिया है। फलतः गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खड़े होते हैं। वे दोनों तरफ से रह

प्रवृत्ति में से अज्ञान-अविवेक का ज़हर निकाल दो। अपने उपजाये अन्न को ऊँचे दामों में वेचने के लिए दुर्भिक्ष पड़ने की कामना न करो, वल्कि दूसरों के जीवन-निर्वाह में सहायक वनने की पवित्र करुणामयी भावना रक्खो। वस, वह खेती आर्यकर्म होगी। पवित्र करुणामयी भावना के अनुरूप अमुक अंश में पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी धन्धे में हाथ डाले, अगर उसके पास विवेक का टार्च (वैटरी) है तो उसके लिए वह आर्यकर्म होगा। इसके विपरीत अगर असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जाय, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई करने का ही काम क्यों न हो, तो वह अनार्यकर्म होगा। जैनधर्म आर्यकर्म और अनार्यकर्म की एक ही व्याख्या करता है। विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म आर्यकर्म है और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से और दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म अनार्यकर्म है।

एक दुकानदार है। उसकी दुकान पर चाहे वच्चा आए, चाहे जिन्दगी के किनारे लगा हुआ वूढ़ा आए, चाहे कोई भोली वहिन आ जाय, वह सभी को ईमानदारी के साथ सौदा देता है, अपना उचित मुनाफा रख कर सब को वरावर तोलता है, तो वह आर्यकर्म की राह पर है। इसके विपरीत कोई दुकानदार सभी को मूँडने की

कोशिश करता है, दूसरों का गला काटना प्रारंभ कर देता है, नमूना कुछ और दिखलाता है और देता कुछ और है, तो वह अनार्यकर्म की पगडंडी पर है।

अध्यापक का काम है बच्चों को शिक्षा देकर उनका विकास करना। यदि वह अपने कर्त्तव्य के प्रति लापरवाह रहता है, बच्चे पढ़ें या न पढ़ें, इसकी उसे कोई परवाह नहीं है, और थोड़ी-सी भूल होते ही वह बच्चे पर बेंत बरसाता है, तो वह अनार्यकर्म की राह पर है! यदि कोई अध्यापक अपने काम में पूर्ण विवेक रखता है, अपनी जवाबदारी भलीभाँति समझता और पूरी करता है तो उसका ज़हर निकल जाने पर अमृत-कर्म होगा; वह उसका शुद्ध यज्ञ होगा। अन्याय, अनीति, अविवेक और अज्ञान को निकाल कर जो कर्त्तव्य कर्म किया जाता है, वह आर्यकर्म ही है।

जैनधर्म से पूछा गया—आस्रव का काम कौन-सा है और संवर का काम कौन-सा है? अर्थात् संसार का मार्ग क्या है और मोक्ष का मार्ग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचारांगसूत्र में बड़े ही सुन्दर ढंग से दिया गया है:—

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।

जिस प्रवृत्ति से आस्रव होता है, जो कर्मों के आगमन का कारण है, उस प्रवृत्ति में अगर विवेक का रस डाला गया है, अज्ञान को निकाल दिया गया है, न्याय-नीति और संयम की धुन उसके

पीछे रक्खी गई है, तो वही प्रवृत्ति संवर का कारण बन जाती है। इसके विरुद्ध सामायिक, दया, पौषध आदि जो प्रवृत्ति संवर का कारण हैं, मोक्ष का मार्ग है, यदि उसमें विवेक नहीं है, ज्ञान का पुट नहीं है, सावधानी नहीं है, तो वही प्रवृत्ति आस्रव का कारण बन जाती है। साधु बन जाना संवर है किन्तु कर्त्तव्य की भावना यदि न रही, साधुत्व का विवेक न रक्खा, तो वह ऊपर से दिखाई देने वाला संवर भी आस्रव है। वह रंग-रोगन किया हुआ हवाई महल है, उसमें प्रेम, शील आदि सद्गुणों की सुवास नहीं है।

यह है आस्रव और संवर के विषय में जैनधर्म का दृष्टिकोण! यह है आस्रव और संवर को नापने का जैनधर्म का विशाल गज! जिस धर्म ने इतना महान् मंगलसूत्र पकड़ाया हो, उसके अनुयायी-वर्ग में जब हम धर्म के प्रति संकुचित और गलत दृष्टिकोण पाते हैं तो हमारे मन में निराशा की लहर उठने लगती है। हमारे हृदय में यह आता है कि जैनधर्म ने अपने साधकों को मार्ग खोजने के लिए प्रकाशमान रत्न दे दिया है, फिर यह उन साधकों की ही गलती है जो ऐसा रत्न पाकर भी अन्धकार में सिर टकराएँ और व्यर्थ का वितण्डावाद बढ़ाएँ। सचमुच जैनधर्म ने आस्रव और संवर के कार्यों की लम्बी सूची नहीं बनाई है, सूची पूरी बनाई भी नहीं जा सकती। उसने थोड़े-से कार्य गिना कर उनके आगे इति नहीं लगा दी है। आर्य-अनार्य कर्मों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ कार्य गिना कर ही

पूर्णविराम नहीं लगा दिया है। उसने तो 'जे आवन्ने तहप्पगारा' लिख कर स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार के जो भी अन्य कार्य हैं, वे सब भी आर्यकर्म हैं। इसी प्रकार आस्रव और संवर के विषय में भी उसने कहा—विवेकी पुरुष आस्रव में से भी संवर की स्थिति प्राप्त कर सकता है और अविवेकी पुरुष संवर के कार्य में भी आस्रव ग्रहण कर लेता है। यह दृष्टिकोण कितना विराट है!

कहा जा सकता है कि खेती आर्यकर्म है, इस विषय में प्रमाण क्या है? सब से पहले मैं कहूँगा कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रन्थ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते हैं? नहीं, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह सर्चलाइट है, जिसके आगे सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं। उन्हें किसी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नहीं होती। इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं है। उसकी दृष्टि अगर सम्यक् है और सत्य के प्रति निष्ठा गहरी है तो वह स्वयं भी किसी चीज के औचित्य का निर्णय कर सकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि केवलज्ञान में भी पहला नम्बर आत्मा के सहज विवेक का है, क्योंकि वही सब से पहले जागृत होता है और आत्मा को प्रकाश देता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-

ऊँची बातें करने जाता है; वह बिना प्रकाश के, अन्धकार में टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ में नहीं आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा है:—

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

जो तर्क से किसी बात का पता लगाता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं।

गणधर गौतम ने भी उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है:—

'पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं तत्तं विणिच्छियं।'

साधक की सहज बुद्धि ही धर्म तत्त्व की जाँच कर सकती है।

जीवन विचार के आधार पर बनता है। विचार के बाद ही हम किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए विवेक की आवश्यकता होती है। अतः खेती आर्यकर्म है या नहीं, इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सर्वप्रथम अपने अपने अन्तःकरण से ही उत्तर माँगना चाहिए।

जो किसान दिन भर चोटी से एड़ी तक पसीना बहाता है, अन्न उत्पन्न करके संसार को देता है, अपना सारा समय, परिश्रम और जीवन इसके पीछे लगा देता है, ऐसे अन्नोत्पादक और अन्नदाता को आप अनार्यकर्मी कहें और उसे खाकर ऐश-आराम से जिन्दगी बिताने वाले आप आर्यकर्मी होने का दावा करें, यह अटपटी बात अन्तःकरण कब स्वीकार कर सकता है? आप बुद्धि का

गज डाल कर जरा देखें कि कृषि क्या प्रत्येक स्थिति में अनार्यकर्म हो सकती है ?

स्वानुभव के अतिरिक्त शास्त्र प्रमाणों की ही यदि आवश्यकता हो तो उनकी भी कमी नहीं है ।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जो साधक अपना जीवन साधना में व्यतीत करता है, जो सत्कर्म के मार्ग पर चलता है और शुभ भावनाएँ रखता है, वह अपनी आयु समाप्त करके देवलोक में जाता है । देवलोक के जीवन के पश्चात् उसकी क्या स्थिति होती है, यह बताने के लिए वहाँ यह गाथाएँ दी गई हैं:—

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥
मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥

—उत्तरा० ३, १७-१८

उपर्युक्त गाथाओं में कहा गया है कि जो साधक देवलोक में जाते हैं, वे जीवन का पुनः प्रकाश प्राप्त करने के लिए वहाँ से कहाँ जन्म लेंगे ? उत्तर है—जहाँ खेती लहलहाती होगी । सबसे पहला पद यह आया है कि उस साधक को खेत मिलेगा ! उसे खेत की लहलहाती भूमि मिलेगी, जिसमें वह सोने से भी बढ़ कर प्राण-जीवन-अन्न उत्पन्न करेगा । यहाँ सोने और चाँदी से भी पहले खेत

की गणना की गई हैं। इस प्रकार जैन-परम्परा खेती-बाड़ी को पुण्य का फल मानती है। खेती-बाड़ी, खेत और जमीन अगर पाप का फल होता तो शास्त्रकार उसे पुण्य का फल क्यों कहते ?

उत्तराध्ययन सूत्र में आगे कहा है:—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात्—कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी होता है।

यहाँ कर्म से वैश्य होना बतलाया गया है, पर कर्म का निर्णय आप कैसे करेंगे ? कौन-सा दया, पौषध आदि है जो आप में से किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य और किसी को शूद्र बनाता है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के रूप में बाँटने वाला कर्म कौन-सा है ? धार्मिक नियम, मर्यादाएँ तो सब के लिए समान हैं और उनका फल भी सब के लिए समान ही बतलाया गया है। कोई धार्मिक नियम या व्रत-कर्म ऐसा नहीं जो किसी को ब्राह्मण और किसी को वैश्य बनाता हो।

तब फिर यहाँ 'कर्म' से क्या अभिप्राय है ? यह बात समझने के लिए हमें प्राचीन टीकाकारों की ओर नजर डालनी होगी। उत्तराध्ययन पर विस्तृत और प्रांजल टीका लिखने वाले वादि-वैताल शान्त्याचार्य, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने

अपना स्पष्ट चिन्तन जैन जनता के सामने रक्खा है। उन्होंने 'कम्मुणा वइसो होइ' पद पर टीका लिखते हुए कहा है:—

'कृषिपशुपालनवाणिज्यादिकर्मणा वैश्यो भवति।'

भगवद्गीता में भी यही बात साफ तौर से कही है:—

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।

आज गलतफहमी के कारण कर्मों को समझने में हम गड़बड़ में पड़ गये हैं, लेकिन प्राचीन जैन और जैनेतर साहित्य स्पष्ट बतलाता है कि कृषि करना वैश्यवर्ण का कार्य था। आज वह एक मात्र शूद्रों या अनार्यों के मत्थे मढ़ा जा रहा है।

भगवान् महावीर ने कृषिकर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य ही बतलाया है। भगवान् महावीर के पास आने वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासकदशांग सूत्र में आता है, उनमें कोई भी ऐसा नहीं था जो श्रावक अवस्था में खेती-बाड़ी का धन्धा न करता हो। इससे आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि हमारी परम्परा हमें खेती के विषय में क्या निर्देश करती है? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशुपालन गिनाया गया है।

अलबत्ता यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है बारह व्रतधारी श्रावक की भूमिका तक तो खेती का कुछ भी निषेध नहीं है। इससे ऊपर की भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की भूमिका है। क्रमशः

पहली, दूसरी, तीसरी आदि प्रतिमाओं को स्वीकार करता-करता श्रावक जब आठवीं प्रतिमा को अंगीकार करता है तब आरम्भ के कार्यों का त्याग करते हुए कृषि का त्याग करता है। इस सम्बन्ध में सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा के आचार्य एक स्वर से कहते हैं*:—

आरम्भः—कृष्यादिकर्म, तत्त्यागं करोति।

अर्थात्—यहाँ आरम्भ से कृषिकर्म आदि समझना चाहिए। उसका त्याग आठवीं प्रतिमा में होता है। इस तरह प्रतिमाधारी श्रावक आठवीं प्रतिमा में स्वयं कृषि करने का त्याग करता है और नौवीं प्रतिमा में कराने का भी त्याग कर देता है।

शास्त्रों का इतना स्पष्ट विवरण हमारे सामने मौजूद है और त्याग का क्रम भी स्पष्ट रूप से शास्त्र दिखला रहे हैं, फिर भी कुछ लोग भ्रम में पड़े हुए हैं। जो बात आगे की भूमिका में छोड़ने की है, उसे पहले की भूमिका में छोड़ देने का आग्रह किया जाता है और जो पहले की भूमिका में त्यागने योग्य है, उसका कहीं ठिकाना ही नहीं है। धोती की जगह पगड़ी और पगड़ी की जगह धोती लपेट कर हम अपने आपको दुनिया की दृष्टि में हास्यास्पद बना रहे हैं।

आर्य-अनार्य-कर्मों का विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है।

* देखिए—समन्तभद्रकृत 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' और प्रवचनसारोद्धार की सिद्धसेनीया वृत्ति।

वहाँ की थोड़ी चीजें गिनाकर 'जे यावन्ने तहप्पगारा' कह कर सारा निचोड़ वतला दिया है। इसका मतलब यह है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं, जो आर्यकर्म हैं।

कुम्भकार के धन्धे को भी वहाँ आर्यकर्म वतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि कर्म को अनार्यकर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर इस गये गुजरे जमाने में कई नये टीकाकार पैदा हुए हैं, जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली परम्पराओं पर हड़ताल फेरने की चेष्टा कर रहे हैं और युगद्रष्टा एवं क्रान्तिकारी आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज को, जिन्होंने प्राचीन परम्परा के आधार पर अपना स्पष्ट चिन्तन रक्खा, उत्सूत्रप्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्यकर्म नहीं है, इस से बढ़ कर झूठ और क्या हो सकता है?

विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी के लगभग आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होंने कर्मार्य की व्याख्या करते हुए कहा है:—

कर्मार्याः—यजनयाजनाध्ययनाध्यापनकृषिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः।

यह चिन्तन कहाँ से आया है? इसी प्रज्ञापनासूत्र के आधार से यहाँ चिन्तन किया गया है।

आचार्य अकलंक भट्ट ने (आठवीं शताब्दी) तत्त्वार्थराजवार्त्तिक

में अपना विशिष्ट चिन्तन जनता के समक्ष रक्खा है। उन्होंने खेती-बाड़ी, चन्दन, वस्त्र आदि का व्यापार और लेखन-अध्यापन आदि धन्धों को, सावद्य-आर्यकर्म बतलाया है। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं:—

षडप्येतेऽविरतिप्रवणत्वात्सावद्यकर्मार्याः।*

यह छह प्रकार के आर्य अविरति के कारण सावद्यकर्मार्य हैं, अर्थात् व्रती श्रावक की भूमिका से पहले ये सावद्यकर्मार्य हैं। परन्तु बाद में व्रती श्रावक होने पर जो मर्यादाबद्ध खेती आदि कर्म करता है, लिखने-पढ़ने का धन्धा करता है, तो वह अल्पारंभ की भूमिका में है:-

अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावकाः।

खेती आदि कर्मों के आर्यकर्म होने के इनसे अच्छे और क्या प्रमाण हो सकते हैं? मतलब यह है कि श्रावक की भूमिका अल्पारंभ की ही भूमिका है। इसका रहस्य यही है कि श्रावक में विवेक होता है। वह जो भी काम करेगा, उसमें विवेक की दृष्टि रक्खेगा। श्रावक का हाथ वह हाथ है कि जिसे वह छू ले, वह सोना बन जाय। श्रावक की भूमिका वह भूमिका है जिसमें विवेक का जादू है। यही जादू उसके कार्य को अल्पारम्भ बना देता है।

---

* आचार्य अकलंक ने लेखन आदि के समान कृषि को सावद्यकर्म ही कहा है, महासावद्य नहीं। कृषि को महारंभ—महापाप कहने वाले सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें।

असली चीज विवेक है। जहाँ विवेक नहीं है वहाँ खेती भी सावद्य कर्म है। यहाँ तक कि विवेक के अभाव में झाड़ू लगाना भी अल्पारंभ नहीं होगा।

इस तरह हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर आर्यकर्म और अनार्य-कर्म तथा अल्पारंभ और महारंभ का निर्णय कर लेना चाहिए। विवेक को त्याग कर किसी एक पक्ष के खूँटे को पकड़ कर हम चिल्लाते रहेंगे तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आएगा और हम जैनधर्म को विश्व की दृष्टि से गिरा देंगे।

कृषि अल्पारम्भ है

प्रत्येक व्यक्ति को हिंसा और अहिंसा का मर्म समझना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक कार्य की छानबीन करनी चाहिए और देखना चाहिए कि कहाँ कितनी हिंसा हो रही है और कहाँ कितनी अहिंसा की साधना चल रही है। साधारणतया साधकों के जीवन के दो भाग होते हैं—एक गृहस्थ-जीवन और दूसरा साधु-जीवन। गृहस्थ को अपने जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त करनी हैं और साधु को अपने जीवन की। यह बात नहीं है कि साधु बनते ही उसके जीवन में पूर्णता आ जाती है। महाव्रतों को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की और जीवन में पूर्णता आ गई, ऐसा समझना भ्रमपूर्ण होगा। साधु भी अपने आप में अपूर्ण है और उसे अपने जीवन की पूर्णता प्राप्त करनी है। पूर्णता हिमालय की सर्वोच्च चोटी है और वहाँ तक पहुँचने के लिए कठिन साधना अपेक्षित है।

यह ठीक है कि साधु, श्रावक की अपेक्षा कुछ आगे बढ़ गया है, कुछ ऊँचा चढ़ चुका है, मंजिल की राह पर आगे कदम बढ़ा चुका है और गृहस्थ अभी अपने क्षेत्र में कदम बढ़ाकर चला ही है। और फिर साधु का जीवन भी तो ऊँचा-नीचा है। उसकी भी अनेक श्रेणियाँ हैं।

इसी प्रकार गृहस्थजीवन की भी अनेक कक्षाएँ हैं। उसमें भी कई दर्जे हैं। यह नहीं कि गृहस्थ छोटा है तो नगण्य है, ज़हर का टुकड़ा है। गृहस्थ, साधु की अपेक्षा नीचा होते हुए भी किसी अपेक्षा ऊँचा है। जो गृहस्थ विवेकपूर्वक जीवन के मैदान में चलता है, जिसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिए दया का झरना बहता है, जो महाहिंसा से दूर रह कर अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहा है, वह अपने श्रावक के कर्त्तव्य को दृढ़ता से पूरा कर रहा है। भले ही वह धीमे कदमों से चलता हो, पर मंजिल की ओर चलता अवश्य है।

हमें अपनी पुरानी परम्परा की ओर भी नज़र डाल लेनी चाहिए। वह क्या कहती है? वह ऐसे गृहस्थ को, जो अपनी नैया के साथ-साथ दूसरे की नैया को भी पार करता है, कभी भी पापी और ज़हर का टुकड़ा नहीं बतला सकती। कुछ लोगों का खयाल है कि गृहस्थ को अपनी रोटी कमानी पड़ती है, वस्त्र जुटाना पड़ता है, समय आने पर अपने देश, समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए कठोर संघर्ष भी पैदा करना पड़ता है, इसलिए वह तो पाप में डूबा हुआ

है। परन्तु हम यदि बुद्धि की कसौटी पर गृहस्थ-जीवन को कस कर देखें तो विदित होगा कि विवेकवान् गृहस्थ यदि साधु के गुणस्थान से नीचा है तो चार गुणस्थानों से ऊँचा भी है। दुर्भाग्य से हमारा ध्यान निचाई की ओर तो जाता है, पर ऊँचाई की ओर नहीं जाता।

इसी कारण कुछ लोगों ने एक सिद्धान्त निकाला है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थ नीचा है, इसलिए उसका सत्कार-सन्मान करना, उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना दूसरे गृहस्थ के लिए भी संसार का मार्ग है। वह हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का मार्ग है। पतन की राह है। मेरे खयाल से इस विचार के पीछे अज्ञान चक्कर काट रहा है और विवेक की रोशनी नहीं है। सुपात्र और कुपात्र की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाएँ भी इसी अज्ञान के परिणाम हैं। गृहस्थ कुपात्र है, उसे कुछ भी देना धर्म नहीं है, साधु को ही देना धर्म है इस प्रकार की कल्पनाएँ संकुचित विचारों द्वारा ही घड़ी गई हैं। इस प्रकार एकान्ततः छोटे-बड़े के आधार पर धर्म-अधर्म का निर्णय नहीं हो सकता। आखिर साधु भी, जो छठे गुणस्थान में है, सातवें गुणस्थान वाले से नीचा है। सातवें गुणस्थान वाला आठवें गुणस्थान वाले से नीचा है। केवलज्ञानी की भूमिका से तो सभी सामान्य साधु नीचे हैं। और मैं पूछता हूँ कि तेरहवें गुणस्थान वाले अरिहन्त की भूमिका ऊँची है या नीची? यदि बारहवें गुणस्थान से वह ऊँची है तो चौदहवें गुणस्थान से नीची भी है। तो इस प्रकार की अपेक्षाकृत ऊँचाई और निचाई

कृषि अल्पारम्भ है]

भले रहे, परन्तु उसी को व्यर्थ का चर्चा का आधार बनाने में कोई महत्त्व नहीं है। नीचे की भूमिकाओं को पार कर ऊँची भूमिका में आना ही महत्त्वपूर्ण बात है। हमें देखना चाहिए कि जीवन ऊपर की ओर गतिशील है या नहीं? साधक कहीं नीचे की ओर तो नहीं खिसक रहा है?

गृहस्थ की भूमिका पर विचार कीजिए। वह मिथ्यात्व के गाढ़ अंधकार को चीरकर, अनन्तानुबंधी कषाय की फौलादी दीवार को लांघ कर, अव्रत के अपार समुद्र को पार करके और अपरिमित भोगों की ज्वालाओं से ऊँचा उठ कर आया है या नहीं? उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एवं सत्य के मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है। यह बात दूसरी है कि वह उच्च साधक की तरह दौड़ नहीं सकता, टहलता हुआ चलता है।

सूत्रकृतांगसूत्र में अधर्म और धर्मजीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व, अविरति आदि में पड़े हैं, वे आर्यजीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जिन्होंने हिंसा और असत्य के कुछ अंशों में बन्धन तोड़े हैं, जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ने की भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी आर्य हैं। उनका कदम संसार की ओर है या मोक्ष की ओर? सहज विवेक-बुद्धि से विचार करने

वाला अवश्य कहेगा—मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृतांग कहता है:—

एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।*

और जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एवं एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

आप कहेंगे—कहाँ गृहस्थ और कहाँ साधु? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुझे आप से एक एक प्रश्न करना होगा। मैं पूछता हूँ—श्रावक गृहस्थ मर कर कहाँ जाता है?

'देवलोक में!'

और साधु?

छठे से ग्यारहवें गुणस्थान वाला साधु भी मर कर देवलोक में जाता है। इस प्रकार जैसे दोनों की गति देवलोक की है, उसी प्रकार दोनों में एकान्त आर्यत्व भी है। इसका कारण यही है कि गृहस्थ श्रावक का दृष्टिकोण साधु की ही तरह परम सत्य की ओर है, बंधनों के पाश को तोड़ने की तरफ ही है।

जब कि सूत्रकृतांग के क्रियास्थानक में, जहाँ क्रियाओं का वर्णन है, गृहस्थ को साधु की ही तरह एकान्त आर्य बतलाया है, तब

* सूत्रकृतांग, द्वि० श्रुतस्कन्ध अ० २, सू० ३६

ऐसी स्थिति में साधु भोजनादि कार्य करे तो पाप नहीं और श्रावक वही विवेक पूर्वक भोजनादि कार्य करे तो एकान्त पाप ही पाप चिल्लाना किस प्रकार शास्त्रसंगत हो सकता है ? वही कार्य करता हुआ श्रावक पापी और कुपात्र कैसे हो गया ? इस पर हमें निष्पक्ष होकर विचार करना है।

पाप करना एक चीज है और पाप हो जाना दूसरी चीज है। पाप तो साधु से भी हो जाते हैं। वह भी कभी किसी प्रवृत्ति में भूल कर बैठता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि साधु जान-बूझ कर पाप करता है। वह पाप करता नहीं, हो जाता है। इसी प्रकार श्रावक भी कुछ अंशों में तटस्थ वृत्ति लेकर चलता है। परिस्थिति-वश उसे आरंभ करना होता है, परन्तु वह प्रसन्नभाव से नहीं, उदासीन भाव से, मूल में हेय समझता हुआ, करता है। अलबत्ता कोई गृहस्थ यदि आसक्ति भाव से आरंभादि पाप करता है, पाप करके प्रसन्न होता है, पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर कदम रखता है तो वह अनार्य है। किन्तु जो गृहस्थ काम तो करता जाता है पर उसमें मिथ्यादृष्टि-सी आसक्ति नहीं रखता, वह उसमें से जहर को अमुक अंश में कम करता जाता है तो वह अनार्य नहीं कहा जा सकता। ऐसा न होता तो भगवान् उसे एकान्त सम्यक् एवं आर्य क्यों कहते ?

इतना समझ लेने पर अब मूल विषय पर आइए। एक ओर

भगवान् ने श्रावक के जीवन को एकान्त सम्यक् आर्यजीवन कहा है और दूसरी ओर आप खेती-बाड़ी का धन्धा करने वाले श्रावक को अनार्य समझते हैं। यह दोनों परस्पर विरोधी बातें कैसे मेल खा सकती हैं? आप दिन को दिन भी कहें और रात भी कहते जाएँ, यह बात बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है? श्रावक की भूमिका अल्पारंभ की है, महारंभ की नहीं। महारंभ का मतलब है—घोर हिंसा, घोर पाप। महारंभी की गति नरक है। नरक के सिवाय और कोई नहीं है, यह बात शास्त्रों में स्पष्ट रूप से कही है:—

महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं।

—औपपातिक सूत्र

यहाँ नरकगति के चार कारणों में पहला कारण महारंभ कहा गया है। आप एक तरफ तो श्रावक को अल्पारंभी स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ खेती-बाड़ी करने के कारण उसे महारंभी की उपाधि से भी विभूषित करते जाते हैं।

आपको मालूम होगा, गृहस्थ जीवन में आनन्द ने जो किया, वह एक आदर्श की चीज थी। आनन्द जैसा उच्च जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक महारंभ का कार्य नहीं कर सकता था। आनन्द श्रावक अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आनन्द श्रावक था अतएव अल्पारंभी था, फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावक के

लिए अनिवार्यतः वर्जनीय नहीं है, वह अल्पारंभ में ही है।

कहा जा सकता है कि आनन्द महारंभी था और उसके परिवार में परम्परा से खेती का धन्धा चला आ रहा था। श्रावक बनने के बाद उसने खेती की जमीन की मर्यादा करके शेष का त्याग कर दिया था।

इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि खेती महारंभ तो है; मगर उसकी मर्यादा की जा सकती है। परन्तु क्या कहीं महारंभ की मर्यादा होती है? अथवा महारंभ की मर्यादा करने के बाद भी क्या कोई अणुव्रती श्रावक की कोटि में गिना जा सकता है? महारंभ की मर्यादा करने पर अगर श्रावक की कोटि प्राप्त की जा सकती है तो कत्लखानों की मर्यादा करने वाला भी श्रावक की कोटि में आ सकेगा। अगर भगवान् महावीर के पास कोई व्यक्ति आकर कहता—'प्रभो! मैं सौ कत्लखाने चला रहा हूँ और अभी तक श्रावक की भूमिका में नहीं आया हूँ। अब मैं मर्यादा करता हूँ कि सौ से अधिक कत्लखाने नहीं चलाऊँगा। मुझे अधिक कत्लखानों का त्याग करा दीजिए और अपने अणुव्रती श्रावक संघ की सदस्यता प्रदान कीजिए।' तो क्या भगवान् उसे अपने अणुव्रती श्रावक संघ के सदस्यों में परिगणित करते? नहीं। भगवान् कहते—अणुव्रती श्रावक का पद प्राप्त करने के लिए तुम्हें महारंभ का पूरी तरह त्याग पहले करना होगा। तात्पर्य यह है कि कत्लखाने, जुए के अड्डे, वेश्यालय या शराब की भट्टियाँ

चला कर और उनकी कुछ मर्यादा बाँध करके कोई अणुव्रती श्रावक का दर्जा प्राप्त करना चाहे तो वह नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार की मर्यादाएँ तो होती ही रहती हैं। पंजाब में जब हम यात्रा करते हैं और कोई मांसाहारी या शिकारी गृहस्थ मिलता है तो उसे मांसाहार या शिकार को छोड़ने का उपदेश देते हैं। अगर वह पूरी तरह नहीं छोड़ता तो अधिक न करने को कहते हैं। पर क्या इससे उसका गुणस्थान बदल गया? एक हजार हरिण मारने वाला अगर पाँच सौ हरिणों तक ही अपनी मर्यादा कर ले तो भले ही उसे कल्याण की धुँधली राह मिली हो, लेकिन इतने मात्र से उसको अणुव्रती श्रावक की भूमिका नहीं मिल सकती।

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। पहले कल्पवृक्षों से युगलियों का गुजारा हो जाता था। उस समय अन्न का कोई संकट नहीं था। युगलिया भले ही तीन पल्योपम की आयु वाले हों, परन्तु अन्तिम समय में ही उनके सन्तान होती थी। अर्थात् पहला जोड़ा जब विदा होने लगता तब उधर दूसरा जोड़ा उत्पन्न होता था। इस कारण उनकी संख्या में कोई विशेष घट-बढ़ नहीं होती थी। परन्तु भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्पवृक्ष, जो उत्पादन के साधन थे, घटने लगे और जन-संख्या बढ़ने लगी। अतएव कल्पवृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की

पूर्ति नहीं होने लगी। जहाँ उत्पादन कम होता है और खाने वाले अधिक हो जाते हैं, वहाँ संघर्ष हुए बिना नहीं रहता।

नल पर पानी भरने के लिए तू-तू मैं-मैं क्यों होती है? कारण यही है कि पानी कम आता है और उसके भी जल्दी बन्द हो जाने का डर रहता है और लोगों को आवश्यकता अधिक होती है। इसी कारण आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं। एक चाहता है, मैं पहले भर लूँ और दूसरा चाहता है मैं सब से पहले भर लूँ! परन्तु जल से परिपूर्ण कुओं पर ऐसा नहीं होता। वहाँ जितना चाहिए उतना पानी मिल सकता है, अतएव संघर्ष करने की नौबत नहीं आती। जहाँ अभाव होता है, भरण-पोषण के साधन पर्याप्त नहीं होते, वहीं संघर्ष होता है। जहाँ उत्पादन अधिक होता है और खाने-पीने वाले कम होते हैं, वहाँ अभावमूलक संघर्ष नहीं होता, विषमता नहीं होती और न संग्रहवृत्ति पनपती है।

हाँ, तो हमें सोचना है कि भूखों मरते हुए और संकट में पड़े हुए युगलियों को भगवान् आदिनाथ ने जो खेती करना और दूसरे धंधे करना सिखलाया, वह क्या था? उत्पादन की कला सिखा कर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया या अहिंसा की राह बतलाई? उन्होंने ऐसा करके जीवन-दान दिया या पापकर्म किया?

मैं आप से कहता हूँ कि केवल दान दे देना ही अहिंसा नहीं है, परन्तु यदि कोई देश की समृद्धि के लिए उत्पादन बढ़ाता है,

देश के जरूरतमंदों को, भूख से तड़फते हुए व्यक्तियों के दुख-दर्द को मिटाने के लिए उत्पादन की कला बतलाता है, वह भी एक प्रकार का दान देना है। वह भी अहिंसा का मार्ग है।*

एक मनुष्य नदी में डूब रहा है। वह तैरना नहीं जानता। आप तैरना जानते हैं और झटपट उसे निकाल देते हैं। एक दूसरा व्यक्ति है जो तैराक है और डूबते हुए को देखते ही निकाल देता है, साथ ही उसे तैरने की कला भी सिखलाता है। इन दोनों में किसका कार्य महत्त्वपूर्ण है ?

'तैरना सिखाने वाले का!'

ठीक है, क्योंकि तैराक अपने सामने डूबते को तो निकाल सकता है, परन्तु वह कहीं अन्यत्र डूब जाय तो कौन निकालने आएगा ? वह कहाँ कहाँ उसके पीछे लगा रहेगा ? अगर वह तैरने की कला उसे सिखा देता है और उसे स्वावलंबी बना देता है तो वह कहीं भी नहीं डूबेगा और निर्भय रहेगा। वह स्वयं तैर सकेगा और दूसरों को भी तैराएगा। तैराक अगर तैरना न सिखलाएगा और सिर्फ डूबने वालों को पकड़-पकड़ कर निकाला ही करेगा तो डूबते हुओं के बचने की समस्या कभी हल न होगी।

आपके घर पर कोई साधर्मिक भाई आया। वह उस समय बड़े

* कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, २ वक्षस्कार

संकट में हो, उसके घर में अन्न के लाले पड़ रहे हों और वह गरीबी से ग्रस्त हो। आपने उसे तात्कालिक सहायता दी अर्थात् दो-एक बार भोजन करा दिया। पर क्या इतना करने मात्र से उसके जीवन की समस्या हल हो गई? उसके सामने दूसरे ही रोज फिर वही भूख की समस्या खड़ी होगी। पर किसी भाई ने उसे दुखी देख कर, दया से प्रेरित होकर किसी काम में लगा दिया, धन्धा सिखा दिया और अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। तो पहले की अपेक्षा दूसरा व्यक्ति अधिक उपकारक गिना जायगा।

इसी कारण देश के नेता नवयुवकों को अपने देश के महत्त्व-पूर्ण धन्धे सिखलाते हैं, उनका विकास करते हैं और देश की आर्थिक तथा खुराक सम्बन्धी समस्या हल करते हैं। इसी को कहते हैं तैरने की कला सिखलाना।

भगवान् ऋषभदेव ने भी उन युगलियों को तैरने की कला सिखलाई। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ गई थी। माँ-बाप भी जीवित रहते और सन्तान भी रहती। एक ही जोड़ा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम उस समय टूट गया था। सन्तानें बढ़ चली थीं। स्वयं ऋषभदेव भगवान् के सौ पुत्र और बहुत-से पोते थे। कल्पवृक्षों में अर्थात् उत्पादन में कमी होती जा रही थी। उस समय का इतिहास पढ़ेंगे तो आपको मालूम होगा कि जिन युग-लियों को पहले वैर-विरोध ने कभी नहीं छुआ था, वे भी खाद्य के

लिए आपस में गाली-गलौज करने लगे, परस्पर गुत्थमगुत्था होने लगे। लाखों वर्षों तक कल्पवृक्षों का बँटवारा नहीं हुआ था किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षों पर अपना-अपना पहरा बिठाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्पवृक्ष के फल लेने आता तो परस्पर लड़ाई होने लगती। एक वर्ग कहता—यह कल्पवृक्ष मेरा है। दूसरा कहता—यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नहीं ले सकता। सब कहने लगे—मैं पहले खाऊँगा। तू इसे ले लेगा तो मैं क्या खाऊँगा?

इस प्रकार संग्रहवृत्ति बढ़ने लगी। उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे कलाकार न होते तो युगलिये आपस में लड़-झगड़ कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हें सच्ची राह बतलाई और उनके क्लेश को मिटाया।

आशंका की जा सकती है कि क्या भगवान् ऋषभदेव उन्हें खाना नहीं दे सकते थे? देवता और देवताओं का राजा इन्द्र उनकी आज्ञा में थे। वे आज्ञा देते तो उन्हें खाना मिलने में क्या देर लग सकती थी? परन्तु ऐसा करने से जब तक भगवान् रहते तभी तक उनकी आवश्यकताएँ पूरी होतीं। भगवान् ने सोचा—बाद में फिर वही गुत्थमगुत्था, लड़ाई-झगड़ा और मारकाट मचेगी। फिर वही समस्या खड़ी होगी। अतएव उन्होंने उन्हें हाथों से परिश्रम करना सिखलाया। उन्होंने कहा—'तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी सृष्टि का

निर्माण कर सकते हैं।

इस प्रसंग पर मुझे अथर्व वेदकालीन एक वैदिक ऋषि की बात याद आ रही है, जिसने कहा था:—

अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः।

यह मेरा हाथ ही भगवान् है; बल्कि मेरा हाथ भगवान् से भी बढ़ कर है। हाथ ही महान् ऐश्वर्य का भंडार है।

इस प्रकार भगवान् ने युगलियों के हाथों से ही उनकी समस्या सुलझाई। मैं तो कहता हूँ—भगवान् ने उन युगलियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया, आज के जीवन की विकट समस्या को भी हल किया है। भगवान् की इस अपरिमित अनुकम्पा के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की जाय? मानव जाति के उस महान् त्राता की प्रतिभा और दयालुता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? जब तक मनुष्य जाति इस पृथ्वी तल पर मौजूद रहेगी और सारे के सारे मनुष्य मांसभोजी नहीं हो जाएँगे, भगवान् की उस दया के प्रति आभारी रहेंगे।

हमारे कई साथी कहते हैं—खेती तो महारंभ है। भगवान् गृहस्थाश्रम में थे, इसलिए उन्होंने जनता को महारंभ की शिक्षा दी। पर हमारे गले यह बात नहीं उतरती। गृहस्थाश्रम में होने के कारण उन्होंने यदि महारंभ रूप खेती सिखलाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं

कह दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार करके जीवन-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी? पशु-पक्षियों को मारने की तरह और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारंभ मानने वाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं? पशुओं को मार कर खाना महारंभ होने के कारण नरक का कारण है और यदि खेती भी महारंभ होने के कारण नरकगति का कारण है तो भगवान् पशु-पक्षियों को मार-मार कर खाने की अथवा दोनों उपायों की शिक्षा दे सकते थे। मगर भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसका कुछ कारण भी तो होना चाहिए? कारण यही है कि वास्तव में खेती महारंभ नहीं है, अल्पारंभ है। भगवान् ने अल्पारंभ के द्वारा जनता की समस्या हल की। उन्होंने देखा–अगर ऐसा न किया गया, जनता को अल्पारंभ का धन्धा भी न सिखलाया तो वह महारंभ–महापाप में पड़ जायगी। लोग आपस में लड़ कर मर मिटेंगे, एक दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारंभ की अनिवार्य व्यापक सम्भावना को खेती-बाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य कर्म की राह पर लगाया। मांस खाना, शिकार खेलना आदि भगवान् ने नहीं सिखलाया क्योंकि वे अनार्यकर्म हैं, जब कि खेती आर्यकर्म है।

कई साथियों का कहना है—जिस समय भगवान् युगलियों को खेती करना सिखला रहे थे, उस समय दाँय करते वक्त (खलिहान में

धान्य के सूखे पौधों को कुचलवाते समय) बैल अनाज खा जाते थे। अतः भगवान् ने बैलों के मुँह पर मुसीका (छींका) बाँधने की सलाह दी। उसी के कारण भगवान् को अन्तरायकर्म बँधा, जिसके फलस्वरूप उन्हें एक वर्ष तक आहार नहीं मिला। परन्तु यह एक कल्पना है। इसके पीछे किसी विशिष्ट प्रामाणिक ग्रन्थ का आधार भी नहीं मालूम होता। मनुष्य की सोचने की बुद्धि कम हो जाती है तो इस तरह की कहानियाँ घड़ ली जाती हैं। अगर भगवान् एक वर्ष तक खाने के फेर में पड़े रहते तो एकनिष्ठ तपस्या कैसे कर पाते ?

आचार्य अमरचन्द्र ने जो पद्मानन्द महाकाव्य के रूप में ऋषभचरित्र लिखा है, उसके एक-एक अध्याय को आप पढ़ेंगे तो आनन्द-विभोर हो जाएँगे। उन्होंने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के साथ चार हजार अन्य लोगों ने भी दीक्षा ली थी। उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् तो कुछ बोलते नहीं हैं, कहाँ कैसे भोजन करें, कुछ मालूम ही नहीं होता है। निस्पृह होकर वन में ध्यानस्थ खड़े हैं। तब वे सभी घबराकर पथभ्रष्ट हो गये, साधना के पथ से गिर गये। भगवान् ने देखा कि भूख न सह सकने के कारण सारे साथी गायब हो गये हैं। फलतः मुझे अब आने वाले साधकों के मार्ग-दर्शनार्थ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए। भगवान् चाहते तो एक वर्ष के बदले क्या दो वर्ष तपस्या नहीं कर सकते थे ? पर अन्य साधारण साधकों के हित की

दृष्टि से हो वे आहार के लिए चले,* क्योंकि जनता महान् का अनुकरण करती है। गीता में कहा है:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, जनता उसी को प्रमाण मान लेती है और उसी का अनुकरण करने लगती है।

हमारे यहाँ वर्णन आता है कि जिस तीर्थंकर ने अपने जीवन-काल में अधिक से अधिक समय की जितनी तपस्या की है, उसके अनुयायी साधक भी उतनी ही सीमा तक तपस्या कर सकते हैं। भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा लम्बी तपस्या छह मास की की थी तो उनके शिष्य भी छह महीने तक की तपस्या कर सकते हैं, उससे ज्यादा नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने सब से लम्बी तपस्या एक वर्ष की की थी। यदि एक वर्ष तक की तपस्या की मर्यादा न होती तो आज वह

---

* गृह्णामि यदि नाहारं, पुनरद्याऽप्यभिग्रहम्,
तनोमि तपसैव स्यात्, प्रशमः कर्मणामिति।
तदा कच्छादय इव, निराहारतयाऽर्दिताः,
भग्नव्रता भविष्यन्ति भविष्यन्तोऽपि साधवः।
एवं विचिन्त्य चित्तेन, चिरं प्रचलितः प्रभुः,
निर्दोषभिक्षामाकाङ्क्षन् पुरं गजपुरं ययौ।
—पद्मानन्दमहाकाव्य १३। २००-२०२
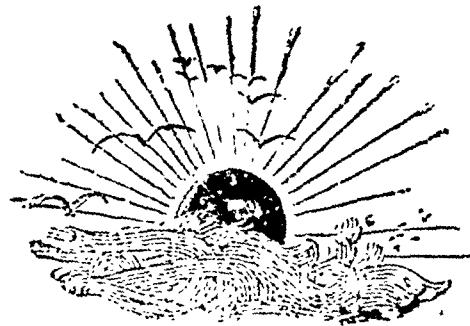
'वर्षी' तप कैसे प्रचलित होता ? जरा विचार कीजिए—क्या भगवान् महावीर सात महीने की तपस्या नहीं कर सकते थे ? अवश्य कर सकते थे। पर उन्होंने सोचा—मैं जितना ही आगे बढ़ूँगा, मेरे शिष्य-साधक भी मेरा आग्रहमूलक अनुकरण करेंगे और वे व्यर्थ ही क्लेश में पड़ जाएँगे। ऐसा ही सोच कर भगवान् महावीर ने छह महीने की तपस्या की।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने भी एक वर्ष का तप ही किया था। आहार के लिए भटकते नहीं रहे। प्रति दिन आहार के लिए भटकते फिरते तो वह तपस्या ही कैसे कहलाती ? यह अन्तराय था या तप था ? इस दृष्टि से, मैं समझता हूँ, आपके मत का समाधान हो जाना चाहिए।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ऋषभदेव ने खेती-बाड़ी आदि के जो भी धन्धे सिखलाए, वे आर्यकर्म थे, अनार्य-कर्म नहीं। उन्होंने विवाहप्रथा तो चलाई पर वेश्यावृत्ति नहीं, खेती सिखलाई पर मांस खाना नहीं। और उन्होंने जो कुछ भी सिखलाया है, प्रजा के हित के लिए ही सिखलाया है।

महापुरुष कभी महारंभ के कार्य की शिक्षा नहीं दे सकते। एक महापुरुष कहलाने वाला व्यक्ति अगर ऐसे कार्य की शिक्षा दे तो वह भी नरक का राही बने, क्योंकि हजारों-लाखों व्यक्ति उसके पीछे वही काम करते रहते हैं।

मैं चेतावनी देना चाहता हूँ कि व्यर्थ के कदाग्रह में पड़ कर लोग भगवान् ऋषभदेव के उज्ज्वल और महान् आदर्श जीवन पर प्रकारान्तर से कीचड़ न उछालें। उन्हें महारंभ का शिक्षक कहना उनकी घोर आसातना करना है। तीर्थङ्कर की आसातना करने से बढ़ कर पाप-कर्म और क्या हो सकता है ?

हिंसा और कृषि

(प्रकीर्णक प्रश्न)

नों से जिस विषय की चर्चा की जा रही है, और
के साथ काफी विचार-विनिमय होता रहा है, उस
में और बाहर भी कुछ हलचल-सी हुई है। मन
र्मी-सी पैदा हुई है। जब किसी भी शास्त्रीय विषय
ा विपक्ष में कोई चर्चा चल पड़ती है तो समझना
ा है। ऐसी चर्चा से और उत्तेजना से, अगर वह
तो, विचारों की जड़ता दूर होती है, विचारों में
ज्ञान की वृद्धि होती है।
म्बन्ध में जो चर्चा की गई है, उसे अब समेट लेना
का जो प्रवचन है या व्याख्यान है, वह व्याख्यान

के सीधे तरीके पर नहीं होगा। आज मैं उन त्रुटपुट प्रश्नों पर प्रकाश डालूँगा जो चर्चा करने से रह गये हैं। आप लोगों के दिमाग में भी जो प्रश्न आये हों, उन्हें आप व्यक्त कर सकते हैं, कह कर या पर्चे में लिख कर उन्हें आप प्रकट कर देंगे तो मैं उन प्रश्नों पर भी चर्चा करूँगा। जिस किसी भी विचार को लेकर आपके मन में शंका रह गई हो या कोई प्रश्न उलझा रह गया हो, निःसंकोच भाव से उसे प्रकट कर देना चाहिए।

व्याख्यान का मतलब रिकार्ड की तरह लगातार बोलते जाना नहीं है कि आप कहें—ठहरिये, और मैं बिना ठहरे बोलता ही चला जाऊँ। कम से कम मेरी स्थिति रिकार्ड की सी नहीं है। मैं बीच-बीच में विचार भी करूँगा, नया प्रश्न सामने आने पर उसे सुनूँगा और उसका समाधान भी करने का प्रयत्न करूँगा।

मेरे सामने आज एक प्रश्न उपस्थित किया गया है। यद्यपि वह एकदम नया नहीं है, उसके सम्बन्ध में सामान्य रूप से चर्चा की जा चुकी है, मैं अपना दृष्टिकोण या जैनधर्म का दृष्टिकोण बतला चुका हूँ, फिर भी जब प्रश्न सामने आया है तो दुबारा उस पर चर्चा कर लें।

भगवान् ऋषभदेव ने कृषि की और उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी और विकट परिस्थिति में पड़ी हुई उस वक्त की जनता को अपने हाथों अपना जीवन-निर्माण करने की कला सिखलाई। भगवान् ने

उस समय जो कुछ सिखलाया उसके लिए हम आज गौरव का अनुभव करते हैं। जब ऐसे प्रसंग पढ़ते हैं तो आप और हम नीचे नहीं, ऊँचे होते हैं। जब-जब भी भारत के विद्वानों के सामने, जो चाहे राष्ट्रनेता रहे हों या समाज नेता उस प्रसंग को छेड़ा है तो उनके हृदय में मैंने जैनधर्म के प्रति आदर और गौरव का भाव जागते देखा है। विवेक, विचार और ऊँचाई चढ़ते देखी है। इस रूप में मैं कहता हूँ कि भगवान् ऋषभदेव का जीवन जैन समाज को इतना गौरवशाली जीवन मिला है कि उसका ढिंढोरा केवल बीस-तीस में ही पीटने लायक नहीं है, किन्तु अखिल विश्व में आवाज पहुँचाने लायक है। जहाँ-जहाँ हमारी यह आवाज जायगी, हमें नीचा नहीं, ऊँचा ही दिखलाएगी। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वह आपके गौरव को चार चाँद लगा देगी।

जो लोग समाज-जीवन का निर्माण करने और सुधारने की बात सोचते हैं और जैनधर्म [illegible] में उन्हें जब यह प्रकाश मिलता है तो वे गद्गद हो जाते हैं और मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म ने भारत की महान सेवा की है।

जैनधर्म [illegible] रही है। गाँव के बाहर की तलैया में [illegible] और फिर वह [illegible] सड़ती है और अपनी सड़ाँद से [illegible] के लोगों को भी मार डालती है। तो एक वह तलैया है

जिसे बस रुके ही रहना है और उसके बाद सड़ना है और साफ निर्मल नहीं होना है। और दूसरा गंगा का बहता हुआ निर्मल पानी है। गंगा जहाँ भी जाएगी, लोगों को सुख-सुविधा की भेंट करती जाएगी। उसे सड़ना नहीं है, बदबू फैलाना नहीं है, लोगों को जीवन देना है।

तो जैनधर्म गंगा का बहता हुआ निर्मल प्रवाह है। उसे चारों ओर से समेट कर, एकांगी बनाकर एक दायरे में रोक रक्खा जायगा तो वह सड़ेगा, फलतः उसमें चमक एवं स्वच्छता नहीं रह जाएगी। वह तो गंगा के समान बहता हुआ पानी हो और इतना स्वच्छ कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाय, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखें। ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सचाइयों को अपने सामने रक्खें और उन्हीं के बल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र बनाएँ।

भगवान् ऋषभदेव जैसा जीवन दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह आपको मिला है और उनको मिला है जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को तैयार हैं कि भ० ऋषभदेव ने गृहस्थ-दशा में जो कुछ भी किया वह तो संसार का काम किया! उन्होंने कोई सत्कर्म नहीं किया! वे तो यहाँ तक कहते हैं कि उन्होंने गृहस्थ-दशा में विवाह भी किया, राजा भी बने और सभी कुछ संसार

की क्रियाएँ कीं।

ऐसा कहने वाले घर में रक्खी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की तरफ न देख कर मोरियाँ तलाश करते हैं कि जहाँ सड़ाँन आती है। भगवान् ने चूंकि गृहस्थावस्था में यह कहा है और साधु होकर नहीं कहा है, इस कारण वह पाप था, गुनाह था ! उनमें जो सैंकड़ों बुराइयाँ उस समय मौजूद थीं, उनमें से यह भी एक थी। यह तो संसार का मार्ग है, जो भगवान् ने बता दिया है।

क्या यह भाषा जैनधर्म की भाषा है? श्वेताम्बर, दिगम्बर या स्थानकवासियों की भाषा है या पड़ौसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढंग है सो आपका है या किसका है? यह प्राचीन जैनधर्म की भाषा है या कुछ वर्षों से जो परम्परा चल पड़ी है उसके बोलने की भाषा है? या आपके नये-नये पड़ौसी, जो अभी पैदा हुए हैं उनकी भाषा है?

मालूम हुआ, यह उनकी भाषा है जो कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था, करना ही पड़ता था। अब प्रश्न सामने आता है कि उन्होंने क्यों दान दिया और किस अवस्था में दिया? गृहस्थावस्था में ही दिया और वह भी इस तरह कि देना ही पड़ा! मैं [illegible] केवलियों की तरफ से न बोल कर उनकी तरफ से बोल रहे हैं जो कहते हैं कि करना पड़ा और वह उनका जीतकल्प था! वे [illegible] हैं तो मैं भी उनकी तरफ से कह रहा हूँ।

जिसे बस रुके ही रहना है और उसके बाद सड़ना है और साफ निर्मल नहीं होना है। और दूसरा गंगा का बहता हुआ निर्मल पानी है। गंगा जहाँ भी जाएगी, लोगों को सुख-सुविधा की भेंट करती जाएगी। उसे सड़ना नहीं है, बदबू फैलाना नहीं है, लोगों को जीवन देना है।

तो जैनधर्म गंगा का बहता हुआ निर्मल प्रवाह है। उसे चारों ओर से समेट कर, एकांगी बनाकर एक दायरे में रोक रक्खा जायगा तो वह सड़ेगा, फलतः उसमें चमक एवं स्वच्छता नहीं रह जाएगी। वह तो गंगा के समान बहता हुआ पानी हो और इतना स्वच्छ कि जितना-जितना जनता के सामने ले जाया जाय, लोग प्रसन्न हो जाएँ और उसे इज्जत की निगाह से देखें। ऐसा करते समय हम उसकी ठोस सचाइयों को अपने सामने रक्खें और उन्हीं के बल पर उसे और अपने आपको आदर का पात्र बनाएँ।

भगवान् ऋषभदेव जैसा जीवन दूसरे समाज के सामने होता तो धूम मच जाती और वह समाज उसके लिए गौरव का अनुभव करता। किन्तु वह आपको मिला है और उनको मिला है जो दुर्भाग्य से आज भी यह कहने को तैयार हैं कि भ० ऋषभदेव ने गृहस्थ-दशा में जो कुछ भी किया वह तो संसार का काम किया! उन्होंने कोई सत्कर्म नहीं किया! वे तो यहाँ तक कहते हैं कि उन्होंने गृहस्थ-दशा में विवाह भी किया, राजा भी बने और सभी कुछ संसार

की क्रियाएँ कीं।

ऐसा कहने वाले घर में रक्खी हुई सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की तरफ न देख कर मोरियाँ तलाश करते हैं कि जहाँ सड़ाँन आती है। भगवान् ने चूंकि गृहस्थावस्था में यह कहा है और साधु होकर नहीं कहा है, इस कारण वह पाप था, गुनाह था! उनमें जो सैंकड़ों बुराइयाँ उस समय मौजूद थीं, उनमें से यह भी एक थी। यह तो संसार का मार्ग है, जो भगवान् ने बता दिया है।

क्या यह भाषा जैनधर्म की भाषा है? श्वेताम्बर, दिगम्बर या स्थानकवासियों की भाषा है या पड़ौसी समाज की भाषा है? यह जो कहने का ढंग है सो आपका है या किसका है? यह प्राचीन जैनधर्म की भाषा है या कुछ वर्षों से जो परम्परा चल पड़ी है उसके बोलने की भाषा है? या आपके नये-नये पड़ौसी, जो अभी पैदा हुए हैं उनकी भाषा है?

मालूम हुआ, यह उनकी भाषा है जो कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था, करना ही पड़ता था। अब प्रश्न सामने आता है कि उन्होंने वर्षी दान दिया सो किस अवस्था में दिया? गृहस्थावस्था में ही दिया और वह भी इस तरह कि देना ही पड़ा! मैं 'पड़ा' शब्द जैनधर्म की तरफ से न बोल कर उनकी तरफ से बोल रहा हूँ जो कहते हैं कि करना पड़ा और वह उनका जीतकल्प था! वे ऐसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं तो मैं भी उनकी तरफ से कर रहा हूँ।

तो वे ऐसा कहते हैं पर क्या आप भी ऐसा ही कहते हैं? आप तो तीर्थङ्करों के द्वारा दिये हुए वर्षी दान की महिमा गाते हैं, उसके गौरव का अनुभव करते हैं और मानते हैं कि भगवान् लगातार वर्ष भर दान देते रहे और इस रूप में उन्होंने जनता की बड़ी भारी सेवा की। मगर वे उस दान को धर्म नहीं कहते। उनका कहना है, गृहस्थी में रहते जैसे विवाह किया, राजा बने, वैसे ही दान भी दिया। विवाह करना धर्म नहीं है, राजा बनना धर्म नहीं है, उसी प्रकार दान देना भी धर्म नहीं है।

यह बात आप सुनते हैं और ठीक ढंग से सुनते हैं कि भगवान् महावीर ने अपने माता-पिता की कितनी सेवा की? मगर इसके लिए भी वही भाषा बोली जाती है कि वे गृहस्थी में थे अतः सेवा करनी पड़ी। साथ ही यह भी कहते हैं कि माता-पिता की सेवा में धर्म होता तो साधु बन कर भी क्यों नहीं की? इससे सिद्ध है कि सेवा करना संसार का काम है और उससे पाप का ही बन्धन होता है।

अगर आप भी इसी भाषा का प्रयोग करते हैं, अर्थात् तीर्थ-करों के वर्षी दान में, माता-पिता की सेवा में अगर एकान्त पाप मानते हैं तो कहना पड़ेगा कि फिर तेरहपंथियों में और आप में क्या अन्तर है? सिर्फ शब्दों पर झगड़ते हैं और बात एक ही मानते हैं! वे कहते हैं कि एक वर्ष तक दान दिया तो बारह वर्ष तक घोर उपसर्गों और परीषहों के रूप में उसका कटुक फल भोगना पड़ा और इस प्रकार

भगवान् महावीर को जो कष्ट भोगने पड़े, वे सब दान के फल उन्होंने बतला दिये हैं। पर आपका तो यह मन्तव्य नहीं है।

जीवरक्षा के सम्बन्ध में भी उनका यही कहना है। भगवान् महावीर ने गोशालक को बचा दिया तब वह छद्मस्थ थे, केवलज्ञानी होकर नहीं बचाया। अतः मरते जीव को बचाना भी एकान्त पाप है।

और आप कहते हैं कि भ० ऋषभदेव ने कृषि आदि कलाओं का जो उपदेश दिया सो गृहस्थावस्था में दिया, केवलज्ञानी होकर नहीं दिया, अतएव कृषि में महारंभ है—घोर पाप है!

इस सम्बन्ध में साफ-साफ निर्णय हो जाना चाहिए। मेरे और दूसरे विचारकों के मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। मगर आप एक प्रकार की गड़बड़ में पड़े हैं। छद्मस्थ-अवस्था में किये हुए तीर्थंकरों के कर्त्तव्यों को—दान को, माता-पिता की सेवा को और जीवरक्षा आदि को—आप पाप नहीं मानते हैं, मगर जब कृषि का प्रश्न उपस्थित होता है तो चटपट पाप मानने वालों की कतार में खड़े हो जाते हैं। यह निर्णय की स्थिति नहीं है। आपको सही निर्णय पर आना चाहिए।

तीर्थंकरों ने एक वर्ष तक दान दिया तो बड़ा भारी पुण्य किया, सत्कर्म किया, किन्तु समस्त आगमसाहित्य में एक भी शब्द नहीं है कि उन्होंने किस उद्देश्य से दिया। कोई स्पष्टीकरण नहीं है कि उनके दान के पीछे क्या अर्थ था, कौन-सा संकल्प था और क्या भावनाएँ

थी ? तब हम जाँचते हैं कि दान देने में सद्भावना थी या दुर्भावना थी ? और जब हम कहते हैं कि भगवान् के दान के पीछे जनता के हित की भावना थी तो यह जैनधर्म की प्रकृति के अनुरूप हमारी तरफ से किया हुआ अनुमान है, मगर कृषि के सम्बन्ध में तो स्पष्ट ही आगम में उल्लेख किया गया है। मैं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का पाठ आपके सामने पेश कर चुका हूँ और वह पाठ है—'पयाहियाए उवदिसइ।' अर्थात् भगवान् ने प्रजा के हित के लिए, सुखसुविधा के लिए, कृषि आदि का उपदेश दिया। फिर भी आप कृषि को महापाप में गिनते हैं ? ऐसी स्थिति में शास्त्र की आवाज और हुई और आपकी आवाज और हुई।

अभिप्राय यह है कि दान के सम्बन्ध में आगम में कोई स्पष्टीकरण नहीं है कि किस लिए दिया गया, फिर भी उसे आप सत्कर्म या धर्म समझते हैं, किन्तु कृषि के सम्बन्ध में जब कि स्पष्टीकरण मौजूद है तब भी आप उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होते ! अगर आपका निर्णय यही है कि तीर्थंकरों ने छद्मस्थ दशा में जो कुछ भी किया है वह सब पाप था, गुनाह था और प्रजा के हित के लिए की हुई उनकी प्रवृत्ति भी पाप थी, तब तो आपको दूसरी कतार में खड़ा हो जाना चाहिए। इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

लेकिन आपका यह निर्णय सही निर्णय नहीं होगा। ऐसा

निर्णय कर लेना तीर्थङ्कर भगवान् की पवित्र आत्मा का अपमान करना है। तीर्थङ्कर की आत्मा अनेक जन्मों के पवित्र संस्कारों को लेकर अवतीर्ण होती है और यह समझ लेना कि जनता के अकल्याण के लिए वे प्रवृत्ति करते हैं या जगत् को पाप सिखलाने के लिए कोई कार्य करते हैं, घोर अज्ञान है। यह तीर्थङ्कर का अवर्णवाद है।

गृहस्थावस्था में उनके राजा बनने को एकान्त पाप बतलाना भी गलत है। सोचना चाहिए कि वे राजा बने तो किस उद्देश्य से बने? दुनिया के मजे लूटने के लिए, भोग भोगने के लिए, आनन्द के लिए या सिंहासन के सुख का आस्वादन करने के लिए राजा बने? अथवा प्रजा में फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीतिमर्यादा को कायम करने के लिए, और प्रजा में फैली हुई बुराइयों को हटाने के लिए राजा बने?* आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि जैसे बड़ी मछली छोटी-छोटी मछलियों को निगल जाती है, उसी बड़े आदमी छोटों को निगल जाते हैं। क्या तीर्थङ्कर मनुष्य समाज की

* शिष्टानुग्रहाय, दुष्टनिग्रहाय, धर्मस्थितिसंग्रहाय च, ते च राज्य-थतिक्रिया सम्यक् प्रवर्तमाना: क्रमेण परेषां महापुरुषमार्गोपदेशकतया चौर्य-व्यसननिवर्तनतो नारकातिथेयनिवारकतया ऐहिकामुष्मिकसुखसाधकतया प्रशस्ता एवेति। महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वव्याप्ता बहुगुणाल्प-कार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति। ....स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि—
ं च णं चरमाणस्स पंच निस्सा ठाणा पण्णत्ता, तंजहा—छक्काया १

इस विषम स्थिति को दूर करने के लिए राजा बने ? राज-सिंहासन को स्वीकार करने में जो धार्मिक दृष्टिकोण है उसे तो आप ध्यान में नहीं लाते और अपनी-अपनी मनो-भावनाओं के अनुरूप यह कल्पना कर बैठते हैं कि वे राजा बने तो भोग-विलास के लिए ही राजा बने। उन लोकोत्तर महापुरुषों ने सिंहासन को स्वीकार करके प्रजा में होने वाले अत्याचार और अन्याय का प्रतीकार किया, बड़ों के द्वारा होने वाले छोटे आदमियों के शोषण का अन्त किया और जनता की अनेक प्रकार से सेवाएँ कीं, इन सब बातों पर क्यों धूल फेंकते हैं ?

इस प्रकार अपने दृष्टिकोण को साफ करना होगा। भगवान् ने जब दान दिया तब उनमें तीन ज्ञान थे, चौथा ज्ञान नहीं था, और जब कृषि का उपदेश दिया तब भी तीन ज्ञान ही थे। इन ज्ञानों के होते हुए कृषि या दान के रूप में अहंकार, क्रोध, मान, माया या लोभ के वश उन्होंने प्रवृत्ति नहीं की। उन्होंने जो इस ओर प्रवृत्ति की, उसमें उनकी अपनी कोई निजी वासना-पूर्ति नहीं थी, केवल प्रजा के कल्याण की पुण्यमयी भावना थी। ऐसी स्थिति में जो लोग

गणे २ राया ३ गाहावई ४ सरीर ५ मित्याद्यालापकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा-नरपतिस्तस्य धर्मसहायकत्वं दुष्टेभ्यः साधुरक्षणादित्युक्तमस्तीति परम-करुणापरीतचेतसः परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रितययुक्तस्य भगवतो राजधर्म-प्रवर्तकत्वे न कापि अनौचिती चेतसि चिन्तनीया।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका, दूसरा वक्षस्कार।

उनके दान को एकान्त पाप और कृषि को महारंभ कहते हैं, उन्हें गहरा विचार करना होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में लेनी होगी। जो कार्य महारंभ या महापाप का होता है, उसका उपदेश करने वाला भी महारंभी और महापापी होता है। एक मांस खाने वाला है और दूसरा मांस खाने का उपदेश देने वाला है। तो खाने वाला ही नहीं, उपदेश देने वाला भी महापापी है। खेती करने वाला महापापी है तो उसका उपदेश देने वाला भी महापापी क्यों नहीं होगा ? बल्कि, मांस खाने की तो कोई सीमा हो सकती है पर उपदेश की कोई सीमा नहीं। उपदेशक के उपदेश से न जाने कितने लोग, किस-किस जगह और किस-किस काल में मांस खाएँगे ! अतएव शिक्षा देने वाला काम करने वाले से भी बड़ा पापी होता है। क्या आप ऐसा मानने को तैयार हैं कि भगवान् महारंभी और महापापी थे ? अगर ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं तो निर्णय होने में देर नहीं लगेगी। अगर आपका अन्तःकरण स्वच्छ है और आपकी आत्मा पक्षपात से ग्रस्त नहीं है तो आपको समझने में देर नहीं लगनी चाहिए कि शुद्ध जनहित के लिए भगवान् ने तो प्रवृत्ति की उसमें महापाप या एकान्त पाप नहीं हो सकता।

हमने जितना चिन्तन किया उसमें भगवान् ऋषभदेव की महान् करुणा और दया और प्रेम ही मिला है। जो युगलिया आपस में लड़ रहे थे, अनार्यों के रूप में तबदील हो रहे थे और पशुओं

को मार कर खाने की ओर जा रहे थे—खाने को तैयार थे, उन्हें भगवान् ने कृषि की शिक्षा दी और इस प्रकार उन्हें महारंभ से अल्पारंभ की ओर लाए।

अकर्मभूमि में सभी लोग युगलिया थे। उस समय कोई अनार्य नहीं था। फिर आर्य और अनार्य का यह भेद क्यों हो गया? बहुत से लोग अनार्य क्यों हो गए?

कोई कह सकता है, आर्यभूमि में रहने के कारण लोग आर्य हो गये और अनार्यभूमि के रहने वाले अनार्य रह गए। मगर यह समाधान सही नहीं है। जो लोग भूमि में आर्यत्व और अनार्यत्व की कल्पना करते हैं, मैं समझता हूँ, उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है। वास्तविक बात यह है कि जिनको जीवन के अच्छे साधन मिल गए, जिनके पास कृषि का सन्देश पहुँच गया और जिन्होंने उसे ग्रहण कर लिया, वे आर्य रहे। जहाँ यह सन्देश नहीं पहुँचा और भूख से पीड़ित लोगों ने पशु मार कर खाना शुरू कर दिया और जो मांस खाकर अपने पेट का गड्ढा भरने लगे वे अनार्य होते गए।

भगवान् ने आर्य बनाने के लिए कृषि की शिक्षा दी या अनार्य बनाने के लिए? यदि अनार्य बनाने के लिए खेती सिखलाई तो ऐसी क्या मजबूरी थी कि दुनिया को अनार्य बनाया जाय? यह कौन-सा जीतकल्प है या तीर्थंकर कल्प है कि उस भूखी जनता को महारंभ के रास्ते पर और महारंभ के दरवाजे पर धकेल दिया।

नहीं, अनन्त करुणा के सागर तीर्थङ्कर ऐसा नहीं कर सकते। उन्होंने पथभ्रष्ट हुई जनता को ठीक राह बतलाई है। वे मांसाहार की ओर जाती हुई जनता को शाकाहार की ओर लाये। इस सिद्धान्त को ठीक तरह न समझने के कारण ही हमारी निगाह उलटी तरफ जाती है।

आज हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह है कि साधुओं को इस सम्बन्ध में कहने या विवेचना करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न पर भी, आइए थोड़ा विचार कर लें।

पुत्र को माता-पिता की सेवा का उपदेश देना, दान का या कर्त्तव्य का उपदेश देना, पति-पत्नी का क्या कर्त्तव्य है और अध्यापक का क्या कर्त्तव्य है, यदि यह सब सांसारिक कार्य हैं तो फिर इन सब बातों से भी साधु को क्या मतलब है? फिर तो आप भी साधु को ही दान दे दिया करो, आपके माता-पिता भूखे मर रहे हों और सड़ रहे हों तो इससे मुझे क्या? साधु को संसार से क्या लेना है और क्या देना है? जब संसार से कोई ताल्लुक ही नहीं है तो साधु इस रूप में क्यों उपदेश देता है? माता, पिता, भाई आदि की सेवा और साधर्मी की सेवा के सम्बन्ध में क्यों कहता है? मगर बात ऐसी नहीं है। साधु की एक मर्यादा है। वह विवेक बतलाता है कि अमुक कार्य क्या है। साधु किसी काम को करने की प्रेरणा नहीं करता मगर उस काम को करने का फल-अफल बतलाता है। यह उसका कर्त्तव्य है।

साधु के सामने प्रश्न रक्खा जा सकता है कि मांस खाना नैतिक है अथवा फलाहार से गुजारा करना नैतिक है ? दोनों में से किसमें ज्यादा और किसमें कम पाप है ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर साधु को चुप्पी साध कर बैठ रहना चाहिए ? कोई पूछता है—छना पानी पीने से ज्यादा पाप है या अनछना पानी पीने में ज्यादा पाप है ? तो क्या बताऊँ ? मौन रह जाऊँ ?

तो विवेक को और जैनधर्म को बताना पड़ेगा कि अमुक में ज्यादा पाप है और अमुक में कम पाप है। पाप में जितनी-जितनी कमी आएगी, उतना-उतना ही धर्म का अंश आता जायगा। प्रश्न होने पर साधु को बतलाना होगा कि मांसाहार में ज्यादा और फलाहार में कम पाप है। यह जो पाप की कमी है वह क्या है—पाप या धर्म ?

कल्पना कीजिए, किसी आदमी को १०५ डिग्री बुखार चढ़ा हुआ था। दूसरे दिन १०० डिग्री रह गया। किसी ने उससे पूछा—क्या हाल है ? तब वह कहता है कि आराम है। आप कहेंगे, सौ डिग्री बुखार है तो आराम कहाँ है ? मगर जितना बुखार है उतना तो है ही, उससे इन्कारी नहीं है, मगर जितनी कमी हुई है उतना तो आराम हुआ या नहीं ?

दुर्भाग्य से जो पाप है उसकी तरफ तो निगाह जाती है किन्तु जितना कम पाप होता है उतने ही अंशों में पाप से बचाव होता है,

उसकी तरफ निगाह नहीं जाती है ! एक आदमी मांसाहार से फलाहार पर जाता है तो उसमें भी पाप है, मगर अल्प पाप है और मांसाहार नरक का द्वार है, फलाहार नरक का द्वार नहीं है। जब नरक का द्वार नहीं है तो उसमें उतने ही अंशों में पवित्रता आ जाती है, जैसे १०० डिग्री बुखार होने पर भी रोगी को आराम होता है। इस तथ्य को स्वीकार करने से हिचक क्यों होती है ?

अगर साधु को दुनिया से कोई मतलब नहीं तो मुझे व्याख्यान देने की भी क्या आवश्यकता है ? मैं व्याख्यान नहीं दूँगा तो आप घर से यहाँ तक आएँगे भी नहीं; फलतः आने जाने का आरम्भ भी नहीं होगा। जब मैं व्याख्यान देता हूँ तो आप आते हैं। तो यह आरंभ मेरे व्याख्यान को लगा ? आप साधुदर्शन को जाते हैं, व्याख्यान सुनते हैं तो इस विषय में क्या मानते हैं ? साधु के पास आने में हिंसा हुई है किन्तु जो प्रवचन सुना है, उपदेश सुना है, उससे तो निर्जरा हुई, उसका भी कोई अर्थ है या नहीं ?

भगवान् महावीर का दर्शन करने के लिए राजा श्रेणिक कितने समारोह के साथ गया था ? ऐसा करने में एक अंश में पाप हुआ तो भगवान् के दर्शन करने का अपूर्व धर्म हुआ, यह भी तो बतलाया है।

मैंने आप से शास्त्रस्वाध्याय के लिए कहा और आप स्वाध्याय करने लगे तो वहाँ मन वचन काय के योगों की चंचलता सर्वथा तो मिट नहीं जाती और जहाँ चंचलता है वहाँ आस्रव है, उस अंश में

संवर नहीं है । योगों का सर्वथा निरोध हो जाय तो चौदहवें गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाय और चौदहवें गुणस्थान की भूमिका प्राप्त हो जाय तो मोक्ष मिलते देर न लगे । ऐसी स्थिति में विचार करना होगा कि शास्त्रस्वाध्याय करते समय जो योग है वह शुभ योग है या अशुभ योग है ? इसी तरह भगवान् ऋषभदेव ने जो कुछ भी सिखलाया वह शुभयोग में सिखलाया या अशुभयोग में ? अगर वे अशुभ-योग में सिखलाते तो क्रोध, मान, माया और लोभ की दुष्प्रवृत्ति होनी चाहिए थी । मगर शास्त्र तो यह बतलाता है कि उन्होंने प्रजा के हित के लिए शिक्षा दी थी । ऐसी स्थिति में शुभ योग आ गया ।

आप शास्त्रश्रवण करेंगे या भगवान् की स्तुति करेंगे तो भी आस्रव का होना अनिवार्य है, मगर वह होगा शुभ अंश में । हाँ, यह भी ध्यान में रखना होगा कि ऐसा करते धर्म का अंश कितना है ?

आशय यह है कि जब कोई भी क्रिया की जाय या किसी भी क्रिया के सम्बन्ध में कहा जाय तो उसके दोनों बाजुओं पर ध्यान देना चाहिए ।

साधु जब कृषि के सम्बन्ध में कहते हैं तो वे कृषि का समर्थन या अनुमोदन नहीं करते हैं । वे केवल वस्तुस्वरूप का विवेचन करते हैं । वे यह बतलाते हैं कि खेती क्या है – अल्पारम्भ है या महारम्भ है ? साधु यह कहेंगे कि जानवरों को मार कर जीवन निर्वाह करना महारंभ है और खेती करना उसकी अपेक्षा अल्पारम्भ है । श्रावक के लिए

महारम्भ त्याज्य है और अल्पारम्भ का त्याग उसकी भूमिका में अनिवार्य नहीं है। सभी जगह साधुओं की भाषा का ऐसा ही अर्थ होता है। हम व्याख्यान का समर्थन करते हैं किन्तु आने का समर्थन नहीं करते।

एक मनुष्य तीर्थङ्कर के दर्शन के लिए जा रहा है और दूसरा वेश्या के यहाँ जा रहा है तो कहाँ शुभ योग और कहाँ अशुभ योग है ? जा तो दोनों रहे हैं किन्तु एक के जाने में शुभ योग हैं और दूसरे के जाने में अशुभ योग है। तो जाना-आना मुख्य नहीं है, शुभ योग या अशुभ योग ही मुख्य हैं। और इस प्रकार प्रवृत्ति करना या न करना मुख्य नहीं है किन्तु उस प्रवृत्ति के पीछे यदि शुभ योग है तो वह भी शुभ है और प्रवृत्ति न करने पर भी अगर योग अशुभ है तो वहाँ पापास्रव है और पाप-बंध है।

देहातों में अग्रवाल, ओसवाल, पोरवाड़, जाट आदि जैन हैं स्थानकवासी जैन भी हैं और वे खेती का धन्धा करते हैं। उनमें कोई व्रतधारी भाई भी हैं। तो आप उनको श्रावक कहना चाहेंगे या नहीं? हमारे सामने मुख्य प्रश्न एक ही है और वह यह कि क्या श्रावक का और खेती का ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ खेती है वहाँ श्रावकपन नहीं रह सकता है ? और जहाँ श्रावकपन है वहाँ खेती नहीं रह सकती है ? यदि ऐसा है तो एक बात आएगी कि उन हजारों स्थानकवासी परम्परा के अनुयायियों को स्पष्ट कह देना होगा कि आपको इस भूमिका में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि खेती महारंभ है। और जहाँ

महारम्भ है वहाँ श्रावकत्व नहीं रह सकता। अस्तु, मैं साफ कहूँगा उन साथियों से कि वे क्यों दुनिया को धोखे में रख रहे हैं?

वे कह सकते हैं कि हम मर्यादा करा देते हैं, किन्तु उपासकदशांगसूत्र में स्पष्ट कहा है कि पन्द्रह कर्मादानों में मर्यादा नहीं है:-

पण्णरसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं।

अर्थात्—पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने के योग्य नहीं हैं।

महारंभ एवं कर्मादान में मर्यादा नहीं होती। और यदि खेती भी कर्मादान में है, महारम्भ में है तो उसकी भी मर्यादा नहीं हो सकती। पन्द्रह कर्मादानों का त्याग भगवतीसूत्र के अनुसार तीन करण से किया जाता है।* उनमें आंशिक त्याग या मर्यादा की गुँजाइश ही कहाँ है? अतएव जहाँ कर्मादान होगा वहाँ श्रावकपन नहीं रह सकता। तो आप उन हजारों खेती करने वाले भाइयों से कह दीजिए कि आप श्रावक नहीं हैं।

इस प्रकार खेती-बाड़ी को महारम्भ भी कहना, कर्मादान भी समझना और फिर उसके साथ अणुव्रती श्रावकपन भी कायम रखना, सम्भव नहीं है। कर्मादान की मर्यादा अगर होती है तो कसाईखाने चलाने की भी मर्यादा की जा सकती है? एक कसाई किसी के पास आता है और कहता है कि मैं सौ कसाईखाने चला रहा हूँ। उन्हें

* देखिए, भगवतीसूत्र ८, ५

ही चलाऊँगा, मर्यादा करा दीजिए। तो क्या वह कसाई अणुव्रत-धारी श्रावक की कोटि में आ सकेगा? जैसे कसाईखाने की मर्यादा करने पर भी श्रावकपन नहीं आ सकता, क्योंकि कसाईखाना चलाना महारंभ है, उसी प्रकार खेती करना भी अगर महारम्भ है, कर्मदान है, तो उसकी मर्यादा करने पर भी श्रावकपन नहीं आना चाहिए। और जब कि खेती करने वाले श्रावक होते हैं तो फिर खेती को कर्मादान और महारंभ किस प्रकार कहा जा सकता है?

इस कथन से आप यह भी समझ सकते हैं कि साधु कृषि के सम्बन्ध में क्या कहते हैं? वे कृषि का समर्थन नहीं करते किन्तु इस बात का समर्थन करते हैं कि खेती कर्मादान में नहीं है और जो खेती करेगा वह श्रावक नहीं रह सकता, यह धारणा गलत है।

'फोडीकम्मे' नामक कर्मादान का आशय क्या है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस विषय में एक भाई ने प्रश्न किया है—कोई मनुष्य स्वयं खेती करता है और अपने खेत में कुआ खुदवाता है। कुआ खुदवाने के लिए उसे सुरंग लगवानी पड़ती है। तो यह सुरंग लगवाना क्या 'फोडीकम्मे' है? इसका उत्तर यह है कि नहीं, उसका सुरंग लगवाना फोडीकम्मे नहीं है। वह खेती की सिंचाई के लिए या जनता के लिए पानी उपलब्ध करने के लिए या सुख-सुविधा के लिए कुआ बनवाता है। उसने धन्धे के तौर पर उसका इस्तेमाल नहीं किया है और कर्मादान का मतलब है धन्धा इस्तेमाल करना। जो

सुरंग लगाने का धन्धा करता है वह फोडीकम्मे नामक कर्मादान का सेवन करता है और जो अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कार्य करता है वह कर्मादान का सेवन नहीं करता। बहिनें भोजन बनाती हैं। जली हुई लकड़ी के कोयले बना कर रख लेती हैं तो क्या उसे 'इंगालकम्मे' कर्मादान कह सकेंगे? नहीं, वह इंगालकम्मे नहीं है। कोयला बना-बना कर बेचना-कोयले बनाने का धन्धा करना 'इंगाल-कम्मे' नामक कर्मादान है।

इसी प्रकार सुरंगें लगा-लगा कर विस्फोट करने का धन्धा अख्तियार कर लेना फोडीकम्मे कर्मादान है। अपनी या जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुआ खुदवाना कर्मादान नहीं है।

एक प्रश्न किया गया था कि नन्दन मणिहार ने एक बावड़ी बनवाई तो वह मेंढक बना। इसका आशय यह निकला कि जो बावड़ी बनवाएगा वह मेंढक होगा?

कहीं-कहीं दूर-दूर तक पानी नहीं मिलता और लोग पानी के लिए बड़ी तकलीफ पाते हैं। जयपुर रियासत में देखा गया है कि लोग अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा कुआ वगैरह खुदवा कर जनता की सुख-सुविधा में लगाते हैं। उन्हें उससे कोई स्वार्थ नहीं साधना होता है। यह भी वे नहीं जानते कि जहाँ जलाशय बनवाया है वहाँ वे आएँगे भी कभी या नहीं आएँगे? तो आप उन सब को सूचना दे दीजिए कि तुम लोगों ने जो जलाशय बनवाये हैं सो तुम सब अपने-

अपने जलाशयों में मेंढ़क बनोगे !

हिसार की तरफ मैंने देखा कि वहाँ कुओं की बहुत कमी है। गाँव के बाहर तलैया होती है। सब लोग उसी का पानी पीते हैं। उसमें असंख्य मलेरिया के कीटाणु पैदा हो जाते हैं, पानी सड़ जाता है और लोग वही सड़ा पानी पीकर बीमारी के शिकार होते हैं। वहाँ के गाँवों की यह हालत देखकर कुछ लोगों ने सोचा—हम बर्बाद होते हैं और तलैया का सड़ा पानी क्या पीते हैं, जहर को भीतर डाल लेते हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने एक कुआ बना लिया और तब मलेरिया का जोर कम हो गया। तो क्या वे कुआ बनवाने वाले लोग मेंढ़क होंगे ?

यदि ऐसा नहीं है तो नन्दन मणिहार क्यों मेंढ़क हुआ ? बात यह है कि नन्दन बावड़ी बनवाने से मेंढ़क नहीं हुआ, अन्यथा किसी दूसरी बावड़ी में ही वह मेंढ़क के रूप में उत्पन्न हो सकता था। सिद्धान्त यह है कि उसे उस बावड़ी के प्रति ममता उत्पन्न हो गई थी और मृत्यु की अन्तिम घड़ी तक उसमें उसकी आसक्ति बनी रही। जब उसकी ममता और आसक्ति थी तो उसे उसमें जाना पड़ा। उसका धर्म उसे बावड़ी में मेंढ़क बनाने नहीं ले गया, उसकी आसक्ति और ममता ने ही उसे बावड़ी में घसीटा और मेंढ़क बनाया।

शास्त्रकार इसीलिए कहते हैं कि जो सत्कर्म करना हो सो कर लो, किन्तु उसके पीछे आसक्ति मत रक्खो। यह बावड़ी मेरी है,

इसका पानी दूसरे क्यों पीएँ ? इस पर पैर रखने का भी दूसरों को क्या अधिकार है ? हम चाहें जिसे पानी लेने देंगे और चाहें जिसे नहीं लेने देंगे ! इस प्रकार की ममता ही मेंढ़क बनाने वाली है। ज्ञातासूत्र या कोई और सूत्र उठा कर देखते हैं तो उसमें एक ही बात पाते हैं कि सत्कर्म करो, पर ममता और आसक्ति मत रक्खो। नन्दन मणिहार को कुए ने मेंढ़क नहीं बनाया, उसके सत्कर्म ने मेंढ़क नहीं बनाया। ऐसा होता तो चक्रवर्तियों ने देश के हित के लिए क्या-क्या काम किये हैं तो उन सब को भी मेंढ़क और मछली बनना चाहिए था ! मगर वे मेंढ़क नहीं बने। इससे साबित है कि मेंढ़क बनाने वाला कारण कुछ और ही है—सत्कर्म नहीं।

आज कृषि के सम्बन्ध में मैंने कतिपय प्रश्नों पर चर्चा की है। इससे पहले भी मैं काफी कह चुका हूँ। जो कुछ कहा गया है, उस पर निष्पक्ष बुद्धि से, वास्तविकता को समझने की भावना से विचार कीजिए। आपका भ्रम दूर होगा और आप सत्य के मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे।

२५-६-५०

एक प्रश्न

जीवन-निर्वाह के लिए धन्धे के रूप से मनुष्य जब प्रयत्न करता है तो वह चाहे जितनी यतना बरते, फिर भी हिंसा तो होती ही है। वह हिंसा, सिर्फ़ इस कारण कि जीवन के लिए वह अनिवार्य है, अहिंसा नहीं बन सकती। फिर भी गृहस्थ श्रावक के लिए हिंसा-अहिंसा की एक मर्यादा है। यहाँ हमें यही देखना है कि कौन-सी हिंसा श्रावक की भूमिका में परिहार्य है और कौन-सी हिंसा अपरिहार्य है? कौन-सी हिंसा श्रावक की मर्यादा में है और कौन-सी हिंसा ऐसी है, जो श्रावक को अनिवार्य रूप से त्याग देनी ही चाहिए?

आखिर जीवन में यह विचार करना है कि किस मर्यादा का पालन करते हुए श्रावक की भूमिका में रह सकता है? जीवन चला रहे हैं तो उसमें कहाँ तक न्याय और मर्यादा रहती है? कहाँ तक औचित्य की रक्षा हो रही है?

पन्द्रह कर्मादान संकल्पी हिंसा मे नही, उद्योगी हिंसा में हैं। लेकिन जो उद्योगी हिंसा, संकल्पी हिंसा की ओर प्रेरित करती हो, कहाँ तक मर्यादा में है? वह श्रावक की भूमिका में आचरण करने योग्य है या नहीं? इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है।

शास्त्रकारों ने इस विषय में गहरा चिन्तन और मनन किया है। वे तीर्थंकरों के रूप में या आचार्यों के रूप में रहे हैं। उन्होंने जनता की मर्यादा को ध्यान में रख कर जो प्रवचन किया है वह आज भी हमारे लिए प्रकाशस्तम्भ है।

सच पूछो तो हम तो आज के युग में अन्धे जैसे हैं। अन्धा जब चलता है तो कहीं भी ठोकर खाकर गिर सकता है, गड्हे में गिर सकता है, पानी में डूब सकता है और दीवार से टकरा सकता है, किन्तु यदि उसके हाथ में लाठी दे दी तो समझ लीजिए कि आपने बड़ा पुण्य कर लिया। उस लाठी के सहारे वह टटोल कर चलता है और उसे गड्हे का, दीवार का और पानी का पता चल जाता है। दीवार आएगी तो पहले लाठी टकराएगी और वह बच जाएगा।

इस प्रकार जो बात आप अन्धे के विषय में सोचते हैं वही बात हम लोगों के विषय में भी है। शास्त्र हमारी लाठी हैं। जैसे अन्धा सीधा नहीं देख सकता और लाठी के द्वारा ही वह देखता है, उसी प्रकार हम लोग भी सीधे नहीं, शास्त्रों के द्वारा ही देखते हैं।

जिस प्रकार लाठी अन्धे का अवलम्बन है, उसी प्रकार शास्त्र हमारा अवलम्बन है। अतएव हम जो भी कहें और समझें, वह शास्त्र के आधार पर ही होना चाहिए। जहाँ शास्त्र कोई स्पष्ट मार्ग-निर्देश न करता हो वहाँ उसके प्रकाश में अपने विवेक का, अपनी नैसर्गिक बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार हमारा जो भी विचार हो, शास्त्रों से अलग न हो। आपका क्या विचार है, मेरा क्या विचार है या अमुक व्यक्ति का क्या कहना है, शास्त्रों के समक्ष इसका कोई मूल्य नहीं है। अतएव शास्त्र हमें जो प्रकाश दे रहा है, उसी प्रकाश में हमें देखना है कि जीवन-व्यवहार में कहाँ महाहिंसा है और कहाँ अल्पहिंसा है ? हमारी कौन-सी प्रवृत्ति महारंभ में परि-गणित होने योग्य है और कौन-सी प्रवृत्ति अल्पारंभ में गिनी जा सकती है ?

शास्त्रों में महारंभ को नरक का द्वार बतलाया है। तो श्रावक को यह सोचना पड़ेगा कि मैं जो कार्य कर रहा हूँ वह क्या महारंभ है, शास्त्रों की भाषा में नरक का द्वार है, अथवा अल्पारंभ है और नरक से अलग करने वाला है ?

जीवन में हिंसा अनिवार्य है। पूरी तरह उससे बचा नहीं जा सकता। अगर इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है तो उसकी बात मानी नहीं जा सकती। जीवन के संघर्ष में जो व्यापार, खेती वगैरह चल रहे हैं, उनमें हिंसा नहीं है, ऐसा कहने वाले की बात की कोई

कीमत नहीं है। जब शास्त्र हिंसा होना बतलाता है तो साधारण के, यह कहने का कि हिंसा नहीं है, क्या मूल्य हो सकता है? ऐसी स्थिति मे हमें केवल यही देखना चाहिए कि अमुक कार्य में हिंसा और अहिंसा का कितना भाग है? और वह कार्य महारंभ-नरक का कारण है या नहीं है?

विचारों में भेद हो सकता है। और जब विचार का आधार शास्त्र है और शास्त्र एक ही है और दुराग्रह किसी ओर नहीं है तो यह भी आशा रखनी चाहिए कि कभी न कभी प्रस्तुत विचारभेद समाप्त हो जाएगा। परन्तु जब तक विचारभेद समाप्त नहीं हुआ है, प्रत्येक को समभाव से, सहिष्णुतापूर्वक चिन्तन-मनन करना चाहिए। विचार-विभिन्नता को लेकर झगड़ने की प्रवृत्ति सत्य को उपलब्ध करने का मार्ग नहीं है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि किसी ने कोई बात कही और वह बिना सोचे-समझे मान ली गई तो उसका भी कोई मूल्य नहीं है। जो बात विचारपूर्वक और चिन्तनपूर्वक स्वीकार की गई है या इन्कार की गई है उसी का कुछ मूल्य होता है। मगर आग्रह के तौर पर स्वीकार या अस्वीकार करने की भी कोई कीमत नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विवेक पूर्वक, सत्य के प्रति गाढ़ी आस्था रखकर; चिन्तन-मनन किया जाय और तब किसी बात को स्वीकार या अस्वीकार किया जाय।

जैनधर्म मनुष्य के विचारों को धक्का देने के लिए या कुचल

देने के लिए नहीं है। वह तो विचारों को मोड़ देने के लिए है। जो विचारप्रवाह बह रहा है उसे चिन्तन और मनन के द्वारा सही दिशा की ओर घुमा देना ही जैनधर्म का काम है। विचारों को मोड़ देने के लिए प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। इसी कारण जब-जब विचार-संघर्ष होता है तो मुझे आनन्द आने लगता है। जो व्याख्यान सुनने के बाद तुरन्त ही समाप्त हो जाय और जिस प्रवचन से विचारों में नई हलचल और कम्पन उत्पन्न न हो, वह किस काम का? कुछ हलचल होनी चाहिए, कुछ उथल-पुथल होनी चाहिए, कुछ संघर्ष होना चाहिए। तभी तो मानस-तल में बद्धमूल भ्रान्त संस्कारों की जड़ हिलेगी, तभी वे ढीले पड़ेंगे और अन्त में उखड़ कर नष्ट हो सकेंगे। अलबत्ता वह हलचल, उथल-पुथल और संघर्ष विचारों तक ही सीमित रहना चाहिए। उसने अगर झगड़े का रूप धारण कर लिया तो परिणाम अवाञ्छनीय होता है।

सत्य की उपलब्धि करना ही जिसका लक्ष्य है और सत्य के लिए जो समर्पित है वह झगड़े की स्थिति उत्पन्न नहीं करता। वह जानता है कि विचारों के संघर्ष से ही सत्य का मक्खन हाथ आने वाला है। मगर उस संघर्ष ने अगर झगड़े का रूप ग्रहण कर लिया तो मक्खन के बदले विष ही हाथ लगेगा। अतएव सत्य का अन्वेषक जब संघर्ष आरम्भ करता है तो हँसते-हँसते और संघर्ष का अन्त करता है तो भी हँसते-हँसते।

अगर आप भी इसी मार्ग पर चलते हैं तो आपको भी सत्य की उपलब्धि होगी। कृषि के सम्बन्ध में चर्चा करते-करते आज सातवाँ दिन है। कल उसका उपसंहार कर देने का इरादा था। इन दिनों बहुत-सी बातों पर विचार किया जा चुका है और इस सम्बन्ध के विचारों का बहुत कुछ निचोड़ आपके सामने रख दिया गया है। फिर भी कुछ बातें और कुछ विचार रह ही गये हैं। असल में हमारी बुद्धि सीमित है और इसी कारण किसी विषय पर विचार करते-करते वह थक जाती है और ऐसा लगने लगता है कि बस, विचार हो चुका। अब और क्या शेष रहा है ! किन्तु विचारों का मार्ग असीम है। नये-नये प्रश्न सामने आते हैं और उन पर विचार करना भी आवश्यक होता है। आज कुछ और प्रश्न हमारे सामने आये हैं। सोचता हूँ, उन पर भी चर्चा कर ली जाय।

जो प्रश्न सामने आये हैं, उनके अतिरिक्त भी अगर किसी भाई को कोई बात पूछनी हो, कोई बात नवीन कहनी हो तो वे निस्संकोच भाव से रात्रि के समय या मध्याह्न के समय मुझ से पूछ सकते हैं। मुझे दूसरी कोई दुकानदारी नहीं करनी है। शास्त्रचर्चा करना ही मेरा धन्धा है और यही धन्धा मैं चलाता जा रहा हूँ।

विचारों के सुलझने में बड़ी देर लगती है। आप एक सूत को सुलझाने बैठते हैं और जब वह नहीं सुलझता है तो मन उचट जाता है और झट उसे पटक देते हैं। सोचते हैं-सूत क्या आफत की

यह प्रश्न साधारण खेती के सम्बन्ध में नहीं, कांदे की खेती के सम्बन्ध में है। अतएव यह मान लिया जाना चाहिए कि अनाज की खेती के सम्बन्ध में अब कोई प्रश्न नहीं रह गया है। अनाज की खेती अल्पारंभ है या महारंभ, यह निर्णय कर लिया गया है। पिछले छह दिनों में अन्न की खेती के विषय में मैंने शास्त्रों के अनेक पाठ उपस्थित किये हैं और आचार्यों की परम्पराएं भी आपके सामने रक्खी हैं। आचार्य समन्तभद्र, हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि के कथन भी रक्खे जा चुके हैं। अतएव समझ लेना चाहिए कि अन्न की खेती के सम्बन्ध में विचार निश्चित हो चुका है। वह महारंभ या अनार्य कर्म है, यह गलतफहमी दूर हो चुकी है। और इसीलिए अन्न की खेती के विषय में प्रश्न न होकर कांदे की खेती के विषय में प्रश्न किया गया है।

श्री भगवतीसूत्र, स्थानाङ्गसूत्र और उववाईसूत्र में नरकगति के चार कारण बतलाये गये हैं। उनमें पहला कारण महारंभ है। तो नरकगति का कारण जो महारंभ है उसी को लक्ष्य में रख कर सवाल किया गया है या और किसी अभिप्राय से प्रश्न किया गया है? स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ महारंभ या अनार्य कर्म आया कि आपको नरक की राह ध्यान में रखनी होगी। शास्त्रों में महारंभ का सम्बन्ध नरक के साथ जोड़ा गया है। अनेक जगहों पर शास्त्र में ऐसे उल्लेख मिलते हैं। ऐसी स्थिति में कांदे की अथवा गाजर-मूली आदि

की खेती को आप महारंभ मानते हैं तो उसे नरकगति का कारण भी मानना होगा।

कदाचित् आप कहें कि उसे महारंभ तो मान लें किन्तु नरक-गति का कारण न मानें, तो यह नहीं होने का। मैं कहता हूँ और मैं क्या, शास्त्र कहते हैं कि जो महारंभ है वह नरकगति कारण हुए बिना नहीं रह सकता। महारंभ हो और नरकगति का कारण न हो, ऐसा कोई समझौता नहीं हो सकता। तो आलू आदि जमींकन्दों की खेती क्या नरकगति का कारण है? आप कहेंगे, क्यों नहीं जमींकन्द में अनन्त जीव जो ठहरे।

कल्पना कीजिए, एक आदमी भूख से तड़फ रहा है और उसके प्राण निकलने वाले हैं। वहाँ दूसरा आदमी जा पहुँचता है। उसके पास आलू या गाजर हैं और वह दया से प्रेरित होकर उस भूखे को खाने के लिए दे देता है। भूखा आदमी उसे खाता है और उसके प्राण बच जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि आलू या गाजर देने वाले को एकान्त पाप होता है या कुछ पुण्य भी होता है? आप इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं?

हमारे कुछ पड़ौसियों ने तो निर्णय कर रक्खा है कि दया से प्रेरित होकर भूखे के प्राण बचाने में एकान्त पाप होता है। उनकी किताबों ने और जबान ने एकान्त पाप का फतवा दे रक्खा है। क्योंकि एक तरफ एक जीव था और दूसरी तरफ एक आलू में नहीं, आलू

के एक टुकड़े में भी नहीं, सुई के अग्र भाग पर समा जाने वाले जरा-से आलू के कण में भी अनन्त जीव होते हैं और जब वह खाने के लिए दे दिया जाता है तो उन सब की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार एक जीव को बचाने के लिए अनन्त जीवों की हिंसा की गई है। उनके विचार से अनन्त जीवों की हिंसा तो पाप है ही, उनकी हिंसा करके एक आदमी को बचा लेना भी पाप ही है। और उसकी दया-भावना भी पाप है। इस प्रकार उस भूखे मरते को बचा लेने में एकान्त पाप ही पाप है। परन्तु आपका विचार क्या है? आप मनुष्य के प्राणों की रक्षा करना पाप नहीं मानते और रक्षा करने की-दया की—जो भावना हृदय में उत्पन्न होती है उसे भी पाप नहीं मानते। ऐसी स्थिति में आप उक्त प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं? आपके सामने यह एक विकट प्रश्न है जिसका आपको निर्णय करना है।

सम्भव है आप इस प्रश्न का उत्तर देने में टालमटूल कर जाएँ। ऐसा हुआ तो दूसरी जगह पकड़ में आ जाएँगे। मान लीजिए एक प्यासा आदमी प्यास से मर रहा है और किसी ने उसे पानी पिला दिया। पानी के एक बूंद में असंख्यात जीव हैं और एक गिलास पानी पिला दिया तो क्या हुआ? एकान्त पाप हुआ या पुण्य भी हुआ? पानी पिलाने से बचा तो एक और मरे असंख्यात।

इस प्रश्न का आप यही उत्तर देंगे कि यद्यपि पानी पिलाने से पाप हुआ है किन्तु पुण्य भी हुआ है और वह पुण्य, पाप की अपेक्षा

अधिक हुआ है। ठीक है, जो तथ्य हो उसे स्वीकार करना ही चाहिए।

इस निर्णय से एक बात फलित हुई और वह यह कि जीवों की संख्या के आधार पर पुण्य-पाप का निर्णय नहीं हो सकता। संख्या सही कसौटी नहीं है। इस कसौटी को पानी पिलाने में एकान्त पाप न मान कर हमने अस्वीकार कर दिया है। हमने पुण्य-पाप को परखने के लिए दूसरी कसौटी ले ली है और वह कसौटी है भावना।

असंख्यात एक बहुत बड़ी संख्या है। असंख्यात के अन्तिम अंश में अगर एक और जोड़ दिया जाय तो वह संख्या अनन्त हो जाती है। तो जहाँ बहुत असंख्यात जीव हैं वहाँ अनन्त के लगभग जीव हो जाएँगे। और फिर जहाँ पानी है वहाँ सात बोलों का नियम है। अर्थात् वहाँ सभी दूसरे काम के जीव भी होते हैं। इस दृष्टि से जीवों की संख्या और भी बढ़ जाती है। तो एक गिलास पानी पिलाने से अनन्त के लगभग जीव मरे और बचा सिर्फ एक मनुष्य ही। फिर भी भावना की विशेषता के कारण पानी पिलाने वाले को पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हुआ। जो जीव मरे हैं वे मारने के इरादे से नहीं मारे गये हैं। पानी पिलाने वाले की भावना यह नहीं होती कि पानी के यह जीव मर नहीं रहे हैं तो कोई अतिथि आ जाय और उसे पानी पिलाकर इन्हें मार डालूँ। उसकी दृष्टि यह नहीं है। उसकी एक मात्र भावना पंचेन्द्रिय जीव को मरने से बचाने की है।

सिद्धान्त बतलाता है कि एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय

जीव को मारने से असंख्यात गुना पाप बढ़ जाता है और इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते चौ-इन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय को मारने में असंख्यात गुणा पाप अधिक होता है।

जब तक हम इस दृष्टिबिन्दु पर ध्यान रक्खेंगे तब तक भगवान् महावीर की अहिंसा और दया हमारे ध्यान में रहेगी। अगर हम इस दृष्टिकोण से चूके तो अहिंसा और दया से भी चूक जाएँगे। फिर हमें या तो कोई और दृष्टि पकड़नी पड़ेगी या हस्ती-तापसों की दृष्टि अंगीकार करनी पड़ेगी। हस्ती-तापसों के सम्बन्ध में सामान्य उल्लेख दूसरे प्रवचन में किया जा चुका है। उनका मन्तव्य है कि अनाज के एक-एक दाने में जब एक-एक जीव मौजूद है तो बहुत-से दाने खाने से बहुत जीवों की हिंसा होती है। उससे बचने के लिए एक हाथी जैसे स्थूलकाय जीव को मार लेना अधिक उपयुक्त है कि जिससे एक ही जीव की हिंसा से बहुतों का, या बहुत दिनों तक एक का निर्वाह हो सके।*

भगवान् महावीर ने इस दृष्टिकोण का डट कर विरोध किया था। कारण यही है कि पाप का सम्बन्ध जीवों की गिनती के साथ नहीं, भावना के साथ है। पंचेन्द्रिय जीव का घात करने में कितनी निर्दयता और कितनी क्रूरता होती है। एक गिलास पानी के जीव

---

* हत्थितावसंत्ति ये हस्तिनं मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति।
—औपपातिकसूत्रटीका

भले असंख्य हों, फिर भी पानी पीने वाले और पिलाने वाले में वैसी निर्दय और क्रूर भावना नहीं होती।

इस प्रकार पानी के विषय में जब निर्णय कर लिया तो इसी निर्णय के प्रकाश में अब आज के मूल प्रश्न की जाँच करें।

जिस प्रकार अन्न की हिंसा की अपेक्षा कांदे की या अन्य अनन्तकाय की हिंसा बड़ी है, उसी प्रकार अन्न की खेती की अपेक्षा इस खेती में ज्यादा पाप है, फिर भी वह महारंभ नहीं है। संहार करने के इरादे से, हिंसा के संकल्प से क्रूर भावना से, जिस उद्योग में त्रस जीवों का हनन किया जाता है वही महारंभ की भूमिका में आता है।

जिस देश में अन्न की काफी जरूरत है और जिसे आधे से अधिक अन्न बाहर से, विदेशों से मँगाना पड़ता है, जिस देश के लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया से रोटियाँ आती हैं और उसके बदले में करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति बाहर चली जाती है और उस सम्पत्ति के बदले में सत्त्वहीन, सड़ा-गला और निकम्मा अनाज मिलता है और उस अनाज को बड़ी कठिनाई से पाकर और खाकर लोग तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो रहे हैं और उसके भी अभाव में लाखों आदमी मर गये और अब भी मर रहे हैं, उस देश में कांदे की खेती का प्रश्न पहले विचारणीय नहीं है। वहाँ तो पहले अन्न की समस्या है और उसी पर सर्वप्रथम विचार करना होगा।

किसी के खेत में अन्न नहीं उपजता। ऐसे लोगों में से एक अपने खेत में आलू बो रहा हो और दूसरा तमाखू बो रहा हो तो तमाखू बोने में ज्यादा हिंसा है, क्योंकि तमाखू व्यसन की वस्तु है, जीवन की वस्तु नहीं है। तमाखू जहर पैदा करती है और स्वास्थ्य को नष्ट करने वाली चीज है और उसे पैदा करने वाला केवल अपने स्वार्थ की भावना से ही पैदा करता है। उससे किसी प्रकार के परोपकार की आशा नहीं है, किसी के जीवन-निर्वाह की सम्भावना नहीं है। भूख से मरने वाले को तमाखू खिला कर जीवित नहीं रखा जा सकता। तमाखू खाने से तो मृत्यु कुछ दूर होगी तो और नजदीक आ जायगी।

आलू को या कांदे को व्यसन की वस्तु नहीं बतलाया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आलू-कांदे की खेती में आरम्भ नहीं है। आरम्भ अवश्य है और अन्न की खेती की अपेक्षा विशेष आरंभ है; फिर भी वह महारंभ की भूमिका में नहीं है अर्थात् वह नरक में जाने का मार्ग नहीं है।

एक आदमी के खेत में आलू ही उत्पन्न होते हैं और वह सोचता है कि लोगों को खुराक नहीं मिल रही है तो मैं आलु उत्पन्न करके यथाशक्ति पूर्ति क्यों न करूं? यह सोच कर वह आलू की खेती करता है। दूसरा सोचता है कि तमाखू से दूसरों का स्वास्थ्य नष्ट होता है तो भले हो। मुझसे उनसे क्या मतलब! मुझे तो पैसा

चाहिए। और वह तमाखू की खेती करता है। स्पष्ट है कि आलू की अपेक्षा तमाखू की खेती में अधिक पाप है। इस प्रकार आलू की खेती में अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक पाप है और तमाखू की खेती की अपेक्षा अल्प पाप है। यही अनेकान्तवाद का निर्णय है।

अभिप्राय यह है कि किसी भी कार्य में एकान्त रूप से आरम्भ की अल्पता या अधिकता का निर्णय होना कठिन है। 'अल्प' और 'अधिक' शब्द ही ऐसे सापेक्ष शब्द हैं कि उन्हें दूसरा कोई चाहिए। हिन्दी भाषा में जैसे 'छोटा' और 'बड़ा' शब्द सापेक्ष हैं, दूसरे की अपेक्षा ही कोई छोटा या बड़ा कहलाता है; अपने आपमें कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। यही बात 'अल्प' और 'अधिक' के विषय में भी है। इस बात को ठीक तरह समझने के लिए एक उदाहरण ले लीजिए। किसी ने आपसे प्रश्न किया कि त्रीन्द्रिय जीव की हिंसा में अल्प पाप है या अधिक पाप है? तो आप उसे क्या उत्तर देंगे? कोई भी शास्त्र का ज्ञाता यही कहेगा कि एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय की अपेक्षा अधिक पाप है और चौइन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय की अपेक्षा कम पाप है।

हमारे जो साथी कृषि करने में महारंभ समझते हैं, उनका मन्तव्य अगर पूर्वोक्त अनेकान्तवाद के आधार पर हो तो मतभेद के लिए गुंजाइश ही न रहे। अगर वे यह कहते कि कृषि का कार्य करने में वस्त्रादि के द्वारा आजीविका चलाने की अपेक्षा अधिक आरंभ

है और कत्लखाना चलाने या सट्टा करने की अपेक्षा अल्पारंभ है तो विवाद न रहता। अपेक्षाकृत अधिक आरंभ और अपेक्षाकृत अल्प आरंभ मानने से कौन इन्कार कर सकता है? मगर जब कृषि में महारंभ बतलाया जाता है और वह महारंभ बतलाया जाता है जो नरक-गति का कारण है, तो अनेकान्तवाद का परित्याग कर दिया जाता है और मतभेद खड़ा हो जाता है। उसी महारंभ का मैं निषेध करता हूँ।

२८-६-५०

चौराहे पर

जरा अपने से बाहर इस विराट विश्व की ओर दृष्टि घुमाइए। देखिए, जगत् में कितने बेशुमार जीव-जन्तु भरे पड़े हैं। नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े तो हैं ही, लाखों प्रकार की वनस्पति और दूसरे भी छोटे-मोटे प्राणी असंख्य तरह के आपको नजर आएँगे। उनकी आत्मा में और मनुष्य की आत्मा में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। अन्तर है शरीर का और आत्मिक शक्तियों के विकास का। इसी अन्तर ने मनुष्य में और दूसरे प्राणियों में बड़ा भेद पैदा कर दिया है। इसी कारण शास्त्र मानव-जीवन की महिमा का बखान करते हैं और मानव अपनी स्थिति पर गर्व करता है, अपने को धन्य-धन्य मानता है। पर मनुष्य को यह भी सोचना है कि इस जीवन के लिए उसे कितनी तैयारी करनी पड़ी है? किस प्रकार की साधनाएँ करनी पड़ी हैं?

बड़ी-बड़ी तैयारियाँ और साधनाएँ करने के बाद जो जीवन मिला है, उसकी उपयोगिता क्या है ? क्या यह जीवन भोग-विलास में रचे-पचे रहने के लिए या धनसंचय या इज्जत-प्रतिष्ठा के पीछे-पीछे भटकते-भटकते समाप्त कर देने के लिए है ? क्या इसलिए है कि एक दिन संसार में आए और चले गए ?

जो आया है सो जायगा जरूर। चाहे कोई भिखारी हो, दरिद्र हो अथवा रईस, राजा, सेठ, साहूकार हो। यह आना और जाना अनादि काल से चलता आ रहा है और अब चल रहा है। उसको रोकना आपके वश की बात नहीं है। चक्रवर्त्ती के भी वश की बात नहीं कि इसे बन्द कर ले। स्वर्ग में पहुँच कर और असंख्य देव-देवियों पर हुकूमत चलाने वाला इन्द्र भी इसे रोक नहीं सकता। संसार में कोई ऐसी जगह नहीं कि हम बैठ गये जम कर तो अब नहीं उठेंगे आप यही चाहें कि हम न उठें, किन्तु आपके चाहने की यहाँ कोई कीमत नहीं। आप तो क्या, बड़े-बड़े शक्तिशाली यहाँ आए और चले गए। जिनकी ताकतों ने एक दिन संसार में भूकम्प या भूचाल का झटका पैदा कर दिया था, जिनकी सेनाओं ने हिन्दु-स्तान के कौने-कौने को रौंद डाला था और अपना खजाना भर लिया था, उनकी ताकत भी यहाँ काम न आई। लाखों सेना एक ओर दीन भाव से खड़ी रही और जो बड़े-बड़े मंत्री कहते थे कि बाल की खाल निकाल देंगे और कोई न कोई रास्ता निकालेंगे, मगर समय

पर उनकी विलक्षण बुद्धि भी कुछ काम न दे सकी। देवी-देवता खड़े रहे, उनसे भी कुछ नहीं बना। हम देखते हैं, एक साधारण आदमी संसार से विदा होता है तो लाचार और बेबस होकर जाता है और धनी या सम्राट् भी विदा होते हैं तो लाचार और बेबस होकर ही विदा होते हैं।

यह राह नहीं होती तो दुनिया का फैसला होना मुश्किल हो जाता। यही राह गरीब और अमीर को एक करने वाली है और झोंपड़ियों तथा महलों का भी एक जैसा फैसला कर देती है। दुनियाँ में और कितनी ही राह क्यों न हो, पर श्मशान की राह एक ही है, जिस पर सब को चलना है और जहाँ भिखारी से लेकर सम्राट् तक को जल कर मिट्टी में मिल जाना है। यहाँ दो राहें नहीं बनती हैं, दो रास्ते नहीं बनते हैं। एक ही राह है और उसी में से सब को गुज़रना है।

हम देखते हैं कि इन्सान की ज़िन्दगी में, अभिमान, प्रतिष्ठा, इज्ज़त, सब यहीं समाप्त हो जाते हैं। आगे क्या लेकर जाता है? महल, सोना-चाँदी, जेवर वगैरह सब यहीं रह जाते हैं। समाज और राष्ट्र भी यहीं छूट जाते हैं।

मानव-जीवन की सब से बड़ी जो विशेषता है सो यही कि मनुष्य सोच सकता है कि उसे यहाँ से क्या ले जाना है या खाली हाथ लौट जाना है?

भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में एक सुन्दर रूपक उदाहरण कहा है और उसके सहारे एक बहुत बड़ा सत्य उतारा है। और कहना चाहिए कि एक धागे के सहारे करोड़ों मन बोझ उतार दिया है। एक छोटा-सा दृष्टान्त है, किन्तु उसके पीछे एक बहुत बड़ी सचाई, जीवन का महत्त्वपूर्ण अध्याय छिपा पड़ा है। उत्तराध्ययन में आता है:—

जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोत्थ लहइ लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥
एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥

भगवान् महावीर के समय में वणिकों का जिक्र चला है और आज २५०० वर्ष बाद भी वही सामने बैठे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार वर्ण हैं। उनमें से वैश्य ही वाणिज्य-व्यवसाय करते हैं और उनकी ही बात यहाँ चलती है।

इन्सान की जिन्दगी में व्यापार तो चलता ही रहता है। जिसने दुनिया की इस मंडी में व्यापार नहीं किया उसने क्या किया?

एक सेठ के तीन पुत्र थे। तीनों बुद्धिमान् और विचारशील थे पर घर में पड़े रहते थे, अतः उनकी बुद्धि को परखने का मौका नहीं मिलता था। उनके विचारों को, चारित्र को और व्यक्तित्व को ठीक तरह पनपने का भी मौका नहीं मिलता था।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जो बड़े होते हैं, ऊँचे होते हैं, उनके सामने छोटे और नीचे पनपने नहीं पाते। कभी-कभी पिता अपने सिर पर ही सब कामों का भार ओढ़े रहता है और पुत्रों को किसी काम को स्वाधीनता के साथ करने का मौका नहीं देता। बात-बात में वह कहता है—इस काम को ऐसे नहीं, ऐसे करो, यों नहीं त्यों करो। वहाँ लड़कों को अपनी बुद्धि को जाँचने का मौका नहीं मिलता और वे बराबर सलाह लेने के आदी हो जाते हैं। फिर वे हर एक कार्य के लिए पूछते रहते हैं कि क्या करूं, कैसे करूँ? उनकी स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की बुद्धि कुंठित हो जाती है और फिर जीवन के अन्तिम क्षणों तक उनकी यही प्रवृत्ति बनी रहती है।

किसी बड़े वृक्ष के आसपास कोई पौधा लगा दिया जाता है तो वह वृक्ष उसे पनपते नहीं होने देता। इसका अर्थ यह नहीं कि पिता, पुत्र की बुद्धि को विकसित नहीं देना चाहता। वह चाहे भले ही, पर स्नेह-शासन की गलत पद्धति के कारण वैसा हो नहीं पाता। पुत्र, पिता की सहायता का आदी हो जाता है और वह स्वतन्त्र रूप से अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाता।

हाँ, तो वह सेठ बड़ा बुद्धिमान् था। उसने सोचा—देखना चाहिए, कौन लड़का कैसा है और आगे चल कर मेरे वंश की जवाबदारी को कौन कितना निभा सकता है? कौन मेरे कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ा सकता है? मैं दुनिया भर की परीक्षा करता हूँ तो लड़कों की

परीक्षा भी क्यों न करूँ ?

सेठ ने एक दिन तीनों लड़कों को बुलाया और कहा—तुम सब समझदार और योग्य हो गये हो। संसार के मैदान में काम कर सकते हो। जो कुछ मैं करता हूँ वह तो तुम्हारा ही है। मुझे कहीं ले जाना नहीं है। किन्तु तुम मुझे यह ढाढस बँधा दो कि तुम मेरे पीछे मेरी जिम्मेदारियों को पूरा कर लोगे।

लड़कों ने कहा—पिताजी, क्या करें ?

और 'क्या करें' इसी सवाल को हल करने के लिए तो पिता ने उन्हें बुलाया था। कमाने के लिए वह अपने लड़कों को बाहर नहीं भटकाना चाहता था। उसके पास सभी कुछ था। मगर 'क्या करें' यह जो वृत्ति बन जाती है और यही प्रश्न मन में पैदा हो-होकर रह जाता है, इसी का उसे समाधान करना था।

सेठ ने कहा—करना क्या है ? चले जाओ। नाव को समुद्र में बहने दो और लंगर खोल दो, डांड़ तुम्हारे हाथ में है। जीवन का यही अर्थ है कि किस पुरुषार्थ से तुम उसे ले जाते हो ! जिस नाव में बैठे हो, उसका लंगर अगर नहीं खोला है तो उसके चलाने का कोई अर्थ नहीं। खोल दिया जाय जीवन का लंगर और छोड़ दिया लहरों पर, जब जीवन-नौका लहरों पर थपेड़े खाएगी और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होंगे तब पता चलेगा कि तुम्हारे अन्दर कैसी योग्यता है। तूफान आया है समुद्र में तो कैसे ले जाएँ, और कहाँ

मन्द गति और कहाँ तीव्र गति दी जाय, आदि-आदि योग्यता हो तो जीवन मिलना सच्चा समझो।

पिता की बात सुनकर पुत्रों ने कहा—बात ठीक है। आपका विचार सही है। हम अपनी योग्यता की जाँच करेंगे।

अब उनको पूंजी दे दी गई। टीकाकार कहते हैं कि एक-एक लाख रुपया तीनों को दे दिया गया। उनसे कह दिया गया—तीनों पुत्र तीन दिशाओं में अलग-अलग जाएँ। दिशा मर्जी से निश्चित कर सकते हैं।

तीनों ने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न देशों में जाकर बड़ी-बड़ी पेढ़ियाँ कायम कर लीं।

उनमें एक बड़ा चतुर और बुद्धिमान् था। उसने अपनी पूंजी ऐसे व्यवसाय में लगाई कि वारे-न्यारे होने लगे। दिन दूना रात चौगुना द्रव्य बढ़ने लगा। वह बड़ा सच्चरित्र था। जैसे-जैसे लक्ष्मी आती गई, वह नम्र होता गया। उसने आसपास के व्यापारियों में अपनी पैठ जमा ली। जहाँ रहा, बेगाना बन कर नहीं रहा। ऐसे रहा मानो उन्हीं के घर का आदमी हो और किसी को लूटने नहीं आया किन्तु दूसरों का भी संरक्षण करने आया है। इस तरह उसने प्रतिष्ठा जमा ली। उसके पास लक्ष्मी खूब आई पर लक्ष्मी का नशा जरा-सा भी नहीं आया। वह दुश्चरित्र नहीं बना।

मजा तो यह है कि समुद्र में डुबकी तो लगाए किन्तु सूखा

निकल आए। कोई किनारे पर बैठा रहे और कहे कि मैं सूखा हूँ, भीगा नहीं, तो ऐसे सूखेपन का कोई मूल्य नहीं। समुद्र या गङ्गा में गोता लगा दे और सूखा वापिस निकल आए और भींगे नहीं तब कहा जा सकता है कि वास्तव में जादू है, चमत्कार है। इसी प्रकार अगर कोई धन की डोंगी में बैठ कर सच्चरित्र बन जाय, उसे नशा न चढ़े तब हम कहेंगे कि गोता लगाया फिर भी सूखा आया। जब चारों ओर लक्ष्मी की झनकार हो रही हो और लक्ष्मी का नशा ठोकर न लगने दे और वासना के पानी से बिना भींगे बाहर आ जाय तो कह सकते हैं कि यह कला है। आनन्द श्रावक समुद्र में गोते लगाये था, फिर भी सूखा था। महावीर के भक्त राजा चेटक आदि सब समुद्र में गोते लगाये हुए थे किन्तु सूखे थे। भरत चक्रवर्ती भी समुद्र में गोते लगा कर भी सूखे ही रहे थे।

न लिप्पए भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासो।

और—

जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।

अगर तुम्हें जीवन की कला सीखनी है तो कमल से सीखो। जीवन को रखने की महत्त्वपूर्ण कला जल में खड़े कमल से ही सीखी जा सकती है। कमल कीचड़ में पैदा होता है, पत्थर की चट्टान, रेत या टीले पर नहीं। वह गहरे तालाबों में जन्म लेता है। फिर भी वह पानी से नहीं भींगता, क्योंकि वह पानी के ऊपर रहता है। कमल

पर ऊपर से पानी ढोला जायगा या वर्षा का पानी पड़ेगा तो भी उसमें ऐसी चिकनाहट होती है कि वह पानी वह जायगा और वह सूखा का सूखा रहेगा । तो जैसे कमल पानी में पैदा होता है फिर भी पानी से अलग रहता है, इसी प्रकार जीवन का आदर्श होना चाहिए।

कमल पानी में भीगने के भय से बाहर नहीं भागता। भागे तो वह जिन्दा नहीं रह सकता। तो फिर तुम कैसे संसार से बाहर भाग सकते हो ? और भाग कर जाओगे कहाँ ? इस विश्व से बाहर कहाँ तुम्हारा ठिकाना है ? कहीं भी जाओ, हवा तो संसार की ही है। इसलिए यह विचार छोड़ो और संसार में रहते हुए ही, कमल की भाँति अलिप्त रहने की साधना करो। इसके सिवाय और चारा नहीं है।

साधु गोचरी के लिए जाय और वहाँ उसका मन डगमगाने लगे तो कैसे चलेगा ? आखिर उसे भी यह कला सीखनी पड़ेगी। संसार है, दुनिया है, वस्त्र-पात्र भी लेना है, झौंपड़ियों और महलों में भी जाना है। आँख बन्द करके नहीं रह सकते, नाक बन्द करके नहीं रह सकते। सब इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती ही रहेंगी। फिर साधु ऐसी कला सीखते हैं कि खाते, पीते, सुनते और देखते हुए भी वासना के कीचड़ में नहीं फँसते। वे निन्दा भी सुनते हैं, स्तुति भी सुनते हैं, अच्छा या बुरा, जैसा भी रूप आँखों के सामने से गुजरता है, उसे देखते हैं, फिर भी वे वासना के कीचड़ में नहीं

फँसते, उससे ऊपर ही रहते हैं।

कमल की वही बात आपको भी सीखनी है। भागोगे तो कब तक भागोगे? भगवान् महावीर का सिद्धान्त है कि जिस किसी स्थिति में रहो, किन्तु यह कला सीख लो कि कमल जल में रहता है और रह कर भी सूखा रहता है। यह दृष्टि जीवन में मिल गई तो समझ लो कि जीवन की कला मिल गई। जिसे जीवन की यह मंगलमयी कला मिल गई वह साधक कितना ऊँचा उठ जाता है?

हाँ, तो उस सेठ के लड़के ने लाखों-करोड़ों कमाये। वह काम करता रहा और सदाचारी रहा। कमा कर घर लौटा। तब सवारी आई नगर के बाहर उसे लेने को और नगर के लोग भी उसके स्वागत के लिए उमड़ पड़े। सेठ भी अपने परिवार के साथ उछलते दिल से लपका। बड़े सन्मान के साथ, इज्जत के साथ और गाजे-बाजे के साथ उसने नगर में प्रवेश किया। उसको तो हर्ष था ही, हर नगर निवासी भी हर्षित हो रहा था।

दूसरा जो लड़का गया था, इसने भी पूंजी लगाई। किन्तु वह अपनी बुद्धि, प्रतिभा का अच्छी तरह उपयोग न कर सका। उसने कुछ पाया नहीं तो खोया भी नहीं। बाप की दी हुई पूँजी को बराबर बनाए रक्खा। उसने सोचा—पूँजी में बढ़ोतरी नहीं होती है तो अब घर चलना चाहिए। घर पहुँचने पर उसका उतना स्वागत नहीं हुआ तो अनादर भी नहीं हुआ। पिता ने कहा—कोई बात

नहीं। तुम जैसे गये थे वैसे ही लौट आये, कुछ गँवा कर नहीं आये तो यह भी कमाई है। कुछ न खोना कमाने के बराबर है।

सेठ का तीसरा लड़का लक्ष्मी की गर्मी में और नशे में पागल हो गया। वह दुराचार में फँस गया। उसने सारी पूँजी भोग-विलास और ऐश आराम में उड़ा दी। जब सर्वस्व लुटा चुका तो खाने को महाल हो गया। उसने घर लौटने की सोची तो कपड़ों की जगह चीथड़े पहिने हुए, प्रसन्नता की जगह आँसू बहाता हुआ और खाने के नाम पर भीख माँगता-खाता आया। जब गाँव में आया तो भी सूचना नहीं भेजी और बीच बाजार से न होकर अन्धेरी गली में से आया। उसने कपड़ा मुँह पर ढँक लिया कि कोई पहचान न सके। आखिरकार घर आकर रो पड़ा। घर वालों ने कहा-हाय, तू मूल पूँजी भी गँवा कर आया है?

तो यह संसार जीवन की एक मंडी है। हम मानवगति रूप गाँव में पहुँच गये हैं और यहाँ बाजार में एक नुक्कड़ मिल गया है व्यापार करने के लिए। जो पहले नम्बर का व्यापारी निकलेगा वह यहाँ पर भी और वहाँ पर भी अर्थात् लोक और परलोक दोनों जगह आनन्द पाएगा। जब लौटेगा तो पहले से उसके स्वागत की तैयारियाँ होंगी। जब यहाँ रहेगा तब यहाँ भी जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश देगा और जहाँ कहीं जाएगा, वही सन्देश देगा। उसके लिए सर्वत्र आनन्द-मंगल और जय-जयकार होंगे। वह स्वर्गीय जीवन का

अधिकारी है।

जो मूल पूँजी लेकर आया है, अर्थात् जिसने यह इन्सानी जिन्दगी पाई है और जो आगे भी इन्सानी जिन्दगी पाएगा, उसके लिए कह सकते हैं कि गँवाया नहीं।

मगर आया इन्सान बन कर और लौटा कूकर-सूकर बन कर तो फिर क्या हुआ? यहाँ पचास वर्ष सौ वर्ष, या हजार वर्ष रहा और लौटा तो कीड़ा-मकोड़ा बना, गधा-घोड़ा बना या नरक का मेहमान बना तो वह हारा हुआ व्यापारी है। वह, वह व्यापारी है जिसने अपने जीवन के लक्ष्य का अच्छी तरह निर्णय नहीं किया है।

हाँ, तो भारतीय चिन्तन की गूढ भाषा में भावार्थ यह है कि इन्सान की जिन्दगी बड़ी ऊँची जिन्दगी है। अतः जो करना है, करने योग्य है, वह सब यहाँ ही कर लेना चाहिए। ऐसा न किया तो फिर कब होगा?

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

—केनोपनिषद्

यहाँ का नाश सबसे बड़ा नाश है। यहाँ की हार सबमें बड़ी हार है। यहाँ यदि अच्छी बातें न हुईं तो यहाँ सर्वत्र सबसे बड़ा अनादर है, अपमान है।

मानव-जीवन चौराहे पर खड़ा है। एक रास्ता स्वर्ग एवं मोक्ष को, एक नरक को, एक पशु-पक्षी की योनि को और एक मनुष्यगति

को जाता है। अब यह तय करना है कि किधर चलना है? चारों तरफ के दरवाजे खुले पड़े हैं। चारों ओर सड़कें चल रही हैं। एक ओर प्रकाश चमक रहा है तो दूसरी ओर अन्धकार घिर रहा है। अब, विचार ले, तू अपनी जिन्दगी को किधर ले जाना चाहता है! अगर तू सत्य, अहिंसा और दया-दान के रास्ते पर चलेगा तो यहाँ भी आनन्द-मंगल होगा और जहाँ कहीं जायगा, वहाँ के जन-संसार को भी मौत नहीं, जिन्दगी देगा। यह प्रकाश का मार्ग है। वह प्रकाश जो कभी धुँधला नहीं पड़ता, अन्धकार से नहीं घिरता।

भगवान् महावीर ने कहा है कि–हृदय में जब धर्म का आचरण करने की भावना उत्पन्न हो और संकल्प पक्का हो तो फिर टालमटोल करने की क्या आवश्यकता है? 'मा पडिबंधं करेह' देरी मत करो। भूखे को जब भूख के समय भोजन मिल जाय तो भूखा क्या इन्तजार करेगा? नहीं, उसी वक्त खाएगा, दौड़कर खाएगा। हाँ तो जब आध्यात्मिक भूख लगी हो, जीवन निर्माण की सच्ची भूख लगी हो तो उस समय जो जीवन का महत्त्वपूर्ण मार्ग है, सच्चाई का मार्ग है, समाज राष्ट्र के हित का मार्ग है, उस पर चल पड़ो। इन्तजार मत करो। इस रूप में तत्क्षणकारिता ही जीवन निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है, जो हमारे सामने है। पर लोग अकसर कहा करते हैं, अभी अवकाश नहीं है। यह क्या है? हृदय की इस दुर्बलता को जितना जल्दी हो झटपट दूर कर

देना चाहिए और जो कुछ सत्कर्म करना हो, वह यथाशीघ्र कर गुज़रना चाहिए।

२-१-५०
२९ ५०